19वीं सदी के गुजराती और हिंदी साहित्य में भारतीय चेतना

प्रो. आलोक कुमार गुप्त

Prof. Alok Kumar Gupta

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
© Indian Institute of Advanced Study, Shimla

प्रथम संस्करण, 2025
First Edition, 2025

सर्वाधिकार सुरक्षित।
प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में या माध्यम से पुस्तक का कोई भी भाग पुनः प्रस्तुत या प्रसारित नहीं किया जा सकता है।
All rights reserved.
No part of book may be reproduced or transmitted, in any form or by any means, without the written permission of the publisher.

ISBN: 978-81-978281-3-3

मूल्य | Price : 570/-

सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005 द्वारा प्रकाशित

Published by
The Secretary
Indian Institute of Advanced Study
Rashtrapati Nivas, Shimla-171005

मुद्रक : एक्सेल प्रिंटिंग यूनिवर्स, नई दिल्ली
Printed at Excel Printing Universe, New Delhi

टाइपसेट : ऊषा कश्यप, नई दिल्ली
Typeset by : Usha Kashyap, New Delhi

प्रस्ताविक

19 वीं सदी के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने भारतीय प्रबुद्ध वर्ग को तो प्रभावित किया ही, भारतीय समाज की आंतरिक व्यवस्था में भी परिवर्तन की सुगबुगाहट जगा दी थी। अंग्रेजी शासन में, भारतीय समाज नए-पुराने के द्वंद्व के बीच, सामाजिक कुरीतियों के बारे में अधिक सचेत हो रहा था। ईसाई मिशनरियों ने भारतीय धर्म-दर्शनों पर प्रश्न उठाए, तो परवर्ती प्राच्यविद्याविदों ने ईसाई और हिंदू धर्म के बीच साम्य खोजने का प्रयास किया। अलेक्जेंडर डफ और अल्ब्रेख्त वेबर की परस्पर विरोधी स्थापनाओं में समय का लंबा अंतराल नहीं है। आंतरिक रूप से ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज ने धर्म क्षेत्र में समाहित पाखंड और विसंगतियों पर तीखी टिप्पणी करके विवेक दृष्टि विकसित करने में सकारात्मक कार्य किया। इस दौर में अधिकतर भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य में कुछ अंतराल से इसकी गहरी अनुगूँज सुनाई देती है। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, केरल और पश्चिमोत्तर प्रांत के साहित्यकार-पत्रकार युगीन चुनौतियों से जूझते हुए रचनारत थे। पत्रकारिता और साहित्य (अधिकतर साहित्यकार पत्रकार रहे) का मिला-जुला रूप अस्तित्व में आया और उसमें अपने समय के प्रश्नों की धमक है। यह साहित्यकार अपने-अपने ढंग से गंभीरता से अपने दायित्व का निर्वहन करते हुए समाज का दिशा-निर्देश कर रहे थे। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा 'कास्ट डिसेबिलिटी रिमूवल एक्ट 1850' लागू होने से जातिगत श्रेष्ठता का अधिकार प्रभावित हुआ। इसने भारतीय समाज के पारंपरिक ढाँचे और भद्र वर्ग के अधिकार को सीमित करके लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए पहल की और धार्मिक परंपराओं के नाम पर चल रही कुप्रथाओं पर अंकुश लगाने का भी प्रयास किया। सुधारवादियों और परंपरावादियों के बीच के संघर्ष की यह पृष्ठभूमि है, जिसमें नई शिक्षा का भी प्रदान है।

यह कार्य 19वीं सदी के गुजराती और हिंदी साहित्य से संबंधित है। यहाँ

एक स्पष्टता भी आवश्यक है कि यह तुलनात्मक अध्ययन नहीं है, क्योंकि वह एक अलग अनुशासन होता है। गुजरात पिछले पाँच दशक से मेरी कर्मभूमि रहा है । यहाँ के साहित्य और समाज का अध्ययन-अनुशीलन करते हुए मैंने गुजराती पढ़ना-लिखना सीखा। गुजराती साहित्यकारों की रचनाओं को मूल गुजराती में अध्ययन करने का अवसर मिला और यह बोध हुआ कि भारतीय साहित्य के अध्येताओं (विशेष रूप से 19वीं सदी के गुजराती साहित्य के बारे में) को सीमित सामग्री उपलब्ध हो पाई होगी। श्री सुधीर चंद्र के ग्रंथ 'दि अप्रेसिव प्रिजेंट' में गुजराती साहित्य से संबंधित कई तथ्यात्मक भूले हैं। श्री के. एन. पणिक्कर के ग्रंथों में तो उत्तर भारत एवं गुजरात के औपनिवेशिक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन का लगभग उल्लेख नहीं है, जबकि 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का केंद्र उत्तर भारत था और 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय चेतना के विकास में इसके प्रदान को भुलाना कार्य की सीमा बन जाती है।

मेरे शोध कार्य में केंद्रीयता इस तथ्य की है कि इस समय के साहित्यकारों ने धार्मिक पाखंड और सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया लेकिन सभी साहित्यकार (विशेष रूप से गुजराती और हिंदी के) धर्म का विरोध नहीं करते बल्कि उसे ही 'उन्नति का मूल' मानते हैं। यह केंद्रीय भाव अंत: सूत्र के रूप में गुजराती एवं हिंदी साहित्य में विद्यमान है। यह तथ्य भी उभर कर आया कि धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति-परिस्थितियों पर मुखर प्रतिक्रिया न देने वाले लेखक अपने साहित्य में इन पर तीखी प्रतिक्रिया एवं टिप्पणी करते हैं। चाहे वे गुजराती के नर्मदाशंकर और नवलराम हों या हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र और बालकृष्ण भट्ट आदि हों। धार्मिक आस्था और पश्चिमी प्रभाव जिसे व्यापक अर्थ में 'आधुनिकता' कहा जा सकता है, के बीच द्वंद्व के बावजूद भारतीय मूल्यों में उनकी जड़ें गहरी थीं।

यह शोध कार्य पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। अध्याय-एक में 19वीं सदी की ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। यहाँ मुख्य तथ्यों और स्थापनाओं को ही रेखांकित किया गया है। इनमें विद्वानों के मतभेदों को शामिल नहीं किया है। इस शोध से इनका सीधा संबंध नहीं है और साहित्य का अध्येता होने के कारण मेरी अपनी भी सीमाएँ हैं। राजनैतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन अपने में स्वतंत्र और गंभीर विषय है। इस अध्याय में सामग्री संचयन में मैंने द्वितीय स्रोतों (सोर्स) का ही उपयोग किया

है। इस पृष्ठभूमि का अनुशीलन करते हुए भारतीयता के स्वरूप को रेखांकित किया गया है। द्वितीय अध्याय 'धर्म और धार्मिकता' है। चूँकि गुजराती साहित्य का लेखन पहले हुआ था, नर्मद के 'मंडली मलवाथी थता लाभ' निबन्ध 1851 ईस्वी (सभी स्थानों पर ईस्वी सन का प्रयोग किया गया है) में प्रकाशित हुआ था और गुजराती साहित्य में यह ऐतिहासिक महत्त्व रखता है-इसलिए इस शोध कार्य में प्रथम गुजराती साहित्य और फिर हिंदी साहित्य का अध्ययन, अनुशीलन है। दोनों भाषाओं के साहित्यकारों के ग्रहण और प्रतिक्रिया में अंतर है जिसे प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण से जाना जा सकता है, यहाँ उसी रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए पूर्व नर्मद (उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में विचारों में परिवर्तन आया था) ने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के सुधार के बारे में विस्तार से लिखा है। वे धार्मिक पाखंडों पर तीखा आक्रमण करते हैं। लेकिन उत्तर नर्मद सुधारकों की सीमाओं को उद्घाटित करते हैं और प्रकट रूप में सनातन धर्म की ओर उन्मुख होते हैं। अनुशीलन से यह तथ्य भी सामने आया कि धार्मिक प्रश्नों के विश्लेषण में यह परिवर्तन विशेष परिलक्षित नहीं होता। इसी तरह हिंदी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट आदि साहित्यकार धार्मिक संस्थाओं से संबद्ध रहते हुए धार्मिक आचार-विचारों, पवित्र मास, स्नान एवं व्रत के महात्म्य पर लिखते हैं, साथ ही धार्मिक क्षेत्र के पाखंडों पर प्रारंभ से ही कटु प्रहार करते हैं। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा, वसुधा डालमिया और वीरभारत तलवार की स्थापनाएँ कहीं-कहीं एक दूसरे के विपरीत हैं, मैं इनका किंचित उपयोग ही कर पाया हूँ। इन अध्ययनों के समय तक हिंदी के इन प्रतिनिधि साहित्यकारों का समग्र साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ था; अभी भी पूर्ण प्रकाशित नहीं है) इन अध्येताओं ने अपने ग्रंथों में जिन पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की सामग्री को आधार बनाया है उनमें से कई साहित्यकारों की ग्रंथावली, रचनावली के प्रकाशन के बावजूद सब कुछ प्रकाशित नहीं हो पाया। मैं बनारस और इलाहाबाद की संस्थाओं, ग्रंथालयों में उस सामग्री तक पहुँचने में असमर्थ रहा। इसलिए आवश्यक था, वहाँ इन अध्येताओं के उद्धरणों की सहायता ली है।

अध्याय तीन समाज सुधार है। 19 वीं सदी के पत्र-पत्रिकाएँ और साहित्य, समाज को तथाकथित कुरीतियों के बारे में सजग करते हुए संस्कारित कर रहे थे। बाल विवाह और विधवा समस्या इस समय के सुधारकों और साहित्यकारों के लिए केंद्रीय विषय थे। जात-पाँत के बंधन, देशाटन निषेध जैसे प्रश्नों पर

भी इन्होंने तीखी प्रतिक्रियाएँ दी हैं। जबकि न तो इन लेखकों को समाज के संपन्न वर्ग या राजे–महाराजे अथवा राजतंत्र का समर्थन था क्योंकि कई समस्याओं पर वे इनके विरोध में लिख रहे थे। अध्याय चार स्वत्व की पहचान और शिक्षा तथा पाँच अध्याय देश की भावना से संबंधित है। 1857 के स्वाधीनता संग्राम के असफल होने पर भारतीय मनो–रचना में पराधीनता का बोध गहराता गया। बाद में राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए चाहे संगठित प्रयास नहीं हुए लेकिन स्वतंत्रता की आकांक्षा बलवती होती गई थी। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट (1878), शस्त्र अधिनियम (1878), इल्बर्ट बिल विवाद (1881), शिक्षा का हंटर आयोग (1882), फ्री ट्रेड, विविध नए टैक्सों के लगाने से भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग भी अंग्रेज प्रशासन के विरोध में आने लगा था। सुरेंद्रनाथ बनर्जी को कोर्ट की अवमानना में हुई सजा का सर्वत्र विरोध हुआ। फिर उन्होंने इंडियन सिविल सर्विस के केंद्र भारत में रखने और परीक्षा प्रवेश के लिए आयु सीमा कम करने का तीव्र विरोध किया और भारत में आंदोलन को तेज करने के लिए यात्राएं कीं। राष्ट्रवाद का उन्मेष इनकी संस्लिष्ट अभिव्यक्ति है। इस समय के साहित्य में देश प्रीति और देशोन्नति का अधिकता से उल्लेख होने लगा था। भारतीय साहित्य में यह चेतना परिपक्व होती प्रतीत होती है।

19वीं सदी के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में वाद–विवाद, नए–पुराने के संघर्ष के तथ्य उस समय के पत्र–पत्रिकाओं में प्रकट हुए थे। विडंबना यह है कि पिछले दशकों में इतनी डिबेट हुई, पिछले 40–50 वर्ष इनकी महत्ता को समझने–समझाने में निकल गए; लेकिन वह अमूल्य सामग्री अभी तक प्रकट नहीं हो पाई। या तो वह नष्ट हो गई या व्यक्तिगत स्वार्थ एवं अहंकार के अंधेरे गुम हो गई है। यदि उस समय की बहसों और प्रतिक्रियाओं का कालक्रम में क्रमबद्ध प्रकाशन हो जाता तो कई निरर्थक वाद–विवाद अर्थहीन हो जाते। स्थिति यह है कि बहुत कम सामग्री कालक्रम के साथ प्रकाशित हुई है। इस कारण किसी महत्त्वपूर्ण साहित्यकार के क्रमिक विकास पर धारणा बनाना कठिन है। इन अध्ययनों में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति अधिक स्थान घेरती दिखाई देती है। मैंने उपलब्ध सामग्री को आधार बनाकर संबंधित मुद्दों के स्पष्टीकरण के लिए रचनाओं को केंद्र में रखा है और पर्याप्त उद्धरण दिए हैं। कहीं–कहीं उद्धरणों की अधिकता और विश्लेषण की कमी लग सकती है परंतु अपनी बात स्पष्ट करने के लिए यह मुझे आवश्यक लगा है।

इस शोध कार्य में गुजराती के नर्मद (1833–1886), करसनदास मूलजी (1832–1871), नवलराम (1836–1888), मणिलाल नभूभाई द्विवेदी (18–18) गोवर्धनराम त्रिपाठी (1855–1907) के उपन्यास सरस्वतीचंद्र एवं हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850–1885), बालकृष्ण भट्ट (1844–1914) प्रतापनारायण मिश्र (1856–1894) एवं राधाचरण गोस्वामी (1859–1925) के साहित्य को ही विशेष रूप से अध्ययन का आधार बनाया है। अन्य महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों को समय और स्वयं की मर्यादा के कारण समाहित नहीं कर पाया हूँ। हाँ, कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का यथायोग्य समावेश अवश्य किया है। यह कार्य भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में अध्येता के रूप में पूर्ण की शोध परियोजना के अंतर्गत हुआ है। संस्थान प्रशासन माननीय अध्यक्ष, उपाध्यक्ष जी, निदेशक जी एवं सचिव महोदय के आत्मीय व्यवहार ने इस कार्य में प्रमुख संबल प्रदान किया, सभी को वंदन करता हूँ। संस्थान के समृद्ध पुस्तकालय का उपयोग करने की लालसा अभी भी है। ग्रंथपाल श्री प्रेमचंद्र जी के आत्मीय व्यवहार ने कार्य को सुगम बनाया। संस्थान के कर्मचारियों का स्नेहिल स्वभाव एवं सहयोग की प्रकृति की सुंदर स्मृतियों की पूँजी साथ रहेगी।

प्रो. आलोक कुमार गुप्त
अध्येता

अनुक्रमणिका

प्रस्ताविक iii
अनुक्रमणिका

अध्याय- एक
ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और भारतीय चेतना का स्वरूप 11

क- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 11
- मुगल साम्राज्य का अंत
- मराठा राज्य की सत्ता और संघर्ष
- ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासन
- 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम
- नवजागरण

ख- सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि 30
- शिक्षित समुदाय और ब्रिटिश शासन
- सामाजिक सुधार
- देशज भाषाओं में शिक्षा और नई शिक्षा
- गुजराती एवं हिंदी साहित्य
- धार्मिक आंदोलन
  - स्वामीनारायण संप्रदाय
  - ब्रह्म समाज
  - प्रार्थना समाज

- ○ आर्य समाज
- ○ सर सैयद अहमद, उलेमा और देवबंद आंदोलन
- ○ थियोसोफीकल सोसाइटी
- ○ रामकृष्ण मिशन
- ■ भारतीय चेतना का स्वरूप

अध्याय- दो
धर्म और धार्मिकता 70

अध्याय- तीन
समाज सुधार 117

अध्याय- चार
स्वत्व की पहचान और शिक्षा 163

अध्याय- पाँच
देश की भावना 214

उपसंहार 231

परिशिष्ट
ग्रंथ सूची 239

अध्याय- एक

19वीं सदी की ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और भारतीय चेतना का स्वरूप

ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज को प्रभावित और परिवर्तित किया है। विविध अध्येताओं ने अपने–अपने दृष्टिकोण से इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किए हैं। इन प्रभावों और परिवर्तनों पर गहन विवाद हुए हैं। ब्रिटिश शासन की राजनैतिक और आर्थिक उपव्यवस्थाओं से आए परिवर्तनों ने भारतीय समाज के मूलभूत मूल्यों, समाज व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को प्रभावित किया। नई शिक्षा ने परंपरित समाज और शिक्षित हो रहे वर्ग के बीच द्वंद्व को जन्म दिया। मुस्लिम समुदाय मुगल शासन की स्मृतियों में डूबा होने के कारण प्रारंभ में अंग्रेजों के प्रति निष्क्रिय रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी और मिशनरियों ने अपने व्यवसाय और धर्म के प्रचार के लिए प्रारंभ में अंग्रेजी स्कूल प्रारंभ किए थे। कंपनी सरकार और रानी विक्टोरिया की सरकार के कार्य व्यवहार, कानून आदि के कारण राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन परिलक्षित होते हैं।

(क) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मुगल साम्राज्य का अंत

19वीं सदी के पूर्व का भारत मुगलों, राजपूतों, मराठों, सिखों और विदेशी सौदागरों के संघर्ष, अहंकार और कूटनीति से सत्ता प्राप्त करने और उसका विस्तार करके अधिक शक्तिशाली बनने और पराजित होने की घटनाओं से भरा है। 1526 ई. को बाबर ने पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्त की, उससे लेकर 1857

में बहादुरशाह जफर के रंगून में देश निकाला तक को मुगल शासन काल से संबोधित किया जाता है। यद्यपि छत्रपति शिवाजी और उनके अनुगामी मराठों का तथाकथित 'हिंदवी स्वराज्य' एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम है, साथ ही डच, फ्रांसीसी, पुर्तगालियों और अंग्रेज सौदागरों के आगमन और व्यापार 17वीं शताब्दी से प्रारंभ हो गए थे, शाहजहाँ के समय में ही इनको व्यापार करने की अनुमति मिल गई थी। डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारी सूरत आए थे। मुगलों के शासनकाल में बाबर, हुमायूँ और अकबर जैसे मुगल शासकों ने अतिशय परिश्रम, प्रशासनिक कौशल एवं शक्तिशाली सैन्य बल द्वारा मुगल साम्राज्य स्थापित किया। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता एवं उदार नीति से हिंदू प्रजा में भी विशेष असंतोष नहीं उभरा; लेकिन उनके उत्तराधिकारी ऐसे औदार्य को नहीं अपना सके। धर्मांधता, स्वार्थ और विलासिता में रचे-पचे रहने और सैन्य बल पर आधारित रहने के कारण प्रशासनिक तंत्र में भी शिथिलता आ गई थी, इससे प्रजा में भी विक्षोभ और असंतोष बढ़ता गया। अधीन राजा, मराठों, सामंतों और नवाबों में भी विद्रोह और संघर्ष के अंकुर फूटने लगे थे। सबसे प्रबल प्रतिरोध दक्षिण भारत में मराठों के द्वारा हुआ।

अकबर के बाद जहाँगीर और उसके बाद शाहजहाँ मुगल सम्राट बने। लगभग पिता को अपदस्थ कर सम्राट बनने की परंपरा के कारण शाहजहाँ के पुत्रों-दारा शिकोह, शुजा, औरंगजेब और मुराद के बीच निरंतर संघर्ष बना रहा। पिता और भाईयों की हत्या करवा कर औरंगजेब ऐसा मुगल सम्राट बना, जिसकी धार्मिक कट्टरता, अविश्वास और सांप्रदायिक सोच ने साम्राज्य के मातहतों और जनता में विद्रोह की चिंगारी भड़काई। हिंदुओं पर जजिया, उनके द्वारा बेचे सामान पर 5 प्रतिशत अतिरिक्त कर, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन, हिंदुओं का प्रशासन तंत्र से निष्कासन आदि ने सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ावा दिया। यद्यपि औरंगजेब ने अग्रणी राजपूत राजाओं को मिलाने और उनका दिल जीतने के विशेष प्रयास किए, जसवंत सिंह को ही नहीं, बीकानेर के राजा कर्णसिंह को माफी देकर उसको पुरानी मसनब वापस कर दिया गया। तीन अग्रणी राजपूत राज्य-मेवाड़, मारवाड़ और आंबेर के शासकों के औरंगजेब के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध थे।[1] इसके बावजूद राजपूत राजाओं से उसके संबंधों में उतार-चढ़ाव आता गया। औरंगजेब अपनी नीतियों को बदलना नहीं चाहता था, तो दूसरी और राजपूत राजाओं के अपने-अपने स्वार्थ और अपेक्षाएँ थीं। सतीश चंद्र ने लिखा है, ''1666 और

1679 के बीच औरंगजेब को अनेक घरेलू चुनौतियों का सामना करना पड़ा और उसने दूरगामी प्रभाव वाले अनेक कदम उठाए। जाटों एवं सतनामियों के विद्रोह, अफ़गानों, असमिया और मराठों के साथ लगातार संघर्ष और आय तथा व्यय के बीच भारी अंतर के कारण बढ़ता वित्तीय संकट औरंगजेब के लिए सिरदर्द बने हुए थे। उनके समाधान के लिए उसने एकता के एक मजबूत बंधन के रूप में इस्लाम पर एक बार फिर से बल देना चाहा।[2] इससे राजपूत राजाओं के साथ संघर्ष, सिख गुरू तेगबहादुर की हत्या और शिया पंथी मुसलमानों से बैरवृत्ति ने राजपूतों, सिखों और मराठों में विद्रोह के साथ बहुसंख्यक जनता में तीव्र असंतोष पैदा कर दिया। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। मुगल साम्राज्य के इस शक्तिशाली और धर्मांध सम्राट ने अपने जीवन के आखिरी 25 वर्ष दिल्ली से बाहर युद्ध और संघर्षों में गुजारे, जिसके कारण उसके अधीन कई नवाबों, सामंतों, राजाओं ने विद्रोह कर दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद 12 वर्षों में 5 सम्राटों–बहादुर शाह, जहाँगीर शाह, फर्रुख्शियार, रफि–उल–दर्जत और शाहजहाँ द्वितीय गद्दी पर बैठे, जिनमें दो का कार्यकाल तो दो–तीन महीने का ही था। विलासिता, आपसी वैमनस्य, राजमहलों के षड्यंत्र के कारण वे जनता के बारे में उदासीन रहे, जिससे इन सम्राटों की विरोधी शक्तियाँ ताकतवर होती रहीं। मोहम्मद शाह रंगीला के समय में नादिरशाह ने 1739 ई. में करनाल के मैदान में मुगल सेना को हराया और सम्राट को आत्मसमर्पण करना पड़ा। सम्राट को बंदी बनाकर नादिरशाह दिल्ली ले गया और उसने दिल्ली में नरसंहार किया और उसे लूटा। और वह रत्न, सोना और कीमती कोहिनूर लूटकर ले गया। लेकिन 1748 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर कई चढ़ाइयाँ की, पंजाब पर कई बार आक्रमण करने के बाद पानीपत में मराठों को परास्त कर दिल्ली पर कब्जा किया और लूटपाट की। उसने मथुरा और आगरा को भी लूटा। सदाशिव भाऊ की सहायता से शाह आलम द्वितीय ने 28 वर्ष शासन किया लेकिन वह भी नाम मात्र का सम्राट रहा। उसने 1764 में अवध और बंगाल के नवाबों से मिलकर बक्सर में अंग्रेजों से युद्ध किया लेकिन पराजित हुआ, फिर ब्रिटिश कंपनी की अधीनता स्वीकार कर ली और बंगाल, बिहार और उड़ीसा ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दिया। दिल्ली पर कंपनी का नियंत्रण हो गया और वह पेंशन पर जीवनयापन करता रहा। अकबरशाह द्वितीय महादजी शिंदे की सहायता से दिल्ली का सम्राट बना। उसने सांप्रदायिक

सद्भाव बनाने का प्रयत्न किया लेकिन दिल्ली पर ईस्ट इंडिया कंपनी का वर्चस्व बढ़ता ही गया। आपसी तनाव में कंपनी ने सम्राट के सिक्के चलाना बंद कर दिया। मुगल साम्राज्य के आखिरी सम्राट बहादुरशाह जफर नाममात्र के बादशाह रह गए थे। उनकी शक्ति और अधिकार कंपनी ने ले लिए थे। 1857 में सैनिक विद्रोह में उनकी भूमिका के कारण अंग्रेजों ने उन पर मुकदमा चलाया और दोषी ठहरा कर रंगून भेज दिया, जहाँ उनकी मृत्यु हो गई।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों पर पर्याप्त विचार–विमर्श हुआ है। इरविन और यदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकार इस पतन के कारणों में राजाओं और उनके दरबारियों की व्यक्तिगत अवनति का संकेत देखते हैं। सतीश चंद्र मनसब और जागीर व्यवस्था को जारी रखने में मुगलों की असफलता देखते हैं, तो इरफान हबीब जागीरों के हस्तांतरण से हुए शोषण को कारण मानते हैं, जिसने जमीदारों (बड़े अधिकार वालों) और किसानों के विद्रोह को जन्म दिया।[3] श्री एम. अतहर अली मुगलों के पतन का कारण सांस्कृतिक पिछड़ेपन को भी मानते हैं, जो पूरे विश्व में व्याप्त था। उन्होंने मुगल साम्राज्य के अंत के बाद उभरी राज्य व्यवस्था के बारे में लिखा है, ''मुगल साम्राज्य की समाप्ति के बाद जो राज्य व्यवस्थाएँ उभरीं, वे प्रत्यक्ष रुप से दो प्रकार की थीं। पहली में हैदराबाद, बंगाल और अवध जैसे 'उत्तराधिकार राज्य'(सक्सेशन स्टेट्स) थे जो वास्तव में साम्राज्य के ही टुकड़े थे। केंद्रीय सत्ता के क्षयग्रस्त हो जाने और सहायता करने या दबाव डाल पाने में अशक्त हो जाने पर उन्हें अपने बलबूते पर खड़ा होना पड़ा। उन्हें कमोवेश प्रशासन का सारा मुगल तंत्र कामचलाऊ रूप में विरासत में मिला। दूसरी श्रेणी में मराठा राज्य संघ, जाट, सिख और अफगान थे। राज व्यवस्थाओं के रूप में उनका उत्स मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र था यद्यपि उनकी कभी उसके साथ संधि हुई, हो सकती है; या वस्तुतः पहले दो राज्यों की स्थिति में कहा जा सकता है कि उन्होंने मुगल बादशाह की नाम भर की श्रेष्ठता भी न मानी।[4] औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सल्तनत कमजोर होती गई और ईस्ट इंडिया कंपनी बलशाली होती गई।

मराठा राज की सत्ता और संघर्ष

मुगल सम्राट औरंगजेब के शासन में शिवाजी महाराज ने मजबूत संगठन करके मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह किया और गोरिल्ला पद्धति से युद्ध करके

सिंहगढ़, तोरण और पुरंदर के किलों पर आधिपत्य जमा लिया। उन्होंने राजगढ़, बारामती, इंद्रापुर और कोंडाला के किलों को जीतकर मराठा राज्य की स्थापना की। रायगढ़ के किले का निर्माण कर उसे राजधानी बनाया। 1674 ई. में मुगल आक्रमण में कुशलतापूर्वक लड़ते हुए 'स्वराज्य' की स्थापना की। छत्रपति शिवाजी की सजगता और वीरता के उत्तम उदाहरण, अफजल खाँ की हत्या और शाइस्तखाँ को पूना में पराजित करना है। औरंगजेब इन घटनाओं से क्रोधित हुआ और उसने आमेर के राजा मिर्जा जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार बनाया जो शिवाजी की युद्ध नीति से परिचित था, उसने ब्रजगढ़ और पुरंदर किले जीत लिए। विवश होकर शिवाजी को 15 जून 1766 में संधि करनी पड़ी और 23 जिलों और उनसे जुड़ी जमीनें मुगल सम्राट को देनी पड़ीं। शिवाजी के पुत्र संभाजी और राजाराम में शिवाजी जैसी चपलता और साहस नहीं था लेकिन राजाराम ने महाराष्ट्र का प्रवास करके मराठों को संगठित किया। राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई ने भी युद्ध में विजय प्राप्त की। शिवाजी व्यक्ति की योग्यता के अनुसार पेशवा (प्रधानमंत्री) नियुक्त करते थे, जबकि छतपति साहूजी ने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा के रूप में नियुक्त किया, फिर पेशवा वंश परंपरा के अनुसार बनने लगे। पेशवा बाजीराव विश्वनाथ ने फर्रूख्शियार को मुगल सम्राट बनवाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और मराठा नियंत्रण के मुगल क्षेत्र में कर एकत्र करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इनके नेतृत्व में मराठा राज्य की सीमा विस्तृत हुई, तो उनके पुत्र पेशवा बाजीराव प्रथम ने मध्य भारत और दक्षिण भारत के अधिकांश क्षेत्रों को मराठा राज्य में समाविष्ट कर लिया। इसी तरह उनके पुत्र पेशवा बालाजी बाजीराव के कुशल नेतृत्व में मराठा राज्य में भारतीय उपमहाद्वीप का लगभग एक तिहाई हिस्सा आ गया था।

मराठा राज्य की इस अबाध विजय यात्रा को अफगान के अहमद शाह अब्दाली ने अवरुद्ध किया। पानीपत में सदाशिव भाऊ के नेतृत्व में मराठाओं ने युद्ध (1761) किया, जिसमें मराठा सेना अद्भुत वीरता और साहस से लड़ी, लेकिन मल्हारराव होलकर और जाट नेता सूरजमल के धोखा देने के कारण मराठों की पराजय हुई। विश्वासराव, तुकेजी, संता वाघ, जसवंतराव पवार और सदाशिव भाऊ जैसे कुशल मराठा सरदारों की मृत्यु हुई। इस युद्ध ने मराठों की सत्ता को असीम क्षति पहुँचाई। मराठों ने उत्तर भारत में 10 वर्ष से अधिक समय तक निरंतर आक्रमण किए थे, जिसके कारण वहाँ की प्रजा और राजपूत राजाओं की सहानुभूति भी कम हो गई थी। राजपूत राजाओं के परस्पर वैमनस्य और ईर्ष्या

ने भी इसमें योगदान दिया।

इस आकस्मिक पराजय के बाद मराठा राज्य के दो मुख्य नेता नाना फडणवीस और महादजी सिंधिया की दीर्घदृष्टि से मराठा सत्ता का पूर्व वैभव वापस लौटा। यद्यपि 40 वर्षों में मराठा सत्ता का उत्थान हुआ, परंतु महादजी सिंधिया के अवसान और द्वितीय मराठा विग्रह (1803) ने मराठाओं की प्रगति अटका दी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बहुत कूटनीति से बंगाल, बिहार और उड़ीसा को हस्तगत कर लिया। वह भारत के छोटे-बड़े राजाओं की आंतरिक कलह और मुगल साम्राज्य की कूटनीति पर बाज नजर रखती थी और अपने स्वार्थ में सत्ताधारी या उनके विरोधियों को लोभ-लालच देकर अपनी स्थिति निरंतर दृढ़ करती जा रही थी। पेशवा बालाजी ने संरजामी पद्धति द्वारा ग्वालियर में सिंधिया, इंदौर में होलकर, नागपुर में भोंसले, गुजरात में गायकवाड आदि को अलग-अलग स्वराज्य दे दिए, जिन पर केंद्र का प्रबंध नाम मात्र का था। इस तरह इन तीन पेशवाओ के कार्यकाल में मराठा राज्य के विस्तार और संपन्नता के पीछे चौथ, सरदेशमुखी और सरंजामी प्रथा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। अधीन राज्यों को आरक्षण देने और मुगलों के हाथ से बचाने के लिए उन्हें कर वसूल करने, शासन करने की सत्ता दे दी और फिर वह वंश परंपरागत बन गई। साहू और ताराबाई के बीच के अंतर्विग्रह से मराठा सरदारों को अपने-अपने पक्ष में मिलाने की दौड़ प्रारंभ हो गई थी। 1719 ई. में पेशवा बाजीराव विश्वनाथ ने दिल्ली साम्राज्य से चौथ और सरदेशमुखी के लिखित आदेश प्राप्त कर लिए थे। इसको अपनाने का एक कारण यह भी था कि सरदारों को मुगलों, विदेशियों से भी युद्ध करना होता था, इसलिए इन जागीरदारों ने सरंजामी व्यवस्था अपनाकर मराठा सत्ता का समर्थन किया। जागीरदारों को चौथ और सरदेशमुखी की वसूली भी करनी होती थी। शिवाजी के समय से चली आई इस प्रथा को संभाजी और राजाराम ने भी चालू रखा। खानदेश, मालवा, गुजरात और कर्नाटक पर भी चौथ के कर लागू कर दिए गए। सरदेशमुखी प्रथा राजस्व वसूली करने वाले अधिकारियों के द्वारा प्राप्त राशि का 10% वेतन के रूप में दिया जाता था। यह मुगलों के समय से चला आ रहा था, मराठों ने भी उसे मान्यता दी। इसके बदले में मुगल सम्राट के लिए 15000 सैनिक तैयार रखने एवं 10 लाख रुपए की वार्षिक राशि दिल्ली की तिजोरी में जमा करानी होती थी। यह अलग बात है कि करों की वसूली में मराठों के अत्याचार से जनता में विक्षोभ और आक्रोश रहा करता था।

पानीपत में मिली पराजय के बाद मराठा राज अलग-अलग मराठों के नियंत्रण और जोतों में विभाजित हो गया था। पेशवा माधवराव ने अल्प आयु के होते हुए भी उत्तम प्रशासन व्यवस्था की, जिससे वे जनता में भी लोकप्रिय हुए। अंग्रेजों से पुरंदर संधि (1776), प्रथम अंग्रेज-मराठा विग्रह (1778), बड़गाँव संधि (जनवरी 1779) एवं सालबाई संधि (मई 1782) के द्वारा कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए। बड़ौदा के गायकवाड के प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करना, भरुच बंदरगाह पर अंग्रेजों का शासन, मराठा किसी अन्य विदेशी सत्ता को सहायता या सैनिक सहयोग नहीं करेंगे जैसे समझौते हुए। लेकिन पेशवा नारायणराव, पेशवा बाजीराव द्वितीय के समय आपसी वैमनस्य, अंग्रेजों की कूटनीति और मराठों की सत्ता लालसा के कारण 1818 ई. में मराठा राज्य का पतन हो गया। नारायण राव का शासन मात्र 9 महीने रहा। बाजीराव द्वितीय ने राजनीति के विशेषज्ञ नानाजी फडणवीस को निकालने की भयंकर भूल की। अंग्रेजों से बसई संधि (31 दिसंबर 1802) के अनुसार बाजीराव ने परोक्ष रूप से अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। पुणे में अंग्रेजों के सैनिकों का पड़ाव, उसके लिए 26 लाख की आमदनी वाला क्षेत्र अंग्रेजों को देना और गायकवाड को सहायकारी योजना को स्वीकार करने का प्रस्ताव शामिल था।[5] इस तरह पूना की सही सत्ता तो कर्नल बैलेंस्ली के हाथ में थी। हेस्टिंग्स ने कूटनीति से राजाओं को 'अखिल भारतीय संघ' के कई राजाओं को प्रलोभन और दबाव से निष्क्रिय या तटस्थ बना दिया। दूसरे अंग्रेज-मराठा विग्रह (1803) में लार्ड बैलेंस्ली ने कर्नल कोलिन्स को शिंदे के पास भेजा और सहायकारी योजना स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा। अस्वीकार करने पर युद्ध हुआ, उसमें शिंदे की पराजय हुई। अंग्रेजों ने गुजरात, बुंदेलखंड और उड़ीसा के क्षेत्र, 11 लाख की आय वाला भरूच (29 अगस्त), चापानेर और पावागढ़ (17 सितंबर) को युद्ध करके प्राप्त कर लिए और शिंदे को संधि करने के लिए विवश कर दिया। भोंसले के नागपुर पर आक्रमण करने की स्थिति में भोंसले ने भी संधि की। 1805 तक पेशवा, सिंधिया, भोंसले, गायकवाड, टीपू सुल्तान (कर्नाटक) और निजाम अली (हैदराबाद) को एक के बाद एक हराकर उन्हें अपना आश्रित राज्य बना लिया। पेशवा बाजीराव द्वितीय ने संधि द्वारा अंग्रेजों की शरणागति स्वीकार तो कर ली थी परंतु पूना में अंग्रेजों की उपस्थिति उसे परेशान किए थी। इसी तरह अन्य सरदारों का भी मोह भंग हुआ था, लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस बीच हिंदुस्तान के गवर्नर

जनरल के पद पर सर जॉन मार्लो (1805–07) और लॉर्ड मिंटो (1806–13) के स्थान पर उग्र और आक्रामक नीति वाले मार्कवीस हेस्टिंग्स (1813–22) की नियुक्त हुई। जिसकी इच्छा भारत में अंग्रेजों का एकछत्र शासन स्थापित करने की थी। परिणामस्वरूप असीरगढ़ संधि (1818) के द्वारा मराठा राज्य की सत्ता समाप्त हो गई। यद्यपि सतारा के छत्रपति प्रतापसिंह को शासक के रूप में अधिकार 1822 में दिए गए। परंतु लॉर्ड ऑकलैंड ने 4 सितंबर 1839 में उन्हें पदभ्रष्ट घोषित कर दिया। 1847 में उसे फिर से गद्दी पर बैठाया, पर 5 अप्रैल 1848 में उसकी मृत्यु के बाद सतारा का रास्ता भारत के मानचित्र से विलीन हो गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासन

एक व्यापारिक इकाई के रूप में प्रारंभ हुई ईस्ट इंडिया कंपनी, प्रथम 100 वर्षों में भारत की शक्तिशाली व्यापारी कंपनी बन गई थी। सन् 1651 में हुगली नदी के किनारे पहली इंग्लिश फैक्ट्री स्थापित की गई, लेकिन शताब्दी के अंत तक उस फैक्ट्री के आसपास एक सुरक्षित किले का निर्माण कर लिया गया था, जहाँ व्यापारी और कर्मचारियों को रखा जाता था। मुगल शासन से कंपनी को शुल्क मुक्त व्यापार करने की अनुमति मिली हुई थी, लेकिन राजस्व को लेकर बंगाल के नवाब से टकराव बढ़ने लगा था। नवाब सिराजुद्दौला ने राहतें बंद कर दीं और सिक्के ढालने के अधिकार पर रोक लगा दी। टकराव यहाँ तक पहुँचा कि नवाब ने कासिम बाजार स्थित फैक्टरी पर धावा बोल दिया और अंग्रेज अफसरों को गिरफ्तार कर फैक्टरी पर ताला लगा दिया। मद्रास से रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में कंपनी की सेना भेजी गई और युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला की पराजय हुई। कंपनी ने अपनी कठपुतली समान मीर जाफर को नवाब बना दिया।

प्लासी युद्ध और बक्सर की लड़ाई में मिली विजय के बाद बंगाल के गवर्नर ने वहाँ की दीवानी भी प्राप्त कर ली। अब कंपनी सिर्फ व्यापारी कंपनी नहीं रह गई थी, उसके अफसर भी धनवान होते गए। गवर्नर क्लाइव ने अकूत संपत्ति एकत्र कर ली थी। उस पर भ्रष्टाचार के आरोप भी लगे थे जिसके कारण उसे ब्रिटिश संसद में सफाई भी देनी पड़ी। ब्रिटिश पार्लियामेंट में काफी बहस हुई, परिणाम स्वरूप 1773 ई. में प्रसिद्ध रेग्युलेटिंग एक्ट (नियामक कानून) पारित किया गया। कंपनी पर नियंत्रण रखने की कार्यवाही के तहत उसे गवर्नर जनरल और चार सदस्यों की परिषद के अधीन कर दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स 1773

में पहले गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। जिनके समय में पिट्स इंडिया एक्ट भी पारित हो गया। गवर्नर जनरल के समय प्रशासनिक इकाइयों को भी मजबूत किया गया। कलकत्ता, मद्रास और मुंबई को तीन प्रेसिडेंसी में बाँट दिया गया। इस दौर में प्रशासकीय न्याय क्षेत्र में भी उल्लेखनीय सुधार किए गए। फौजदारी और दीवानी अदालतें भी स्थापित हुईं। दीवानी अदालतों में यूरोपीय जिला कलेक्टर होता थे।

सन् 1798 लार्ड वेलेजली गवर्नर जनरल बनकर आए। उनके कार्यकाल में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये। अंग्रेज सत्ता के विस्तार के लिए राजाओं और नवाबों के लिए सहायक संधि प्रणाली को लागू किया। इससे पहले ही राजा और नवाबों की सत्ता को सीमित किया जाने लगा था। उनकी सत्ता और स्वतंत्रता छीनी जा रही थी। राजाओं से राजस्व वसूली का अधिकार ले लिया गया था। जो राजा या नवाब सहायक संधि प्रणाली को स्वीकार करता था, उसे संरक्षण के बदले में अपने राज्य में ब्रिटिश सेना रखना अनिवार्य बना दिया गया। उसके यहाँ विदेशी माल को ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नियंत्रित किया जाने लगा, उसे अपने राज्य में ब्रिटिश रेसीडेंट रखना होता था जो उसके राज्य के क्रियाकलाप को नियंत्रित रखता था। हैदराबाद सहायक संधि स्वीकार करने वाला पहला राज्य बना। बाद में तंजोर. कर्नाटक, सूरत और त्रावणकोर ने भी इसे स्वीकार किया। मराठाओं से बसीन संधि 1802 ई. में हुई और उनके कई राज्यों को सहायक संधि के अधीन कर लिया गया। इस तरह 19 वीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश कंपनी ने भारत के कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया था। कंपनी, व्यापार एवं प्रशासन दोनों में अधिक शक्तिशाली होती जा रही थी। अंग्रेजों के द्वारा मद्रास प्रेसिडेंसी में लार्ड मुनरो द्वारा रैयतवाड़ी प्रणाली (1820) लागू की गई, बाद में उसे 1825 में बम्बई में लागू किया गया। यह किसानों को जमीदारों के शोषण से बचाने के लिए लाई गई थी। अब किसान भू राजस्व अंग्रेज हुकूमत को देते थे, जो 51% के लगभग था। इसकी विशेषता सरकार और रैयत के बीच में सीधा संबंध बनाना था, लेकिन इसमें प्राकृतिक आपदा (अकाल, बाढ़) के बारे में कोई छूट नहीं दी जाती थी जिससे किसान कर्ज में डूब जाते थे। इसी तरह बंगाल मेंटेनेंसी एक्ट (1822) लगाया गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813–1823) और लॉर्ड विलियम बेंटिक (1828–1835) के शासनकाल में कई सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक सुधार हुए।

भारतीय शिक्षा के लिए बजट, सरकारी सेवाओं में भेदभाव का अंत एवं जूरी प्रथा का प्रारंभ आदि इसमें शामिल हैं। इसी समय न्यायालय में भारतीय भाषाओं को मान्यता दी गई। सती प्रथा उन्मूलन (1829) कन्या भ्रूण हत्या उन्मूलन नियम समाज सुधार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पहल माने जा सकते हैं। सन् 1835 में लार्ड मैकाले के सुझावों से शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी माध्यम को स्वीकृति मिली। तीनों प्रेसीडेंसी में अंग्रेजी माध्यम के स्कूल, कॉलेजों में वृद्धि हुई। यह वह समय था, जब कंपनी भारत के बड़े हिस्से को अपने अधिकार में ले चुकी थी। 1833 ई.के चार्टर एक्ट से लेकर वुड डिस्पैच (1854) तक के समय में कंपनी सरकार ने अपनी स्थिति बहुत मजबूत कर ली थी। वह कूटनीति से अपने विस्तार को विकसित करती जा रही थी। लॉर्ड डलहौजी के कार्यकाल में गोद प्रथा का अंत करके सतारा (1848), संबलपुर (1849), बघाई (1850) की रियासतों को अपने अधीन कर लिया था। भारतीय राजे-रजवाड़ों एवं रियासतों में भयंकर असंतोष पनपने लगा था। ऐसे में लॉर्ड डलहौजी ने नवाब वाजिदअली शाह पर कुशासन का आरोप लगाकर अवध को भी हड़प लिया। इतिहासकार ताराचंद ने इसके प्रभाव के बारे में लिखा है, ''वाजिद अली शाह को गद्दी से उतारने पर देशभर में विरोध की लहर फैल गई क्योंकि चाहे नवाब में दोष रहा हो, फिर भी कोई भी भारतीय भारत के सबसे सुंदर प्रांत के विदेशी शासकों के हाथ में जाना पसंद नहीं करता था। अवध के राजा, तालुकदार, अफसर, पिछलगुए और योद्धा वर्ग हिंदू और मुसलमान सभी क्षोभ और निराशा से भर गए। ब्रिटिश वायदों में विश्वास संपूर्ण रूप से नष्ट हो गया।''[6] इस घटना ने दबी चिनगारी को हवा देने का काम किया।

1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

मंगल पांडे ने 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर में अंग्रेज अफसरों पर हमला किया, यह घटना आकस्मिक नहीं थी। भारतीय सैनिकों के असंतोष और विद्रोह की लंबी परंपरा रही है। 1764 में मनरो की सेना की पूरी बटालियन का विद्रोह, 1806 में वेल्लौर का सिपाही विद्रोह, 1824 में बंगाल सेना में विद्रोह और जनता के असंतोष के अनेक प्रमाण दर्शाते हैं कि 1857 का सैनिक विद्रोह असंगठित भले हो, लेकिन लंबे समय से विद्रोह की आग सैनिकों और भारतीय प्रजा के हृदय में सुलग रही थी। राजाओं और नवाबों से सत्ता छीनने में अंग्रेजों की

कूटनीतिक चालों का समय-समय पर कभी मूक, तो कभी मुखर विरोध होता रहा था। 10 मई, 1857 को प्रारंभ हुआ यह विद्रोह, सितंबर तक किसी न किसी रूप में चलता रहा। लेकिन सितंबर, 1857 में दिल्ली पर फिर से अंग्रेजों का कब्जा होने पर भी यह खत्म नहीं हुआ था। सैनिक, जनता और विद्रोही राजा एवं सरदार 2 वर्ष तक अंग्रेजों से टक्कर लेते रहे। मार्च, 1858 में अवध और जून 1858 में रानी लक्ष्मीबाई की पराजय के बाद भी, तात्याँ टोपे आदिवासियों और किसानों की सहायता से गोरिल्ला युद्ध लड़ते रहे। रानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र की तथाकथित उदारता के बावजूद सैनिकों, विद्रोही व्यक्तियों एवं 1857 के विद्रोह के बारे में सामग्री प्रकाशित करने वाली पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों के साथ क्रूर व्यवहार किया जाता रहा था। श्री कर्मेंदु शिशिर ने अपने लेख '1857 की राजक्रांति, नवजागरण और आधुनिकता' में अनेक तथ्यों के द्वारा अंग्रेजों की नृशंसता को स्पष्ट किया है, ''राजक्रांति की समाप्ति और ब्रिटिश राज की स्थापना के बाद जिस तरह खोज खोज कर क्रांतिकारियों को पकड़ा गया, उनकी मदद करने वालों को फाँसी दी गई और तरह-तरह से उनका दमन किया गया।''[7] दूसरी और 1857 की चर्चा तक पर घोषित-अघोषित प्रतिबंध रहा। इतिहासकार ताराचंद ने विस्तृत विश्लेषण के बाद निष्कर्ष दिया है, ''बहुत व्यापक विद्रोह था और सिपाही और नागरिक दोनों इसमें शामिल थे और दोनों ने मिलकर विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश की।''[8] ताराचंद ने इस बारे में कमान्डर मार्ते के कथन को उद्धृत किया है, ''इस विश्व विराट साम्राज्य को जीतने के लिए हमारा तरीका अच्छा था, पर जो व्यवस्था इसके शासन की बनी, पहले ही धक्के के समय ऐसा लगा कि यह इसे झेल नहीं पाएगी, क्योंकि भारतीयों में इसके समर्थक तत्व नहीं थे, जिन पर हम भरोसा कर सकें कि एक दल दूसरे के विरुद्ध लड़े। अपनी शक्ति कायम रखने में असमर्थ कंपनी, इंग्लैंड की सहायता के बिना इस विद्रोह को दबाने में असमर्थ रही है, क्योंकि प्रजा से एकदम अलग रहकर इसने उनमें किसी अच्छे विचार का प्रचार नहीं किया और अपने शासित इलाकों में, इसने पश्चिमी सभ्यता के बीज नहीं बोए। इसे अपनी असंख्य प्रजा पर जाकर कल्याण, सदाचार और जीवन से कोई सरोकार नहीं था। आयात-निर्यात, एकाधिकार, वेतन, मुनाफा, लाभांश इत्यादि के अलावा अन्य सभी बातों में कंपनी उदासीन रही और भारत का शोषण करना ही इसने अपना कर्तव्य समझा न कि सभ्य बनाना। बजाय इसके कि कंपनी भारतीयों को वे हुनर और ज्ञान

सिखाती जो स्वतंत्रताप्रिय लोगों में होता है, इसने उनकी स्वशासन की योग्यता को नष्ट करना चाहा। संभव है कि यह नीति बहुत चालाकी की मानी जाए, पर स्पष्ट है कि वह उदार नहीं थी। इसलिए बदनीयती, उच्चाकांक्षा, स्वार्थपरता और शोषण के लिए कंपनी की जो निंदा की गई है, वह उचित है।''[9] महाराष्ट्र के ब्राह्मण विष्णु भट्ट की पुस्तक 'माझा प्रवास' और सूबेदार सीताराम पांडे के संस्मरण 'सिपाही से सूबेदार तक' इस विद्रोह के प्रभाव और व्यापकता को ही नहीं, जनता के जुड़ाव को भी स्पष्ट करते हैं। 1857 की राजक्रांति का भारतीय समाज और साहित्य पर दूरगामी परिणाम पड़ा था। इसने नवजागरण को नई ऊँचाइयाँ दी।

मंगल पांडे के विद्रोह और चर्बी के कारतूसों के प्रचार ने विद्रोह को भड़का दिया। 10 मई, 1857 का विद्रोह वर्षों से दबे असंतोष का परिणाम था, जिसे अंग्रेजों ने सैनिक विद्रोह कहा, जबकि वह परतंत्र भारतवासियों की जकड़न के खिलाफ स्वतंत्रता की असंगठित बुलंद आवाज थी। ऐसा नहीं है कि अंग्रेज इसे नहीं जानते थे, लेकिन साम्राज्यवादी सरमुख्त्यार नशे में अंधे थे। 1818 ई. में लॉर्ड मुनरो ने गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स को लिखा था, ''विदेशी विजेताओं ने देश के रहने वालों के साथ पहले भी हिंसा बरती थी और अक्सर बहुत बेरहमी की थी, पर इसके पहले किसी ने उनके साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव नहीं किया था जैसा कि हम करते हैं। किसी ने इसके पहले सारी जाति को अविश्वास योग्य, बेईमान और केवल ऐसे कामों में लगाए जाने योग्य, जहाँ उनके बिना काम चल नहीं सकता, नहीं समझा था। यह न केवल संकीर्णता है, बल्कि यह राजनीतिक दृष्टि से भी गलत है कि हम अपने अधीन जाति के चरित्र को इस तरह से गिराए।''[10] इस तीव्र असंतोष की परिणति सैनिक विद्रोह में हुई। 2 महीने अंग्रेज हुकूमत की जड़ें हिल गई थीं। यह असंगठित विद्रोह और आक्रोश था इसलिए अंग्रेजों ने अपने स्वार्थी और लोभी भारतीय समर्थकों के सहयोग से इस विद्रोह को कुचल दिया। लेकिन इस घटना ने ब्रिटिश हुकूमत को हिला कर रख दिया था, परिणाम स्वरूप भारत से कंपनी का शासन समाप्त हो गया और उसे ब्रिटिश सरकार के अधीन कर दिया गया।

लॉर्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में एक सभा में महारानी विक्टोरिया का 1 नवंबर 1858 का प्रथम घोषणा पत्र पढ़ा जिसमें भारतीय जनता एवं राजाओं, सामंतों, नवाबों को तरह-तरह के आश्वासन दिए गए। घोषणापत्र के शब्दों से स्पष्ट था

कि वह 1857 के विद्रोह के असंतोष का शमन करने के लिए अधिक था। ब्रिटिश सरकार इन घोषणाओं और वायदों को कितना पूरा करना चाहती थी, यह कुछ वर्षों की कार्यप्रणाली से स्पष्ट हो गया था। घोषणा पत्र में उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा जताई कि भारत के सर्वांगीण विकास के लिए फिर सार्वजनिक प्रयत्न किया जाएगा। जनता के मंगल तथा भलाई के लिए सार्वजनिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी। सरकार का प्रबंध संपूर्ण जनता की भलाई की भावना से होगा। उसके संतोष में ही हम अपनी सुरक्षा और कृतज्ञता में ही अपना गौरव अनुभव करते हैं। हमारी यह भी इच्छा है कि जहाँ तक हो सके, संपूर्ण प्रजा चाहे वह किसी वंश अथवा धर्म से संबंधित हो, बिना किसी भेदभाव के अपनी योग्यता अनुसार हर तरह की सरकारी नौकरी प्राप्त कर सके। उन्होंने अपने कर्मचारियों को आदेश किया कि प्रजा के धार्मिक विचारों और विश्वासों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। हमारी यह जरा भी इच्छा नहीं है कि हम अपने साम्राज्य की सीमा को और बढ़ाएँ। देसी नरेशों के सम्मान और प्रतिष्ठा को रखने का वचन दिया। (The green Victoria's proclamation, Announced on November, 1858) इस घोषणापत्र से जनता में एक संतोष अवश्य व्याप्त हुआ। साथ ही अंग्रेज सरकार ने लार्ड कैनन, लॉर्ड जॉन लॉरेंस, लॉर्ड एल्गिन और लॉर्ड मेयो के कार्यकाल में ऐसे निर्णय लिए जिनसे असंतोष कम हो। इस दौर में भारतीय रियासतों को सरकार के समीप लाने का कार्य किया गया। सरकार बहावी विद्रोह का दमन, पंजाब के विलय के साथ बनारस, कानपुर, आगरा और अंबाला की रियासतों को ब्रिटिश सरकार के पक्ष में करने में सफल हुई। भारत सरकार अधिनियम 1858 एवं 1861 के एक्ट द्वारा ब्रिटिश नीतियों में परिवर्तन किया गया। प्रशासन को केंद्रीय, प्रांतीय और स्थानीय संस्था में विभाजित किया, सैन्य संगठन में परिवर्तन किए गए। घोषणापत्र में समानता की बात कही गई थी, लेकिन अंग्रेज सैनिकों की अधिक भर्ती की गई और भारतीय सैनिकों को उनके अधीनस्थ रखा जाने लगा। मेरठ में सैनिक छावनी में तोपखाना और शिमला को प्रशासन का मुख्य केंद्र बनाया गया। महत्त्वपूर्ण निर्णय था कि तोपखाना अंग्रेज सैनिकों के अधिकार में रखा गया और प्रत्येक छावनी में भारतीय सेना से अंग्रेज सेना की संख्या दुगनी रखी गई।[11] संस्था में स्थानीय लोगों को नामित किया जाता था लेकिन उसमें अंग्रेज हितों का विशेष ध्यान रखा जाता था। जैसे कि इंडियन लेजिस्लेटिव में जिन तीन भारतीयों को नॉमिनेट किया गया, वे राजा बनारस,

राजा पटियाला और सर दिवाकर राव थे। राजा बनारस और राजा पटियाला ने सैनिक विद्रोह में अंग्रेजों की विशेष सहायता की थी और सर दिवाकर राव बड़ौदा के शासक मल्हार राव गायकवाड़ पर अभियोगों की जाँच के लिए गठित आयोग के सदस्य थे, जिसने उन्हें गद्दी से हटा दिया था।

1857 के सैनिक विद्रोह के सकारात्मक पक्ष को देखें तो प्रशासनिक सुधार, राजाओं को दत्तक पुत्र रखने का अधिकार, जमीदारों को आश्वासन, परिवहन, रेल एवं न्याय व्यवस्था के विकास को रखा जा सकता है। यद्यपि पुराने भारतीय राजाओं ने भी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को अपनाया था, लेकिन तब शासक के बदलने पर कार्य प्रणाली में परिवर्तन आ जाता था। अंग्रेज सरकार ने जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रारंभ किया, उसमें एकरूपता और स्थायित्व था। इसमें एक जैसा कानून और शासन प्रणाली थी। जबकि पहले धर्म और जाति के आधार पर बदलाव होता रहा था। इन सुविधाओं और व्यवस्थाओं का निर्माण अपने शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए किया गया था, लेकिन भारतीय समाज को परोक्ष रूप से इसका लाभ पहुँचने लगा था। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था ने शिक्षित समाज को देश के बारे में सोचने के लिए बाध्य किया। सैनिक विद्रोह के समय अधिकतर प्रबुद्ध भारतीय या तो तटस्थ और निष्क्रिय रहे थे, या फिर अंग्रेजों के समर्थक थे। लेकिन धीरे-धीरे यह वर्ग अंग्रेज सरकार की कूटनीति को समझने लगा। जो सरकार पहले समाज सुधार के कार्यों में अधिक सक्रिय थी, अब इस बारे में उदासीन होती गई। इस दौर में अंग्रेज और भारतीय के बीच का विभाजन, शासक और शासित का अंतर, स्पष्ट होने लगा था। लार्ड लिटन के कार्यकाल में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट (1878) एवं आर्म्स एक्ट (1878) लाया गया। जिसने अधिक स्पष्ट कर दिया कि यह सरकार भारतीय समाज के हितों के विपरीत है, इसलिए जनता के साथ बुद्धिजीवी वर्ग ने शामिल होकर इनका विरोध किया। संयोग से 1880 में ब्रिटेन में उदार दल (लिबरल पार्टी) की सरकार बनी और प्रधानमंत्री ग्लेडस्टोन ने गवर्नर जनरल के पद पर लॉर्ड लिटन के स्थान पर लॉर्ड रिपन को नियुक्त किया। उसने 1882 ई. में प्रेस एक्ट को रद्द कर दिया। उसने प्रथम फैक्ट्री अधिनियम 1881 को प्रस्तुत किया और स्थानीय राज्य की सरकार का संकल्प दोहराया। लेकिन 1883 के इल्बर्ट बिल का अंग्रेजों द्वारा उग्र विरोध किया गया, जिसमें भारतीय और यूरोपीय प्रजा को समान अधिकारों का प्रस्ताव था। लॉर्ड रिपन के कार्यकाल में शिक्षा के क्षेत्र में हंटर आयोग गठित हुआ जिसने

सभी क्षेत्रों में प्रश्नावली भेजी थी।

अंग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति से दस्तकार एवं शिल्पी बेरोजगार होते गए। अंग्रेजों की नीतियों का परिणाम था कि धीरे-धीरे भारत के शिक्षित समाज में राष्ट्रीय चेतना विकसित होती जा रही थी। 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ सरकार से मोहभंग की स्थित बढ़ने लगी थी। स्वतंत्र व्यापार नीति, उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति न होना और इल्बर्ट बिल के अंग्रेजों के विरोध ने, अंग्रेज शासकों के प्रति संदिग्धता बढ़ा दी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1885 में स्थापना और उसकी परिवर्ती कार्यप्रणाली ने भारतीय असंतोष को राजनीतिक क्षेत्र में प्रबल रूप से अभिव्यक्त करने का कार्य किया। यद्यपि प्रारंभ में यह ब्रिटिश राज के प्रति श्रद्धा भाव रखती थी लेकिन धीरे-धीरे सरकार की नीतियों और भारतीयों की उपेक्षा ने इसे सरकार के विरोध का राजनीतिक मंच बना दिया। इसके अध्यक्ष बने दादाभाई नौरोजी, अपने लेखों में अंग्रेज सरकार की आर्थिक नीतियों का विरोध करते थे। इस विरोध को सबसे तेज हवा लार्ड कर्जन के बंगाल विभाजन ने दी।

नवजागरण

19 वीं सदी के भारतीय जागरण को अलग-अलग नामों से व्याख्यायित किया जाता है। पुनर्जागरण, नवजागरण, महाराष्ट्र में प्रबोधन काल, तो गुजरात में 'सुधारा युग' कहा जाता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद इस बात पर विवाद नहीं रहा, कि इसका सीधा संबंध यूरोप के रैंनेसा से नहीं है। अधिकतर भारतीय अध्येता इस जागरण का कारण अंग्रेजों का आगमन और उपनिवेशवाद को मानते हैं,और इसके प्रणेताओं में प्राच्यविद्याविदों को भी शामिल किया जाता रहा है। विलियम जॉन्स और अन्य विद्वान कंपनी के शासन में 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आए थे। ईसाई मिशनरियों ने धर्म के प्रचार के लिए ही सही, लेकिन भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया और कई भाषाओं का इतिहास लिखा। उन्होंने इन भाषाओं में बाइबिल का सरल भाषा में अनुवाद प्रकाशित कर प्रचार किया। प्रिन्सेट, कनिंघम, विलियम जॉन्स जैसे विद्वानों ने संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के ग्रंथों और रचनाकारों का अध्ययन किया और उनकी महानता के बारे में बताया।

नवजागरण के बारे में निरंतर चलते वाद-विवादसंवाद से कई तरह के मत

और दृष्टिकोण सामने आए, यहाँ उनका वर्णन प्रासंगिक नहीं है। प्रो. नामवर सिंह 19वीं सदी के नवजागरण के दो पक्ष स्पष्ट मानते हैं, ''इसका एक अखिल भारतीय रूप और दूसरा उसकी प्रादेशिक विशिष्टता। लोग समानता पर ज्यादा बल देते हैं, अपने देश की राजनीतिक आवश्यकताओं को देखते हुए। लेकिन सारस्वत क्षेत्र में, विद्या के क्षेत्र में समानता जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण भिन्नता और विशिष्टता भी हुआ करती है।''[12] इस वाद-विवाद में बंगला नवजागरण, मराठी नवजागरण, हिंदी नवजागरण की व्याख्या कर और उनकी विशेषताओं पर अतिरिक्त भार दिया गया। डॉ. शंभुनाथ ने रेखांकित किया है: ''पिछले 50 सालों के नवजागरण-विवाद में मुख्यत: उभरकर यह आया है कि बंगला नवजागरण का केंद्रीय सारतत्व बुद्धिवाद है (राजा राममोहन राय) जबकि हिंदी नवजागरण का केंद्रीय सारतत्व राष्ट्रवाद है। (1857 का पहला स्वाधीनता संग्राम) महाराष्ट्र नवजागरण का केंद्रीय सार तत्व दलित चेतना (ज्योतिबा फुले) और सुधारवाद (रानाडे) है। तमिल नवजागरण का केंद्रीय सारतत्व ब्राह्मणवाद विरोध और दलित चेतना है (नायक्कर-पेरियार)। इसी तरह केरल नवजागरण का केंद्रीय सारतत्व दलित चेतना है (नारायण गुरु)। नवजागरण की इन परंपराओं में राष्ट्रीय आत्म पहचान के संघर्ष को पहचानते हुए स्थानीय थ्रस्ट की अनदेखी एक भूल होगी।''[13] डॉ. शंभुनाथ ने श्री डॉ. रामविलास शर्मा की स्थापनाओं को स्पष्ट करते हुए उनके द्वारा नवजागरण के यूरोप केंद्रित सोच के खंडन को रेखांकित किया, ''रामविलास शर्मा ने यूरोपीय हथियार से ही यूरोपकेंद्रित सोच पर हमला किया।'' उन्होंने दिखाया कि जब यूरोपीय जातियों से पहले, भारतीय जातियाँ अस्तित्व में आ गई थीं, तो इसका अर्थ है कि ये पहले से विकसित थीं। उन्होंने हिंदी नवजागरण या आधुनिक काल के दो हिस्से किए। पहले हिस्से को लोकजागरण कहा, दूसरे को नवजागरण। पहले हिस्से के लिए साहित्यिक साक्ष्य उपस्थित किया, जबकि दूसरे हिस्से के लिए 1857 के स्वाधीनता संग्राम का विस्तृत राजनीतिक साक्ष्य भी दिया।''[14] डॉ रामविलास शर्मा की अवधारणा और प्रस्थापना के अपने तर्क हैं, लेकिन यह सच है कि नवजागरण विमर्श में बंगला नवजागरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। यहाँ अंग्रेजोंका शासन पहले प्रस्तापित हुआ, बंगाल के बुद्धिजीवियों को अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शिक्षा और ज्ञान ने विशेष प्रभावित किया। राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, अक्षय कुमार दत्त जैसे विचारक इस नए प्रवाह के उद्घोषक बने। अरविंद पोद्दार, अमलेन्दु दे और सुशोभन सरकार ने बंगला

नवजागरण को मुख्य रूप से कलकत्ताऔर शहरी भद्रवर्ग का आंदोलन माना है। इसमें समाज सुधार, उदारवादी तर्कवाद और धर्मनिरपेक्ष मानववाद के साथ प्राच्यवाद का समावेश होता है। अतीत की गौरवशाली परंपरा, हिंदू श्रेष्ठता की भावना को भी प्रधानता मिली है। ओपनिवेशित भारत के सांस्कृतिक जीवन के अध्येता श्री के.एन. पणिक्कर मानते हैं कि नवजागरण के इस विमर्श में सामाजिक और बौद्धिक परिघटना की जटिलता की उपेक्षा की गई है।[15] उन्होंने अपने ग्रंथ में प्राक् औपनिवेशिक काल की धार्मिक परिस्थितियों तथा जाति संरचना एवं संगठनों में आए परिवर्तनों के उदाहरण दिए हैं, ''इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू धर्म, मूर्ति पूजा, बहुदेववाद और अंधविश्वासों से ग्रस्त था, परंतु इन धार्मिक विश्वासों और आचरणों को भारत के लगभग सभी हिस्सों में उदित होने वाले अनेकानेक असनातनी संप्रदाय–यथा उत्तर प्रदेश में सतनामी, अप्पा पंथी और शिवनारायण संप्रदाय, बंगाल में कर्ताबाज और बलरामी, राजस्थान में चरणदासी और आंध्र प्रदेश में वीरब्रह्म चुनौती दे रहे थे। इनमें से सभी संप्रदायों ने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा और जात–पांत की निंदा की।''19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध के सुधारकों की तरह चरणदास ने मूर्तिपूजा–विरोध और जात–पांत विरोध के लिए वेदों के प्रमाण का सहारा लिया। उनका कहना था कि आम लोगों के लाभ के लिए मैं वेदों के सत्य को सरल हिंदी में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह सभी कर्मकांडों के खिलाफ थे; यहाँ तक कि पूजा के लिए तुलसी की पत्तियों के उपयोग के भी। 19वीं सदी के सुधारकों की तरह इन संप्रदायों में भी व्यक्तिगत सदाचार पर बहुत जोर था।''[16] पणिक्कर ने 18 वीं सदी की उन परिघटनाओं को इंगित किया है, जिनका सामाजिक परिवर्तन में भूमिका रही थी, लेकिन औपनिवेशिक हस्तक्षेप के कारण इस और ध्यान नहीं दिया गया। बल्कि बौद्धिक जनों द्वारा प्रचलित आचार–विचार और धार्मिक विश्वास को प्रगति में बाधक मान लिया गया।[17]

भारतीय नवजगरण में धार्मिक विश्वास की उपेक्षा नहीं है अपने गौरवशाली अतीत के स्मरण के साथ अपनी अस्मिता के प्रति सजगता 19 वीं सदी में विशेष महत्त्व रखती है। जबकि औपनिवेशिक प्रभाव के कारण बंगाल के ब्रह्मसमाज और बौद्धिक जनों ने भारतीय विश्वास को, अंधविश्वास, धर्मांधता और भाग्यवाद से ग्रस्त माना। भारतीय नवजागरण के उद्घोषक साहित्यकारों ने अतीत के गौरवशाली रूप को निरंतर याद किया और अपनी पहचान के लिए निरंतर तत्पर रहे। आलोचनात्मक बुद्धि नवजागरण का सार्वभौम तत्व है। वह बौद्धिक स्वतंत्रता की

ही इच्छा पैदा नहीं करती, मनुष्य को मानसिक परिष्कार कर नए अनुभव और नए ज्ञान की और भी अग्रसर करती है। वह व्यक्ति को दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त कर सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाती है। नवजागरण काल में विवेक से परिचालित आलोचनात्मक महत्त्व का इसलिए भी प्रचार हो रहा था कि मनुष्य अपने ज्ञान और कौशल का लोकहित में प्रयोग कर सके।[18] हिंदी प्रदेश में नवजागरण का प्रारंभ श्री रामविलास शर्मा सैनिक विद्रोह से मानते हैं, जिसे साम्राज्यवाद विरोधी जागरण से जोड़ते हैं। हिंदी क्षेत्र के नवजागरण में धर्म महत्त्वपूर्ण साधन था। गोरक्षा जैसे आंदोलन को इसके प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वैसे नवजागरण के किसी भी रचनाकार ने धर्म की उपेक्षा नहीं की। हिंदी नवजागरण के उद्घोषक भारतेंदु जी ने तो, धर्म को सब उन्नति का मूल स्वीकार किया था।

नवजागरण की एक और विशेषता की और नामवर सिंह जी ने इंगित किया है कि जिस तरह बंगला और महाराष्ट्र को बुद्धिजीवी मिले, उस तरह हिंदी प्रदेश और गुजरात को नहीं मिले बल्कि साहित्यकार मिले। ''हिंदी भाषी प्रदेश और अंशतः गुजराती प्रदेश भाग्यशाली है कि नवजागरण काल में उसको ऐसे इंटेलेक्चुअल नहीं मिले, बल्कि ठेठ साहित्यकार मिले। साहित्यधर्मी मिले और शायद इसीलिए दोनों नवजागरणों की चेतना जिस तरह विकसित हुई, वह बुद्धिजीवी आतंक से इतनी दूर तक प्रभावित और शायद विकृत भी नहीं है। और शायद वह अपनी आम जनता से ज्यादा जुड़ सकी, वह परजीवी न बन सकी।''[19]

हिंदी प्रदेश (संयुक्त प्रांत) और गुजरात की ऐतिहासिक स्थितियों में भी अंतर रहा है। हिंदी प्रदेश मुगल साम्राज्य, विभिन्न रियासतों और राजाओं के शासन में विभाजित रहा। मुगल साम्राज्य का केंद्र ही उत्तर भारत रहा। 1856 में अवध के नवाब को सत्ता से हटाकर अंग्रेज शासन की बागडोर संभालते हैं। और फिर तुरंत 1857 में विद्रोह होता है। उर्दू भाषा को प्रशासन में महत्त्व और हिंदी उपेक्षित रहती है। जबकि गुजरात में अंग्रेजों ने 1818 में मराठों से सत्ता ले ली थी और सौराष्ट्र की छोटी-छोटी रियासतों में भी मराठाओं का हस्तक्षेप कम हो गया था। मुंबई प्रेसिडेंसी से जुड़ने के कारण सूरत, अहमदाबाद, भरूच जैसे पाँच जिलों में गुजराती पाठशालाओं का प्रारंभ 19 वीं सदी के तीसरे दशक में हो गया था। 1826 में सूरत में गुजराती माध्यम का स्कूल प्रारंभ होता है। मुंबई के गवर्नर एलफिंस्टन की अध्यक्षता में मुंबई में 1820 में नेटिव स्कूल एंड नेटिव सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसमें नए पाठ्यक्रम को सिखाने के लिए गुजरात से 10 शिक्षकों

को ट्रेनिंग दी गई थी। अहमदाबाद के तुलजाराम और भरूच के दुर्गाराम मेहता जैसे शिक्षकों का गुजराती माध्यम के पाठ्यक्रम और पुस्तकों आदि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दलपतराम, नर्मद, नवलराम, करसनदास मूलजीभाई, मणीलाल द्विवेदी, महीपतराम नीलकंठ जैसे अधिकतर साहित्यकार–पत्रकार पहले शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। नर्मद ने 1850 में मुंबई में 'बुद्धिवर्धक सभा' का प्रारंभ किया और जिसमें उन्होंने 1851 में पहला लेख 'मंडली मलवाथी थता लाभ' का पठन किया। गुजराती नवजागरण की एक विशेषता यह भी है कि गुजराती में शिक्षा का प्रारंभ होने से और मुंबई में पारसी समुदाय के द्वारा गुजराती के विकास में योगदान के कारण प्रेस और पत्रकारिता से, जन जागृति का विशेष कार्य हुआ। मुंबई प्रेसिडेंसी और मुंबई यूनिवर्सिटी की स्थापना के कारण गुजराती साहित्यकारों पर पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के प्रति विशेष आकर्षण था। इसी कारण गुजराती समाज में व्याप्त धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास और सामाजिक रूढ़ियों पर इन साहित्यकारों ने तीखे प्रहार किए। इन सुधारकों–साहित्यकारों ने धर्म के क्षेत्र के पाखंड को बड़ी निर्भीकता से उजागर किया था। उनका विरोध धर्मांधता से था, धर्म से नहीं। करसनदास मूलजी ने अपनी पत्रिका 'सत्यप्रकाश' में वैष्णव महाराजाओं के पापाचार का खुला विरोध किया। गुजरात के ये साहित्यकार धर्म के नहीं, धार्मिक पाखंड और सामाजिक कुरीतियों के विरोधी थे।

संयोग से गुजरात को ऐसे अंग्रेज अफसर भी मिले जिन्होंने गुजराती भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुंबई के गवर्नर एलफिंस्टन और अन्य कई अफसरों ने गुजराती भाषा के लिए विशेष कार्य किया। फार्ब्स ने 1848 में 'गुजरात वर्नाकुलर सोसाइटी' की स्थापना की, जिसमें गुजराती के कवि दलपतराम का सहयोग मिला। सन् 1850 के आसपास अंग्रेजों की कार्यशैली और सभ्यता से प्रभावित गुजराती साहित्यकारों ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए सक्रिय कार्य किए। दलपतराम ने गुजराती समाज के आलस्य के सामने अंग्रेजों की सक्रियता से प्रभावित होकर 'हुन्नरखान की चढ़ाई' नामक प्रसिद्ध कविता लिखी, जिसमें अंग्रेजों के कौशल की प्रशंसा और हिन्दूओं को आलस छोड़ने का संदेश है।

गुजराती नवजागरण में 1850 से 1870 तक के समय में सुधारवादी प्रवृतियाँ विशेष प्रभावशाली रहती हैं, यद्यपि इस दौर में धर्म–आध्यात्म पर भी चर्चा होती रही, निबंध लिखे गए लेकिन मुख्य प्रवृत्ति सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र की विसंगतियों

को दूर करने पर अधिक झुकाव रहा। 1875 के बाद नवजागरण की सुधार प्रवृत्तियों के मुख्य उद्घोषक नर्मद के विचारों में परिवर्तन आने लगता है, उनका झुकाव आर्यधर्म की और बढ़ता है। डॉ. प्रमोद कुमार पटेल ने इसका कारण तत्कालीन सुधारकों का दंभपूर्ण आचरण और देश में धर्म के परिष्करण को माना है। नर्मद में आए परिवर्तन के संबंध में उन्होंने लिखा है, ''इस प्रकार जागरण या सुधार का उन्होंने अर्थ बदल डाला। इस दौरान धर्म तत्व, समाज रचना और नीति के विषय में उन्होंने सनातन धर्म का आलोचनात्मक चिंतन किया। पश्चिम का सुधारक केवल प्रवृतिमय जीवन, राजसी और तामसी दृष्टि से प्रेरित जीवन को ही केंद्र में रखता है। वहाँ मनुष्य का वैयक्तिक अहं केंद्रस्थ है। नर्मद को लगा कि सुधार का आधार प्राचीन आर्य धर्म पर टिका होना चाहिए।''[20] पंडित युग के साहित्यकार विशेष रूप से मुंबई यूनिवर्सिटी के स्नातक रहे थे। गुजराती नवजागरण में पंडित युग के साहित्यकारों में भारतीय धर्म साधना और संस्कृति के प्रति विशेष लगाव परलक्षित होता है। यद्यपि गोवर्धनराम त्रिपाठी का अंग्रेजों के प्रति विशेष आकर्षण रहा था, फिर भी भारतीय संस्कृति और धर्म दर्शन के प्रति उनका स्पष्ट समर्पण था। उत्तर नर्मद की विरासत लेने वाले मणिलाल द्विवेदी ने हिंदू धर्म पर अनेक ग्रंथ लिखे। आनंदशंकर ध्रुव ने भी धार्मिक चिंतन किया है।

(ख) सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

आधुनिक भारत कोसंस्कृत,पाली, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मध्यकालीन भारतीय साहित्य की समृद्ध वाचिक परंपरा विरासत में मिली है। मुगल साम्राज्य में भी इस परंपरा को बहुत क्षति नहीं पहुँची। तैमूरलंग औरऔरंगजेब जैसे कट्टरवादी राजाओं के समय कुछ विघ्न पड़े परंतु उन्होंने भी भारतीय समाज व्यवस्था में परिवर्तन का प्रयास नहीं किया। 18वीं शताब्दी में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सम्राट के प्रति विद्रोह और स्वशासी राज्यों के गठन के बीच अराजकता का माहौल बन गया था इसे अंधकार युग के रूप में व्याख्यायित किया गया। के. एन. पणिक्कर ने हरमन गेज के माध्यम से स्पष्ट किया है कि 18वीं सदी और 19वीं सदी का पूर्वार्ध केवल राजनीतिक तथा आर्थिक ह्रास का ही काल नहीं रहा है बल्कि वह भारतीय संस्कृति के परम परिष्कार का युग भी रहा है।[21] राजपूताना और पंजाब के पहाड़ी राज्यों में लघु चित्रकला का विकास हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में उड़िया, बांग्ला, तेलुगू, मलयालम तथा उर्दू जैसी कई भाषाओं में लोक साहित्य की नई दिशा खुलती है। साहित्य राज दरबारों की सीमा से निकलकर साधारण लोगों के सुख-दुख को व्यक्त करता है परंतु 19वीं सदी में यह सहज ऊर्जा विलीन होती गई और वह पश्चिम का जरूरत से ज्यादा अनुसरण करने लगा।[22] अंग्रेज सौदागरों ने यहाँ की अर्थव्यवस्था पर कब्जा करने के साथ 18वीं सदी के अंत तक राजनीतिक क्षेत्र में भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उन्होंने आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय को नष्ट-भ्रष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। मुक्त बाजार की स्पर्धा में भारत के पारंपरिक व्यवसाय छिन्न-भिन्न हो गए।भारत से कच्चा माल ब्रिटेन जाने लगा और वहाँ से तैयार माल भारत आता था। भारत के पारंपरिक घरेलू उद्योग और व्यवसाय खत्म होने लगे। उनसे जुड़े कारीगरों-शिल्पियों का बड़ा समुदाय बेकार हो गया। इसका प्रभाव भारत के समाज जीवन पर भी पड़ा।

शिक्षित समुदाय और ब्रिटिश शासन

18वीं सदी के अंत तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल में अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी, इसलिए ब्रिटिश शासन एवं पाश्चात्य संस्कृति का सर्वप्रथम प्रभाव बंगाल पर ही पड़ा। बंगाल के राममोहन राय ने पश्चिमी संस्कृति के संपर्क में आने पर भारतीय परंपराओं का आलोचनात्मक अवलोकन-निरीक्षण किया और पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय बनाने का प्रयास किया। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी संघर्ष किया। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में सुधार का गंभीर प्रयास किया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिए सन् 1816 में हिंदू कॉलेज की स्थापना की। इस हिंदू कॉलेज से ही तरुण बंगाल आंदोलन प्रारंभ हुआ। 1826 में वहाँ हेनरी विवियर डिरोजियो के शिक्षक नियुक्त होने से विद्यार्थियों में नई चेतना जागी। ''विद्यालय के ऐसे सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी डिरोजियो के इर्द-गिर्द जमघट लगाने लगे, जो प्राचीन परंपराओं की खिल्ली उड़ाते, सामाजिक एवं धार्मिक विधियों की उपेक्षा करते, नारी शिक्षा की माँग रखते तथा मद्यपान एवं गौमास भक्षण द्वारा अपने स्वतंत्र विचारों को प्रदर्शित करते थे।''[23] डिरोजियो के शिष्य ही 'तरुण बंगाल' के प्रणेता हुए। सुशोभन सरकार ने लिखा है कि ''डिरोजियो के मतानुयायी अब सक्रिय राजनीति की ओर बलात आकर्षित हो रहे थे, यद्यपि उनमें से अधिकांश राजकीय सेवाओं

में तब चले गए,जब 1833 के नए चार्टर एक्ट के आधार पर भारतीयों के लिए भी सरकारी नौकरियों का द्वार खोल दिया गया।''[24] तरुण बंगाल के प्रतिभाशाली 10 सदस्य-वरिष्ठ ताराचंद्र चक्रवर्ती (1804-55), कृष्ण मोहन बनर्जी (1813-85), राज गोपाल घोष (1815-67), रसिक कृष्ण मलिक (1810-58), प्यारेचंद मित्र (1814-83) राधानाथ सिकंदर (1813-70) रामतनू लाहिड़ी (1813-98), दक्षिणा रंजन मुखर्जी (1812-87), शिवचंद्र देव (1811-90), हरचंद घोष (1808-68) थे। इनमें से कईयों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था और वे सामाजिक रूढ़ियों पर प्रबल प्रहार करने लगे थे। 1833 के एक्ट में पाश्चात्य शिक्षा के स्वरूप के स्वीकार से तरुण बंगाल वर्ग बहुत उत्साहित था। बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी में भी युवा वर्ग अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित होता जा रहा था। इसी के साथ अपने समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों,धार्मिक अंधविश्वासों का तीव्र विरोध प्रारंभ हुआ। बंगाल में युवा निरंतर सार्वजनिक क्षेत्रों की नौकरी में भर्ती होते जा रहे थे। लाल बिहारी डे 1873 में उत्तर-पश्चिम प्रदेश की यात्रा से लौटे। उन्होंने बंगाली शिक्षित वर्ग को सरकारी नौकरियों में देखकर गौरव का अनुभव किया। कलकत्ता के प्रत्येक सार्वजनिक कार्यालय में बुद्धिमान मूल निवासी है। डिप्टी पोस्ट मास्टर, इंग्लिश स्कूल के हेड मास्टर बंगाली हैं। इतना ही नहीं उत्तर-पश्चिम में भी रेलवे एवं टेलीग्राम से जुड़े कार्यों को बंगाली संभालते हैं।[25]

बंबई प्रेसीडेंसी में पारसी समुदाय के लोग व्यापारी थे, इसलिए वे अंग्रेजों के संपर्क में पहले आए। बंबई युनिवर्सिटी के प्रारंभ होने से गुजरात के युवा नई शिक्षा के लिए बंबई आते थे। नर्मद, नवलराम, महीपतराम नीलकंठ, करसनदास मूलजी, मणीभाई नभूर्भाई द्विवेदी और गोवर्धनराम त्रिपाठी जैसे साहित्यकार-पत्रकारों ने नई शिक्षा प्राप्त की थी, गुजरात के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र के सुधार में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पश्चिमोत्तर प्रांत में यह चेतना देर से पहुँची और वहाँ सर सैयद अहमद, शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र जैसों का शिक्षित वर्ग सक्रिय हो गया था। लखनऊ में खत्री व्यवसायियों में नई शिक्षा का प्रसार शुरू हो गया था।

सामाजिक सुधार

19 वीं सदी में ब्रिटिश शासकों के द्वारा समय-समय पर लिए गए निर्णय, बनाए गए कानूनों एवं शिक्षा के क्षेत्र में किए गए सुधारों के कारण सामाजिक जीवन में परिवर्तन भी आया। बालविवाह, विधवाविवाह निषेध, देशाटन पर प्रतिबंध, जात-पाँत के कठोर बंधन भारतीय समाज को अपने पाश में जकड़े थे और इनको धर्म का आश्रय मिला था। ईसाई धर्म के प्रचार से भी परंपरावादी हिन्दू आशंकित थे। इसलिए अपरिवर्तनवादी नेता ईसाई मतावंलियों और नई शिक्षा के प्रयोग से लोहा लेते रहे। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज के कार्य बीच का रास्ता निकालने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं। 19 वीं सदी में अंग्रेजों द्वारा सामाजिक क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण कानून बनाए गए जिनका देशव्यापी प्रभाव पड़ा। सतीप्रथा विरोधी कानून (1829) और विधवा विवाह (1856) का प्रभाव बंगाल और मुंबई प्रेसिडेंसी में विशेष रूप से हुआ। गुजरात के समाज जीवन में आए बदलाव को प्रतिष्ठित समाजशास्त्री नीरा अक्षय कुमार देसाई ने जाति प्रथा, स्त्री जीवन एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं की सक्रियता से आए परिवर्तनों में विभाजित किया है। रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज में जाति व्यवस्था को धर्म का आधार था, लेकिन 19वीं सदी में उसे कानून द्वारा धर्म के संरक्षण से अलग कर दिया। अब समाज में प्रतिष्ठा और सिद्धि, योग्यता एवं पुरुषार्थ पर आधारित हो गई। ब्राह्मणों को भी इसी मापदंड से अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनी थी। कानून के द्वारा सभी को समान माना गया। परंपरा में ब्राह्मण जाति की अवज्ञा और उपेक्षा संभव नहीं थी। नीरा देसाई ने लिखा है कि गुजरात में उच्च अदालत के निर्णय द्वारा पीढ़ीगत पुरोहित, जोशी की प्रथा को दूर किया गया। इसी तरह कोई समुदाय अपने भोज में ब्राह्मणों को निमंत्रित नहीं करता था, तो अदालत ऐसे निर्णय को अपराध नहीं मानती थी।[26] 1850 में 'कास्ट डिसेबिलिटीज़ रिमूवल एक्ट' लागू किया गया जिससे यदि कोई व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो या धर्म परिवर्तन करे तो भी उसका पैतृक संपत्ति पर अधिकार बना रहेगा। समानता के अधिकार के कारण ब्राह्मण और राजपूतों के विशेषाधिकार चले गए। प्रसिद्ध महाराज लायबल केस इसका प्रमाण है। करसनदास मूलजी ने वैष्णव महाराज यदुनाथ के पापाचार के विरोध में आवाज बुलंद की। प्रतिष्ठित सर मंगलदास नभूभाई को संपत्ति के झगड़े में अदालत में उपस्थित रहना पड़ा। भाट, बारोट जाति में नियम था कि कुछ कारणों से वह अपनी संतान की जान लेलें या कोई आत्महत्या का प्रयास करे तो जाति दंड नहीं करेगी। परंतु अन्य कारणों से यदि ऐसा होता है तो वह

अपराध माना जाएगा। ऐसी एक घटना में 1818 की अदालत में 3 साल की सजा दी थी।[27] परंपरा में ब्राह्मण ही शिक्षा लेते थे, लेकिन नई परिस्थितियों में बनिया और कायस्थ भी उच्च शिक्षा लेने लगे। नर्मद ने इसका स्वागत किया। सरकार ने इससे प्रेरित होकर परिपत्र निकाला कि सरकार संचालित पाठशालाओं में अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों के बालकों को भी ब्राह्मण, वैश्य जितना ही अधिकार है। यदि कोई शिक्षक उन्हें प्रवेश देने से मना करेगा तो उसे गंभीर दंड दिया जाएगा।[28]

डॉ नीरा देसाई ने इसके भी उदाहरण दिए हैं कि सरकार कानून के पालन में बहुत शक्ति नहीं दिखाती थी, जिससे हिंदू और मुसलमानों के रीति-रिवाजों के अनुसार व्यवहार करने में परेशानी नहीं आती थी। बालविवाह में बालिका की उम्र 10 वर्ष से नीचे विवाह योग्य मानी जाती थी। जस्टिस रानाडे और बेहरामजी मालबारी के प्रयत्नों से इस बारे में कानून 1891 में बना। उस समय के अग्रणी समाज सुधारकों के बाल विवाह हुए थे। नवलराम पंड्या का विवाह 14 वर्ष की उम्र में 9 वर्ष की कन्या के साथ हुआ। इच्छाराम देसाई का 13 वर्ष की कन्या के साथ विवाह हुआ था। इसी तरह नर्मद का पहला विवाह 12 वर्ष की उम्र में हुआ था।

शिक्षा, रेल यातायात आदि के कारण भी गुजरात के समाज जीवन में बदलाव परिलक्षित होता है। लेकिन गुजरात में स्त्रियों की स्थिति बहुत आशास्पद नहीं थी। भिन्न-भिन्न जातियों में स्थिति अलग-अलग थी। जाडेजा (राजपूत) और निरुआ पटेलों में बेटी को दूध पीती (जन्मते ही मार देना) की प्रथा से जैन बनियों का जाति को कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। कारीगरों के धंधे टूट जाने से बुनकर या कुम्हार की स्त्रियों को पड़ने वाली कठिनाई, संपन्न बनिया, ब्राह्मणों की स्त्रियों को नहीं आती थी। ऊँची जाति की स्त्रियाँ घर से बाहर पैर नहीं रख सकती थीं। वैसी बेचैनी परिश्रमी जाति की स्त्री अनुभव नहीं करती थीं।[29] 19वीं सदी के छठवें दशक में स्त्री शिक्षा का प्रारंभ हुआ। भारत की 1901 की जनगणना के दस्तावेज के अनुसार अहमदाबाद, भरूच, खेड़ा, पंचमहल और सूरत के स्कूलों में 1881 में क्रमशः 3,3,1,1, 7 और 1891 में 6, 8,3,2,12 एवं सन् 1901 में 17, 18, 9, 8, 24 कन्याओं की संख्या थी।[30]

गुजरात में उस समय ऐसी प्रबल मान्यता थी कि स्त्री के मोक्ष के लिए विवाह आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हो तो उससे मृत्यु बेहतर है, इस कारण राजपूत

और लेउवा पटेल की कन्याओं को दूध पीती करने की प्रथा प्रचलित हुई। जब इन दोनों जातियों में स्त्री, पुरुष की संख्या में इतने बड़े अंतर की ओर सरकार का ध्यान गया। मेजर जे. आर. केली और सांतलपुर के जाडेजा ठाकुरों के बीच करार हुआ कि वे अपनी-अपनी ठकुरातों में नवजात कन्या हत्या नहीं होने देंगे। उन्होंने स्वीकारा कि जिले में कन्या के जन्म को रजिस्टर करवाएँगे। यदि कन्या की मृत्यु हो तो सरकार के बाबू को इसकी सूचना देनी होगी । वह जब तक जाँच पूरी करे और प्रतिष्ठित चार व्यक्तियों को दिखा दे, उसके बाद ही अंतिम संस्कार होगा।[31]

गुजरात में विधवाओं की बहुत ही दयनीय और पराधीन स्थिति थी। आजीवन वैधव्य उच्च जातियों में था। अधिकतर समाज सुधारक उच्च जाति के थे, इसलिए इस पर काफी चर्चा हुई है। दुर्गाराम मेहता विधुर हुए, अपनी व्यथा का अनुभव करके उन्होंने विधवा विवाह के लिए सक्रिय आंदोलन चलाया। दूसरी ओर परंपरावादी जहाँ दुर्गाराम भाषण करते उस सभा एवं मंच को अपवित्र मानकर उसे फिर से पवित्र करते। करसनदास मूलजी और नर्मद ने विधवा पुनर्विवाह के लिए सक्रिय आंदोलन चलाया। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे। नर्मद ने स्वयं विधवा से विवाह किया। करसनदास मूलजी ने अपनी जाति के 41 साल के संपन्न विधुर माधवराम का उसी जाति की विधवा धनकोर के साथ पुलिस के संरक्षण में 200 आमंत्रितों के बीच 2 मई 1871 में विवाह करवाया।[32] उस समय के सभी समाचारपत्रों ने इसका विस्तृत विवरण प्रकाशित किया था। इस विवाद पर प्रबल विचार-विमर्श हुआ, इसे अच्छा नहीं माना गया।[33]

गुजरात के मुस्लिम समाज का बड़ा वर्ग स्थानीय हिंदुओं के इस्लाम धर्म स्वीकार करने से बना होने के कारण उनका रहन-सहन प्राचीन संस्कारों से मुक्त नहीं रह सका।[34] कुरैशी ने अहमदाबाद की हजरत पीर मोहम्मद शाह लाइब्रेरी से 18वीं और 19वीं सदी में लिखी उर्दू की दो पांडुलिपियों 'यक्रीन' लिखित 'फिकहुल मुबीन' (1768-1769 ई.) और 'इरफ़ान' लिखित 'फिकहे आसान' (1825-1826 ई.) द्वारा हिन्दुओं के मुस्लिम जीवन प्रणाली के प्रभावों को रेखांकित किया है।[35] इरफान ने मोहर्रम के बारे में लिखते हुए अपना स्पष्ट मत दिया है कि मोहर्रम महीने में लोग छोटे छोटे बालकों को हरे रंग के वस्त्र पहनाते, गले में नाड़ा पहनाते जो लगभग जनोई जैसा ही था, रेवड़ी बाँटते और उन बच्चों को इमाम हुसैन के फकीर कहते। वह बच्चा मोहल्ले में भीख माँग कर कुछ

दिन तक खाता था। इरफान कहता है कि यह सभी प्रथाएँ मुसलमानों ने हिंदुओं के प्रभाव से अपनाई है। इरफान एक शेर में कहता है कि मोहर्रम की ये सब 'विद अतो' (नई बातें) मात्र 300 वर्ष से प्रारंभ हुई हैं। वह आह्वान करता हैकि इसका खंडन करने वाला विद्वान किसी आधारभूत ग्रंथ का प्रमाण देकर मुझे गलत साबित करे।[36]

18वीं सदी और 19वीं सदी में गुजरात का पारसी समाज समृद्ध था। सूरत और दक्षिण गुजरात में निवास करने वाले पारसी समाज ने गुजरात के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस समय से गुजरात में पारसी, जमीदार, व्यापारी, सरकारी एवं रेलवे के कांटेक्टर, वकील, इंजीनियर और डॉक्टर जैसे ऊँचे पदों पर थे। ग्रामीण क्षेत्र के पारसीबहुत उत्साही एवं बलवान थे। दस्तूर कुटुंब की कई स्त्रियाँ किश्ती बनाने का काम कर धन उपार्जन करती थीं।[37]

गुजरात के ईसाई समाज का विभाजन दो रूप में किया जाता है। यूरोप से आए हुए ईसाई और दूसरे, अन्य धर्म छोड़कर ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले गुजराती ईसाई। विदेशी ईसाई प्रशासन एवं सेना में थे, जिन्हें दूसरा समुदाय सम्मान से देखता था। गुजराती ईसाई अधिकतर उस समय मध्य गुजरात और उत्तर गुजरात में अधिक थे। थॉमस ने लिखा है कि गुजराती ईसाई शाकाहार, माँसाहार दोनों करते थे। उनका भोजन और रहन-सहन उनके मूल समाज के अनुसार था, यद्यपि पढ़े-लिखों में पश्चिमी सभ्यता की जीवन पद्धति आदर्श थी। प्रारंभ में उनके नाम भी देसी ही थे, परंतु दूसरी-तीसरी पीढ़ी से ईसाई नाम रखना प्रारंभ हो गया।[38]

पश्चिमोत्तर प्रांत में गुजरात की अपेक्षा समाज सुधार के प्रयत्न अधिक नहीं हुए। तत्कालीन हिंदी साहित्यकारों भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट के लेखों से पता चलता है कि समाज सुधार के लिए जिस तरह बंगाल और महाराष्ट्र में सामाजिक संगठनों ने कार्य किया, वैसा इस प्रांत में नहीं हुआ। यहाँ बालविवाह के विरोध में तो कुछ सक्रियता दिखी, लेकिन विधवाविवाह के बारे में परंपरित समाज का पक्ष ही प्रबल रहा। 19वीं सदी में स्त्री शिक्षा पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। हिंदी प्रांत के समाज में अधिकतर यही मानसिकता रही कि लड़कियाँ पढ़-लिख कर स्वेच्छाचारी बन जाती हैं।

देशज भाषाओं में शिक्षा और नई शिक्षा

कंपनी सरकार द्वारा 18वीं सदी के अंत तक अपनी स्थिति मजबूत कर लेने के बाद भी शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रुचि नहीं दिखाई थी। लेकिन ईसाई मिशनरियों-विलियम कैरी, मार्शमैन और वार्ड ने अंग्रेजी स्कूल स्थापित किए थे। फिर भी, वे भारतीयों में नई शिक्षा लेने के लिए रुचि नहीं जगा सके। अधिकार पत्र में विशप की स्थापना एवं धार्मिक और नैतिक सुधार का प्रावधान हो गया तो अलैग्जेंडर डफ (1806-1878) द्वारा मिशनरी कार्य का दूसरा दौर प्रारंभ हुआ। डफ के प्रभाव के चलते मिशनरी सोसायटी समर्थित मुंबई में विल्सन कॉलेज (1832) मद्रास में क्रिश्चियन कॉलेज (1837) नागपुर में हिसलप कॉलेज (1844) आगरा में सेंट जॉन्स कॉलेज (1853) और मसलीपटम में नावेल कॉलेज स्थापित हुए।[39] मिशनरियों के शिक्षा संबंधी कार्य को लेकर भारतीय भद्र वर्ग में कई पूर्वग्रह थे। लेकिन युवा वर्ग को अंग्रेजी ज्ञान से तरक्की और लाभ के अवसर दिखे। चार्ल्स ग्रांट अज्ञान में जकड़े भारतीयों का उद्धार करने का एकमात्र मार्ग, पश्चिमी ज्ञान अंग्रेजी के माध्यम से पहुँचाने में दृढ़ विश्वास रखता था। गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने विलियम एडम को बिहार और बंगाल की शिक्षा की स्थिति का सर्वेक्षण का कार्य सौंपा उन्होंने निष्ठा से विस्तृत छानबीन करके रिपोर्ट तैयार की। उन्होंने लिखा है कि भारतीय समाज में विद्वान और शिक्षकों का अभिजात्य वर्ग में बहुत सम्मान था। तत्कालीन शासक और संपन्न वर्ग के लोग विद्या धन के लिए समुचित ध्यान देते थे।[40] रिपोर्ट्स के अनुसार' संस्कृत विद्या के केंद्र बनारस, उज्जैन, तिरहुत, नादिया, राजशाही, तंजौर और त्रिवेंद्रम में थे। 1818 में कलकत्ता में संस्कृत के अध्ययन के 28 विद्या मंदिर थे जिनमें 173 छात्र थे। 1801 में 24 परगना में 190 और नादिया में 31 विद्या मंदिर थे जिनमें 747 छात्र थे । 1834-35 में एडम ने संस्कृत शिक्षा के 38 महाविद्यालय, हिंदू कानून के 19, सामान्य साहित्य के 13, तर्कशास्त्र के दो,और वेदांत तांत्रिक पौराणिक और आरोग्य विद्या के 4 महाविद्यालय राजशाही में पाए। उनके अनुसार बंगाल में 126000 विद्या व्यवसायी लोग संस्कृत के अध्ययन अध्यापन में लगे हुए थे। इस्लामिक अध्ययन के केंद्र जौनपुर, लखनऊ और पटना थे।

गवर्नर जनरल एडम ने सार्वजनिक शिक्षा के लिए 10 सदस्यों की एक सामान्य समिति नियुक्त की थी। समिति को दो समस्याओं पर विचार करना था कि शिक्षा का स्वरूप क्या होगा और यह शिक्षा किसको दी जाएगी। समिति के प्राच्य विद्याविद् संस्कृत और अरबी-फारसी की शिक्षा के पक्षधर थे। लेकिन

ईसाई मिशनरियों और हिंदू समाज का प्रगतिशील वर्ग अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी विज्ञान का पक्षधर था। मैकाले के शिक्षा परिषद के अध्यक्ष बनने पर अंग्रेजी शिक्षा को प्रबल समर्थन मिला। जनरल कमेटी में कई विद्वान भारतीय भाषाओं में शिक्षा के समर्थन में थे। लेकिन सरकार ने आदेश दिया कि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे जबकि माध्यमिक शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों। ऐसा नहीं कि इस पर बहस नहीं हुई। बंबई प्रेसीडेंसी में शिक्षा के माध्यम पर शिक्षा मंडल के अध्यक्ष सर एरस्कीन पेरी, कर्नल जारविस और दूसरे भारतीय सदस्यों के बीच तीखी बहस हुई। जगन्नाथ शंकर सेठ ने अपने मंतव्य में कहा, ''यदि हमारा उद्देश्य भारतीय जाति में ज्ञान का प्रचार और मानसिक उन्नयन है, तो मेरा यह मत है कि यह ज्ञान उन्हें उनकी अपनी भाषा में दिया जाए। भला और किस उपाय से हम यह आशा कर सकते हैं कि हम कभी स्त्रियों में शिक्षा का व्यापक प्रसार करेंगे? मैं फिर कहता हूँ कि मैं अंग्रेजी की शिक्षा को किसी प्रकार भी निरुत्साहित नहीं करना चाहता, पर मैं विश्वास करता हूँ कि आम जनता की पहुँच से बाहर है।''[41]

बंगाल, मद्रास और मुंबई प्रेसिडेंसी में से अंग्रेजी शिक्षा का सबसे अधिक प्रसार बंगाल प्रेसिडेंसी में हुआ और उसके बाद मद्रास में। बंगाल में ईसाई मिशनरियों के स्कूलों, तरुण बंगाल आंदोलन एवं ब्रह्म समाज के कारण वहाँ अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। शिक्षा की 'उन्नत पद्धति' के विकास के लिए राजा राममोहन राय ने लार्ड आर्महर्ट्स को कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज खोलने के विरोध में पत्र लिखा था। जिसमें उन्होंने नवयुवकों के 12 वर्ष संस्कृत व्याकरण की बारीकियों में खर्च करना निरर्थक बताया,और उपयोगी विज्ञान को यूरोपीय प्रतिभाशाली विद्वानों से सिखाने की अपील की।[42] मद्रास में शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरियों का वर्चस्व रहा। मुंबई प्रेसिडेंसी में शिक्षा की स्थिति बंगाल से अलग थी। यहाँ 1818 तक मराठों का आधिपत्य था, इसलिए संस्कृत और देशी भाषाओं में अध्ययन-अध्यापन की जीवंत परंपरा थी। लेकिन अंग्रेजों के आधिपत्य हो जाने पर भारतीयों की शिक्षा की समस्या उनके सामने आई। 1820 में मुंबई सरकार ने नेटिव स्कूल बुक एंड नेटिव स्कूल सोसायटी की स्थापना की, जिसका नाम सन् 1827 में दि बोंबे नेटिव एजुकेशन सोसायटी कर दिया गया। इसने मराठी और गुजराती में स्कूली शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार करने, शिक्षकों को प्रशिक्षित करने और अंग्रेजी सिखाने के लिए स्कूल खोलने

जैसे उत्तम कार्य किए। मुंबई, थाणे, पनवेल और पूना इन चार जिलों में अंग्रेजी स्कूल खोले गए जिनके हेड मास्टर अंग्रेज थे। 1840 शिक्षा बोर्ड स्थापित हुआ जिसके अध्यक्ष बंबई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर एरस्किन पेरी बनें। बोर्ड की नीति बनी कि विद्यालयों में भारतीय और अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन एक साथ किया जाए, लेकिन कॉलेज में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे। फिर भी, मातृभाषा में शिक्षा देने वाले अनेक विद्यालयों में छात्र अध्ययन करते रहे। ऐसे विद्यालयों में 1853 में 12000 छात्रों ने शिक्षा प्राप्त की।[43]

पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध में बंगाल की तरह अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ नहीं हो पाया। अवध तो 1856 में कंपनी सरकार के अधीन हुआ था। वास्तव में उत्तर पश्चिम प्रांत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति जनमानस में ऐसी भावना घर कर गई थी कि यह ईसाई धर्म के प्रचार का और ईसाई बनाने का षड्यंत्र है। बिहार में भी उत्साह कम था। यद्यपि आगरा कॉलेज (1824) दिल्ली कॉलेज (1825) बरेली कॉलेज (1827) खोले गए लेकिन अंग्रेजी शिक्षा में विशेष सुधार नहीं दिखा। इस स्थिति को देखकर लेफ्टिनेंट टामसन ने इस उदासीनता के कारण 8 स्कूलों को बंद कर दिया। शिक्षा के पक्षधर होने के कारण टामसन ने जमीदारों से चंदा उगाहकर और उतना सरकार के खजाने से दिलवाकर हर तहसील में एक स्कूल खोला, जिसमें हिंदी, उर्दू, हिसाब, नाप-जोख, इतिहास, भूगोल, रेखागणित और दूसरे विषय पढ़ाए जाते थे।[44]

शिक्षा के क्षेत्र में समय के साथ गुरुकुल परंपरा का, रूप बदला अवश्य था। मुगल काल में भी देशी जन शिक्षा व्यवस्था विकेंद्रित थी। टोल और मदरसा में क्रमशः संस्कृत एवं अरबी-फारसी के उच्च अध्ययन की सुविधा थी। परमेश आचार्य ने बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर एवं दस्तावेजों का साक्ष्य देकर लिखा है कि 'नवद्वीप' बनारस बन गया था, 'टोल' ऐसी शिक्षा के केंद्र थे। उच्च शिक्षा केंद्रों में रखरखाव के लिए नवद्वीप के राजा कृष्णचंद और राजशाही की रानी भवानी ने जमीनें दीं। उन्हीं की कोशिशों के कारण उस काल में बंगाल के नादिया और राजशाही जिले संस्कृत शिक्षा के केंद्र बन गए। इसी प्रकार वीरभूमि में फारसी स्कूल विकसित हुए। एक मुस्लिम जमीदार असदुल्ला ने वहाँ शिक्षा और दूसरे धर्मार्थ कार्यों के लिए अपनी आमदनी का आधा हिस्सा दान कर दिया था। बंगाल के लगभग सभी जिलों में मदरसा नामक फारसी और अरबी स्कूल तथा टोल नामक संस्कृत स्कूल थे। उच्चतर शिक्षा के इन स्कूलों की देखभाल जमींदारों

और धनी हिंदुओं तथा मुसलमानों के दान से की जाती थी।[45] इसके अतिरिक्त तब तक समग्र भारत में पाठशाला और मकतब थे, जहाँ हिंदू और मुसलमान बच्चों को निशुल्क शिक्षा दी जाती थी। इन्हें व्यापारी एवं खेतिहर वर्ग चलाते थे। 1835 में डब्लू. एडम के अवलोकन के अनुसार पाठशाला एवं मकतब और टोल तथा मदरसों के बीच कोई संबंध या परस्पर निर्भरता नहीं थी।[46] परमेश आचार्य ने देसी शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं:

1. बाहर से नियंत्रण करने वाली कोई अफसरशाही नहीं थी। 2. न ही कोई समान परीक्षा व्यवस्था। 3. देशी भाषा–भाषी स्कूल आमतौर पर एक शिक्षक वाली संस्थाएँ थीं। अध्यापक आमतौर पर छात्रों से थोड़ी सी फीस या ग्रामीणों द्वारा समय–समय पर दी जाने वाली सहायता के सहारे जीवन यापन करते थे। 4. ऐसा लगता है कि शिक्षक पढ़ाई की खास परंपराओं औरतरीकों का पालन करते थे, जिनसे एक स्थान से दूसरे में बहुत कम अंतर हुआ करता। लेकिन शायद शिक्षकों की क्षमता पर आधारित स्तर में फर्क पड़ जाता था। 5. लिखने के चार मुख्य तरीके थे–जमीन पर लिखना, ताड़ केपन्नों पर लिखना, केले केपत्तों पर लिखना और कागज पर लिखना।[47]

गुजरात की ग्राम पाठशालाओं के बारे में भारतीबेन शेलत ने लिखा है: ''गुजरात में सामान्य रूप से अध्ययन करने का समय 2 से 3 वर्ष का था। हर रोज शिक्षक को अनाज, सब्जी या नगद पैसे देने की परंपरा थी, जिस कारण शिक्षक विद्यार्थी की उपस्थिति के बारे में अधिक सजग रहता था। इसके अतिरिक्त अमुक पढ़ाई पूरा करने के बाद हफ्तों में शिक्षक को मानदेय मिलता था इसलिए पढ़ाई पूरी करवाने में वह विशेष ध्यान देता था। पढ़ाई पूरी करने के बाद विद्यार्थी 12–13 वर्ष की उम्र के बाद किसी साहूकार की पीढ़ी पर बैठता और वहाँ 1– 2 वर्ष व्यावहारिक ज्ञान लेकर किसी रुचिकर व्यापार में लग जाता।[48] 1829 में सूरत, भरुच,खेड़ा और अहमदाबाद जिलों में ग्राम पाठशालाकी संख्या 282 थी। यद्यपि समाज में अस्पृश्यता का विचार अधिक होने के कारण निम्न वर्णों के विद्यार्थी प्रवेश से वंचित रहते थे। ''विद्यार्थियों में अधिकतर हिंदू होते। उनमें 30 प्रतिशत ब्राह्मण थे, उनसे फीस नहीं ली जाती थी। इसके अलावा पटेल, सुनार,बनिया जैसी उच्च जाति के बालक 70 प्रतिशत होते थे। विद्यार्थियों की आयु सामान्य रूप से 6 से 14 वर्ष की होती। अस्पृश्यता का चलन होने से दलित विद्यार्थियों को पाठशाला में प्रवेश नहीं दिया जाता था। उन बालकों को उनके

पुरोहित अलग पढ़ाते थे।''[49] श्री डाह्याभाई देरासरी ने 'साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन' पुस्तक में अंग्रेजों द्वारा स्कूल खोलने से पहले पाठशालाओं की शिक्षा का वर्णन किया है: ''सुबह-सवेरे पाठशाला में पढ़ाई आरंभ होती। देर करने वाले लड़कों के लिए प्रत्येक मुहल्ले में दो लड़के जाते। उनको समझाकर, धमकाकर और अंत में टंगा-टोली करके उठाकर पाठशाला ले आते। दोपहर को भोजन की छुट्टी होती। छुट्टी होने के कुछ समय पहले लड़के शिक्षक (मेहताजी) के सामने घेरे में खड़े होकर अंक और पहाड़ों का मौखिक पाठ करते। शिक्षक को अपने कार्य की तुलना में वेतन बहुत कम मिलता था। प्रत्येक लड़का पाई पैसा लाता, आम के सीजन में आम और खिन्नी आदि फल दिए जाते। लड़कों के घर शादी-विवाह का अवसर हो तो शिक्षक को सपरिवार भोजन के लिए न्योता मिलता था।''[50]

श्री धर्मपाल ने विलियम एडम के सर्वेक्षण के आधार पर बताया है कि बंगाल और बिहार में एक लाख स्कूल अवश्य होंगे जिनमें गरीब से गरीब परिवारों के बच्चे स्कूल जाते थे और उनके माता-पिता इसका ध्यान रखते थे। इन स्कूलों में 8-10 दिन स्लेट पर या भूमि पर अंगुलियों से स्वर-व्यंजन लिखना सिखाया जाता है। फिर पेंसिल या सफेद मिट्टी (खड़िया) से। फिर ताड़ पत्र या भरुई की लेखनी से। स्याही बनाने की देसी विधि उसने लिखी। व्यंजनों को जोड़ना, शब्द बनाना, वर्णोच्चारण सीखना, गिनती सीखना, धन, भार एवं माप की गिनती सीखना, विशिष्ट व्यक्तियों, वस्तुओं एवं स्थलों के नाम लिखना सीखना आदि साल भर में सिखा दिया जाता है। विशेषकर गाँव में खेती से संबंधित लेखा अधिक सिखाया जाता है। कुछ कविताएँ तथा आख्यान लिखना और याद करना भी सिखाते। एडम को इस पर चिंता थी कि ऐसी कोई स्पष्ट नैतिक शिक्षा यानी रिलीजस शिक्षा यहाँ इन स्कूलों में नहीं दी जाती जैसे इंग्लैंड में उन दिनों दी जा रही थी।[51] इस प्रकार भारत की विकेंद्रित शिक्षा व्यवस्था सहयोगी प्रयासों से चल रही थी और जीवंत थी, लेकिन ब्रिटिश सरकार इस स्थानीय व्यवस्था के स्वत: स्फूर्तता के पहलू को समझने में असमर्थ रही।[52] देशज भाषाओं में स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में बंगाल और मद्रास से बंबई प्रेसिडेंसी अधिक आगे रही। यहाँ देशज भाषा में शिक्षा के विद्यालयों की संख्या 1835 में 216 थी। मुंबई के गवर्नर माउंट स्टूअर्ट एलफिंस्टन ने भारतीयों की उन्नति के लिए शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया। उनका मत था कि अंग्रेजी भाषा में शिक्षा केवल मुंबई नगर तक सीमित रहेगी। इसलिए उन्होंने पाश्चात्य विद्या के प्रसार के लिए

भारतीय भाषाओं का उपयोग उचित माना एवं प्राथमिक शिक्षा की सुनियोजित पद्धति के लिए विचार विमर्श किया।[53] एलफिंस्टन उन अंग्रेज विद्वान प्रशासकों की श्रेणी में आते थे, जो भारतीय भाषाओं में विदेशी ज्ञान को देने के पक्ष में थे। जब बोर्ड ऑफ डायरेक्टर ने देशी महाविद्यालय खोलने के विरुद्ध आदेश पारित किया, तो 1824 में शिक्षा के मिनिट्स नं. 7 में उन्होंने स्पष्ट लिखा: ''मूल निवासियों में ज्ञान के प्रसार के लिए निम्नलिखित मुख्य उपायों की आवश्यकता है–पहला–मूल पाठशालाओं में शिक्षा के तरीकों में सुधार तथा स्कूलों की संख्या में बढ़ोतरी। दूसरा–स्कूलों में स्कूली पुस्तकें उपलब्ध कराना। तीसरा निम्न वर्ग के मूल निवासियों को ऐसे प्रोत्साहन देना जिनसे कि वे पढ़ने की इन सुविधाओं का लाभ उठा पाएँ। चौथा–यूरोपियन विज्ञान तथा शिक्षा की उच्च शाखाओं के सुधार के लिए शिक्षा के स्कूलों की स्थापना। पांचवाँ–मूल भाषा में नैतिक और भौतिक विज्ञान की किताबों की तैयारी तथा प्रकाशन के लिए धन उपलब्ध कराना। छठा–उन लोगों के लिए अंग्रेजी शिक्षा के स्कूलों की स्थापना जो इसे प्रतिष्ठित (संस्थापित) भाषा के रूप में सीखना चाहते हैं और यूरोपियन खोजों को ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम बनाना चाहते हैं। सातवाँ ज्ञान की शाखाओं तक पहुँचने के लिए मूल निवासियों को प्रोत्साहित करना।[54] उन्होंने गरीब जनता को शिक्षित करने पर जोर देते हुए तर्क दिया कि सभी देशों में अब यह अच्छी तरह से समझा जाता है कि गरीबों की खुशी बहुत हद तक उनकी शिक्षा पर निर्भर करती है। वह सिर्फ इसके द्वारा ही बुद्धिमानी और स्व–सम्मान की आदतें प्राप्त कर सकते हैं जिनसे अन्य उत्तम गुण प्राप्त होते हैं। यदि कोई ऐसा देश है जिसे इन आदतों की आवश्यकता है तो वह यह है। हमने अक्सर बालविवाह प्रथा को बढ़ती जनसंख्या की बुराइयों के बारे में सुना है, जैसे उत्सव के किसी अवसर पर अपनी जिंदगी भर की कमाई को खर्च करना और हमें रैयतों की और मजबूरियाँ भी मालूम हैं, जिनसे वे साहूकारों के शिकार बन जाते हैं। उनकी अच्छे कपड़ों और मकानों के लिए उदासीनता जिसे कई बार उन पर लगे सरकारी कर को कम करने के तर्क के रूप में रखा जाता है और अंत में उनकी रक्षा के लिए बनाए गए कानूनों का भी वेअसर होना क्योंकि किसी भी व्यक्ति में इतनी हिम्मत नहीं होती कि वह उनका फायदा उठा सके। इस सबका केवल एक ही इलाज है और वह है शिक्षा।[55] दि बंबई नेटिव एजुकेशन सोसायटी की स्थापना की फलस्वरुप 10 गुजराती पाठशालाएँ–सूरत में तीन अहमदाबाद और भरूच में दो–दो, खेड़ा,

धोलका और नडियाद में एक-एक खोली गई। जिनमें तालीम प्राप्त शिक्षकों द्वारा शिक्षा दी जाती थी।[56] गुजराती में पाठ्यपुस्तकें तैयार करने में अहमदाबाद के तुलजाराम एवं सूरत के दुर्गाराम मेहता ने उत्तम कार्य किया। प्रारंभ में तो मराठी भाषा से तर्जुमा करके पाठ्यपुस्तक के तैयार की गईं। यहाँ तक कि मराठी व्याकरण के आधार पर गुजराती व्याकरण तैयार किया गया, लेकिन बाद में टेलर, फॉर्ब्स और नर्मद ने गुजराती व्याकरण लिखा। मराठी से किए गए तर्जुमा के बारे में श्री डाह्याभाई देरासरी ने व्यंग्यात्मक भाषा में लिखा है, 'अधिक आश्चर्यजनक यह है कि गुजराती भाषा के व्याकरण के लिए मराठी शास्त्रियों ने मराठी व्याकरण का गुजराती तर्जुमा (अनुवाद) किया। उसे देखकर लगता है कि वह गुजराती बोली के नियमों से अनजान थे।' [57] 1857 में अहमदाबाद में प्रथम ट्रेनिंग सेंटर की स्थापना हुई। साथ ही ग्रंथमाला तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। इस कार्य में अहमदाबाद के प्रथम शिक्षक श्री लालभाई रूपराम ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सरकार ने श्री महीपतराम रूपराम नीलकंठ को नई शिक्षा से परिचित होने के लिए सरकारी खर्च पर इंग्लैंड भेजा। उन्होंने अपने सुझाव सरकार को भेजे। 1862 में ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल बनकर उन्होंने सरकार से 'गुजराती शालापत्र' प्रारंभ करने की अनुमति ले ली। इसका उन्होंने 1862 से 1870 तक संपादन किया। उसके बाद नवलराम पंड्या 1870 से 1888 तक संपादक रहे। यह 'गुजराती शालापत्र' 1946 तक नियमित रूप से प्रकाशित होता रहा। प्रारंभ में गुजराती शालापत्र का उद्देश्य स्कूल के शिक्षकों को प्रबुद्ध करना था, परंतु इसके बाद समाज का अज्ञान दूर करने, सांसारिक एवं सामाजिक संदर्भ में परंपरा से चले आ रहे भ्रमों, कुरीतियों का सत्यासत्य प्रजा के समक्ष रखकर उसकी आँख उघाड़ना था, शिक्षण, विज्ञान, धर्म और संस्कृत की चर्चा-विचारणा करने का हेतु था। समाज में सुधार लाने के लिए शिक्षक से योग्य दूसरा कौन होगा ? यह सत्य कुशाग्र बुद्धि के धनी महीपतराम समझ गए थे।'[58] गुजरात में उच्च शिक्षा की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। मुंबई विश्वविद्यालय के प्रारंभ होने से ही इस और रुझान बढ़ा था। 1861 में प्रथम कॉलेज गुजरात प्रोविंश्यल कॉलेज अस्तित्व में आया जिसमें एक यूरोपियन और दो भारतीय अध्यापक थे। इसमें कानून, तर्कशास्त्र, गणित और चित्र का अध्यापन होता था। परंतु 1872 में विद्यार्थियों की कम संख्या के कारण इसे बंद कर दिया गया। 1879 में फिर से प्रारंभ किया गया। बड़ोदरा में 1879 में कॉलेज का प्रारंभ हुआ, 1890 तक इसमें आर्ट्स, विज्ञान, सिविल

इंजीनियर और खेतीबाड़ी का शिक्षण प्रारंभ हो गया था। भावनगर में शामलदास कॉलेज 1885 में प्रारंभ हुआ। गाँधी जी ने एक सत्र यहाँ शिक्षा प्राप्त की थी।[59] स्त्री शिक्षा का प्रसार बहुत कम था, लेकिन 1850 के आसपास इस ओर प्रयास हुए। इससे पहले मिशनरियों के सूरत में एक और सौराष्ट्र में दो स्कूल थे। गुजरात वर्नाकुलर सोसायटी (1848) ने लड़कों और लड़कियों की मिश्र स्कूल का प्रारंभ किया था। इस बारे में डॉ कोलीयार के कथन को श्री शिवप्रसाद राजगोर ने उद्धृत किया है,"लड़कियों को विद्याभ्यास करवाना ऐसा उत्तम मार्ग है, आखिरकार इस और लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। यदि तुम नीति की शिक्षा देना चाहते हो, तो पुत्र की माँ को शिक्षा दिलवाना क्योंकि इससे बालक के मन में बात अच्छी तरह उतर जाती है।"[60] गुजरात में कन्या स्कूलों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कहीं 1854–60 के बीच स्कूलों में 4669 की संख्या में 1839 लड़कियाँ थीं, जिनमें 1405 हिंदू, 141 मुसलमान, 292 ईसाई एवं एक अन्य जाति की थी।[61]

पश्चिमोत्तर प्रांत में बहुत कम शिक्षाप्राप्त वर्ग था। बंगाल और मुंबई की तरह यहाँ उस तरह की चेतना नहीं थी। 1857 के सैनिक विद्रोह एवं स्वाधीनता की ललक के कारण भी अंग्रेजों का इस क्षेत्र के प्रति पूर्वग्रह हो सकता है। यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कंपनी का भी कोई कार्यालय उस क्षेत्र में नहीं था, छावनियाँ अवश्य थीं। 1857 में बंगाल, मद्रास और मुंबई में विश्वविद्यालय खुल चुके थे, जबकि युक्त प्रांत में इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1887 में खोला गया। हंटर आयोग की रिपोर्ट के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध की 1891 में आबादी के 97% निरक्षर थे । संपन्न वर्ग की शिक्षा के प्रति कम दिलचस्पी थी। सरकारी अनुदान से स्कूल, कॉलेज चलाए जाने में यह प्रांत विफल रहा। शहरी शिक्षितों द्वारा बनाई गई अलीगढ़, इलाहाबाद और बनारस इंस्टीट्यूट जैसी सार्वजनिक संस्थाओं में भी यह साबित नहीं हो सका कि मध्यवर्ग ने सभ्यता की ओर कोई उल्लेखनीय प्रगति की है।[62] भारतेंदु ने हंटर आयोग को लिखे पत्र में सरकारी स्कूलों से देसी शिक्षा संस्थाओं की संख्या अधिक बताई थी। हिंदू बालकों के लिए चार चटसाल, संस्कृत स्कूल, धार्मिक और बहीखाता स्कूल थे, जबकि मुसलमान विद्यार्थियों के लिए तीन मकतब, अरबी स्कूल और कुरान स्कूल चलाए जाते थे। मुस्लिमों के स्कूल मस्जिदों में ही मुख्य रूप से होते थे। एक और, शिक्षा की ऐसी अधोगति थी, दूसरी और, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी–

उर्दू विवाद ने युक्त प्रांत के हिंदू और मुसलमान भद्र वर्ग की दूरियों को ओर बढ़ा दिया। यद्यपि 1837 में जब कोर्ट में नागरी लिपि को मान्यता दी गई थी, तब फारसी समर्थक मुसलमानों और अंग्रेजों की कूटनीति के कारण यह निर्णय वापस ले लिया गया। एक लंबे समय तक राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' को उर्दू और राजा लक्ष्मणसिंह को हिंदी समर्थक के रूप में माना जाता रहा है। श्री वीरभारत तलवार ने रस्साकशी में विस्तृत विवरण देकर राजा शिवप्रसाद के बारे में प्रचारित किए गए भ्रमों को दूर किया और उनकी रचनाओं में हिंदी के विस्तृत नमूने और सरकार में रहकर हिंदी के लिए कार्य करने के अनेक प्रमाण देकर इस मिथ्या धारणा को तोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया कि सन् 1868 में पश्चिमोत्तर प्रांत की अदालतों में नागरी लिपि के लिए राजा साहब ने ही मेमोरेंडम लिखा था, उसको हिंदी लेखकों ने भाषा का मुद्दा बनाकर विरोध किया और फिर मुसलमान अफसरों ने भी विरोध किया। श्री वीरभारत तलवार ने हंटर कमीशन को दिए उनके (शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द') वक्तव्य को उद्धृत किया:-"मैं पहला व्यक्ति हूँ जिसने सरकारी नीति की इस असंगति पर ध्यान दिया था। 1868 में मैंने पश्चिमोत्तर प्रांत में अदालतों की लिपि के सवाल पर एक मेमोरेंडम लिखा था जिससे मैं जानकारी के लिए यहाँ भी दे रहा हूँ, अपेंडिक्स सी के रूप में। मेरा मकसद सिर्फ लिपि के बारे में बोलना था। मैंने लड़ाई जीत ली होती, हालांकि सारे मुसलमान अफसर मेरे खिलाफ खड़े हो गए थे। लेकिन अब मुझे यह पुकार मचानी पड़ रही है कि मुझे मेरे मित्रों से बचाओ! मेरे मित्रों, प्रांतवासियों, बेवकूफ हिंदुओं ने हिंदू और उर्दू का सवाल खड़ा कर दिया है और लिपि के सवाल को दरनिकार कर दिया है। उन्होंने उन फारसी शब्दों के खिलाफ धर्म युद्ध छेड़ दिया है जो घर-घर में बोले जाते हैं और जिनका इस्तेमाल अब हमारी स्त्रियाँ, बच्चे, देहाती और शहरी लोग भी करते हैं।[63] वस्तुत: हिंदी-उर्दू विवाद के मूल में सरकार कीवह नीति थी जिसने अंग्रेजी की परीक्षा अनिवार्य करने के कारण मुस्लिम वर्ग का विक्षोभ बढ़ा दिया था। इससे पहले सरकार की उदार नीति से फारसी ज्ञान रखने वाले सरकारी नौकरी आसानी से पा लेते थे। सर सैयद अहमद जो हिंदू और मुसलमान को हिंदुस्तान की दो चमकीली आँखें कहते थे, अब वह मुस्लिम युवा वर्ग को अंग्रेजी और पश्चिमी ज्ञान में पारंगत बनाने के लिए प्रयत्नशील बने। श्री वीरभारत तलवार ने सही लिखा है कि 'मेमोरेंडम से शुरू हुए हिंदी (नागरी) आंदोलन में सांझे

उर्दू भाषी मध्यवर्ग के बीच जो दरार पैदा की, वह दिन-ब-दिन गहरी और चौड़ी होती चली गई। 32 साल के बाद 1900 में सरकार ने जब प्रांतीय राजभाषा के लिए नागरी को मंजूरी दे दी, तो इस भद्र वर्ग का बँटवारा पूरी तरह से हो गया। इस बँटवारे में एक तरह से 1947 में होने वाले बँटवारे के बीज छुपे हुए थे। पर इसका गुमान उस दौर में किसी को भी नहीं हुआ। पश्चिमोत्तर प्रांत का यह साझा उर्दू भाषी भद्रवर्ग, जिसने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दरार पड़ गई थी और वह गहरे तनाव का शिकार हो चुका था, 20वीं सदी में आकर तेजी से टूटने लगा और कुछ दशकों के बाद हमेशा के लिए खत्म हो गया। अब हिंदी बोलने वाले हिंदुओं का भद्र वर्ग था, उर्दू बोलने लिखनेवाले मुसलमानों का भद्र वर्ग था, पर उनका कोई सांझा भद्र वर्ग नहीं रहा।'[64] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बड़े-बड़े विद्वानों ने और संस्थाओं ने इसमें भाग लिया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, आर्य समाज, एंग्लो वेदिक संस्थान, नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी सम्मेलन आदि शामिल हुए। दूसरी और सर सैयद अहमद तथा अंजुमन तरक्की जैसी संस्थाएँ भी विरोध में कूद पड़ीं।

गुजराती साहित्य

1818 ई. में गुजरात मराठाओं के आधिपत्य से मुक्त हुआ था। मुंबई प्रेसीडेंसी द्वारा बोम्बे नेटिव एज्यूकेशन सोसायटी (1820) की स्थापना से मराठी-गुजराती और कोंकड़ी भाषाओं में नई शिक्षा को प्रारंभ किए जाने का अवसर बना। इससे पहले परंपरित रूप से गुजरात में गुजराती पाठशालाएँ शिक्षा देती थी, जिन्हें गामठी शाला, पंड्या की शाला या धूलिया शाला[65] के नाम से जाना जाता था। इसी तरह संस्कृत पाठशालाएँ एवं फारसी-अरबी के शिक्षण के लिए मदरसे थे। 1826 द्वारा सरकार द्वारा दस गुजराती पाठशालाएँ खोली गईं और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में सूरत के दुर्गाराम मेहता एवं अहमदाबाद के तुलजाशंकर का विशेष योगदान है। 1865-66 में समग्र गुजरात के प्रदेशों में पाठशाला और विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार थी।[66]

प्रदेश का नाम	शालाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या
तल गुजरात	303	21,152
सौराष्ट्र	71	4,189

कच्छ 14 –

इसमें गायकवाड़ के बड़ौदा राज्य की शालाओं की संख्या शामिल नहीं है, पारसियों के लिए नवसारी में एक और बड़ौदा शहर में दो गुजराती और दो मराठी पाठशालाएँ अस्तित्व में थी। कन्या शिक्षण में पहल मिशनरियों ने की, लेकिन गुजराती कन्या शाला का कार्य एलेग्जेंडर फार्ब्स और कवि दलपतराम की सहायता से गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी ने किया। 'वुड डिस्पैज' के बाद प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देने में गति आई। सरकारी विभाग द्वारा पाठ्य पुस्तकें निर्माण करवाने का कार्य प्रारंभ हुआ। इसमें अंग्रेज अधिकारी होप, जर्विस, होवर्ड, कोवर्टन, एलफिंस्टन के अतिरिक्त दलपतराम, दुर्गाराम मेहता, भोगीलाल प्राणवल्लभदास जैसे कई विद्वानों द्वारा उत्तम एवं सस्ती पाठ्यपुस्तकें तैयार की गईं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में गुजरात ने 19वीं सदी के प्रारंभ से ही सिद्ध प्राप्त की। इसमें पारसी समुदाय का विशेष योगदान है। सूरत में जन्मे परंतु बचपन से बंबई में पले-बढ़े हुए पारसी फर्दुनजी मर्जबान ने 1812 में गुजराती प्रेस और 1 जुलाई 1822 में गुजराती भाषा का प्रथम समाचार पत्र 'श्री मुम्बईना समाचार' प्रारंभ किया जो अभी तक दैनिक 'मुंबई समाचार' के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस क्रम में बंबई से प्रकाशित 'रास्त गोफ्तार' (सत्यवक्ता), 'सत्यप्रकाश' के द्वारा समाज जाग्रति एवं समाज सुधार के कार्य किए गए। गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी अहमदाबाद (1848) द्वारा 'वरतमान' और 'बुद्धिप्रकाश' ने गुजरात के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को संस्कारित किया। इनके अतिरिक्त इच्छाराम देसाई की 'स्वतंत्रता' (सूरत), गुजराती, मणीलाल द्विवेदी के 'सुदर्शन' आदि पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य और समाज सुधार की प्रवृत्ति को गति दी।

19वीं सदी में गुजराती साहित्य में प्राचीन एवं नवीन प्रवाह साथ-साथ दिखाई देते हैं। पुरानी परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में रणछोड़ भाई दीवान (1768-1841), दयाराम प्रभुराम भट्ट (1777-1853) स्वामीनारायण संप्रदाय के संत कवि निष्कुलानंद, ब्रह्मानंद, मुक्तानंद स्वामी, प्रेमानंद प्रेमसखी, भोजो भक्त, गिरधर आदि उल्लेखनीय हैं। इसी के साथ फारसी साहित्य भी हिन्दू एवं फारसी लेखकों के द्वारा लिखा जा रहा था और जैन साहित्य की धार्मिक रचनाएँ भी लिखी जा रही थी। [67]

आधुनिक गुजराती साहित्य के विकास में 1826 ई. से गुजराती की पाठशालाओं का प्रारंभ और 1857 में प्रारंभ हुई मुबई युनिवर्सिटी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

दलपतराम को छोड़कर आधुनिक गुजराती साहित्य के लगभग सभी साहित्यकारों ने किसी न किसी रूप में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी। नर्मद का 'मंडली मलवाथी थता लाभ' (निबंध) से गुजराती गद्य का प्रारंभ माना जाता है। दलपतराम, नर्मद, नंदशंकर, नवलराम, मणीलाल नभूभाई द्विवेदी, गोवर्धनराम त्रिपाठी जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के अतिरिक्त कई कवि, गद्यकारों ने गुजराती साहित्य की सभी विधाओं को समृद्ध किया। निबंध, काव्य, उपन्यास, व्यक्ति चरित्र, आलोचना और नाटक विघा की अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ इस दौर में लिखी गई, जिनमें से महत्त्वूपर्ण रचनाओं का आगे के अध्यायों में विश्लेषण किया जाएगा।

गुजरात को ऐसे अनेक अंग्रेज अधिकारी मिले जिन्होंने गुजराती भाषा और गुजराती साहित्य के विकास में गंभीर रूचि दिखायी और मार्ग प्रशस्त किया। बंबई प्रेसीडेंसी के गर्वनर माउन्ट स्टुअर्ट एन्फिन्स्टन, केप्टन ज्योर्ज जर्बिस, टेलर, होप, फार्ब्स जैसे अंग्रेज अधिकारियों ने गुजराती भाषा एवं साहित्य के विकास में सहयोग किया। अलेंग्जेंडर फार्ब्स ने इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य की पांडुलिपियों की खोज की और 'रासमाला' ग्रंथ कवि दलपतराम के सहयोग से प्रकाशित किया। गुजरात में फार्ब्स और दलपतराम की मैत्री प्रसिद्ध है। गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी द्वारा फार्ब्स ने गुजराती समाज के उत्थान एवं शिक्षा, समाज सुधार एवं साहित्य की सेवा की। यद्यपि दलपतराम ने अंग्रेजी शिक्षा नहीं ली थी, लेकिन वे अंग्रेजी शासन और शिक्षा से सुधार और उद्योगों के विकास का अनुभव कर रहे थे। उनका 'भूत' निबंध समाज में व्याप्त अंधश्रद्धा के विरोध में है। उन्होंने अंधश्रद्धा के विरोध में कार्य किया। इसी तरह अंग्रेजों के आगमन से तकनीकी विकास का स्वागत करते हुए 'हुन्नरखान की चढ़ाई' वृहद काव्य लिखा, जिसमें भारतीयों के आलस पर व्यंग्य है, उसे छोड़कर हुनर के स्वागत के लिए आह्वान किया गया है :

हे मंडली के नेता अब तो तू जाग। शीघ्र ही
मौका देखकर यंत्र-प्रधान को पकड़ कर ले आ।
हुनर ने अपनी बृहद फौज परदेश भेजी, उसने
हाहाकार मचा दिया, हिन्दू प्रजा को लूट लिया,
कोई उपाय नहीं था।
लोग मात्र हाय-हाय करते थे, मन में निराश होते थे
पर एक भी शब्द बोल नहीं सकते थे। जहाँ से धन

आता था वह द्वार ही बंद हो गया, आलस के हाथी ने
उद्योगों को तोड़ दिया, आज वनराज केसरी की
आवश्यकता है जो आलस. हाथी के गंडस्थल को तोड़ सके।
यंत्रखान के द्वार पर आज आलस का हस्ती
विराजमान है, केसरी सिंह के बिना आज इस गजराज (आलस रूपी)
का नाश कौन कर सकता है?
वीर सिंह मंडली को जगा रहे हैं, बहुत प्रयत्न कर,
रहे हैं मैं उन्हें हाथ जोड़कर
बहुत-बहुत प्रणाम करता हूँ। [68]

आधुनिक काल में ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और संस्कृति के उत्तम ग्रंथों का गुजराती में अनुवाद कार्य भी हुआ। संस्कृत और अंग्रेजी भाषा से अनुवाद की प्रवृति विशेष रूप से की गई। इस तरह गुजराती साहित्य प्राचीन और नवीन का सामंजस्य करते हुए आधुनिक प्रवाह की ओर उन्मुख होता है, साथ ही अपनी परंपरा से प्रेरणा भी ग्रहण करता है।

हिन्दी साहित्य

उन्नीसवीं सदी से पहले खड़ी बोली हिन्दी के प्रयोग मिलते है, परंतु साहित्य (काव्य) की भाषा ब्रज ही रही। हिन्दी के विकास में मार्क्विवस वेलेजली द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज (कलकत्ता) का महत्त्वपूर्ण प्रदान माना जाता है। ईस्ट इंडिया कंपनी के सिविल कर्मचारियों को भारत की भाषाओं को सिखाने के लिए इसकी स्थापना की गई थी। '18 अगस्त 1800 ई. के पत्रानुसार डॉ. जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी भाषा का प्रोफेसर बनाया गया।'[69] 'हिन्दुस्तानी' अरबी-फारसी मिश्रित भाषा थी, जिसका व्याकरण हिन्दवी या ब्रजभाषा से लिया गया था। हिन्दुस्तानी सिपाहियों की समझ में नहीं आती थी और न जनता के लिए बोधगम्य थी। परिणामस्वरूप कॉलेज की भाषा-नीति में परिवर्तन अनिवार्य हो गया। लल्लू लाल की नियुक्ति और हिन्दी खड़ी बोली को मान्यता भाषा नीति में परिवर्तन के कारण हुआ। 28 अक्टूबर 1824 ई. को गवर्नर जनरल ने कॉलेज के नव-विधान को मान्यता दी। गवर्नर जनरल को स्वीकृति को भेजे प्रारूप के साथ स्पष्टता के लिए विलियम प्रायस का पत्र भेजा गया। जिसमें लिखा था:

''हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अंतर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फारसी के हैं।...हिन्दी के संबंध में एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी लिपि में लिखी जानी चाहिए।.......नई लिपि और नए शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी।''[70] लल्लूलाल (1763–1835) सदल मिश्र (1768–1848) और गंगा प्रसाद शुक्ल आदि ने हिन्दी–खड़ी बोली के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया। धर्म प्रचार के लिए मिशनरियों ने 'बाइबिल' के हिन्दी में अनुवाद करवाए। विलियम कैरे एवं अन्य पादरियों ने हिन्दी में जो अनुवाद करवाए उन्हें उर्दूपन से अलग रखा। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है जिसमें अंग्रेजों के 'हिन्दुस्तानी' प्रेम पर व्यंग्य कसा है:

''इस संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा, इससे यही सूचित होता है कि फारसी–अरबी मिली भाषा से साधारण हिन्दू जनता अपने कथा–पुराण सुनती आती थी, उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को अवश्य दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग फैशन समझते हैं। उससे साधारण जनसमुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है, और है। जिन अंग्रेजों को उत्तर–भारत में रहकर केवल मुंशियों और खानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिन्दुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते–सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।''[71] अंग्रेजों ने अदालत की भाषा भी नहीं बदली जिससे उर्दू को बल मिला। यद्यपि 20 नवम्बर 1837 ई. को एक कानून द्वारा फारसी को हटा दिया गया और प्रदेशीय भाषा के प्रयोग को मान्यता दी गई। परंतु युक्त प्रांत की अदालतों में उसका प्रयोग होता रहा।

समाचार पत्र

ईस्ट इंडिया कंपनी का कार्यालय कलकत्ता होने के कारण पहले अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार–प्रसार भी यहीं हुआ। प्रेस और पत्र–पत्रिकाएँ भी बंगाल से पहले निकलीं। हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्तमार्तन्ड' एवं हिन्दी का प्रथम दैनिक 'समाचार

पत्र 'समाचार सुधावर्षण' 1854 ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। जिसके संपादक श्यामसुंदर सेन थे। राजा राममोहन राय का 'बंगदूत' लोकप्रिय था, जो आवश्यकता पड़ने पर फारसी और हिन्दी में भी प्रकाशित होता था।[72] कलकत्ता से ही भारत मित्र (1878), सारसुधानिधि (1879), उचितवक्ता (1880) पत्र निकले जिनका राष्ट्रीय चेतना के विकास में विशेष प्रदान है, इन तीनों के मूल प्रेरक और संचालक पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। इनमें भारतेन्दुयुग के साहित्यकार-पत्रकारों के लेख और रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। भारतेन्दु के 'कविवचन सुधा' पत्रिका ने राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने एवं अनेक लेखकों को समसामयिक विषयों पर लिखने को प्रेरित किया। तत्कालीन अनेक साहित्यकारों ने भारतेन्दु की पत्रिकाओं से प्रेरणा लेकर साहित्य जगत में पदार्पण किया। भारतेन्दु मंडल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट (इलाहाबाद), बदरीनारायण, चौधरी 'प्रेमधन' (मिर्जापुर), दामोदरशास्त्री सप्रे (काशी), काशीनाथ खत्री (इलाहाबाद) लाला श्रीनिवासदास (दिल्ली), केशवराम भट्ट (पटना), ठाकुर जगमोहन सिंह (काशी), प्रतापनारायण मिश्र (कानपुर), अंबिकादत्त व्यास (काशी), राधाचरण गोस्वामी (वृंदावन) राधाकृष्णदास (काशी) उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु में संरक्षण एवं नेतृत्व करने की क्षमता थी, इसलिए उनके सहयोगी लेखकों ने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं पर लेख लिखे और सर्जनात्मक साहित्य लिखा। इनका लेखन पुनर्जागरण की चेतना को विकसित करने में अग्रसर रहा। नाटक, निबंध, उपन्यास और पुस्तक समीक्षा का प्रारंभ इसी दौर में होता है। कविता की भाषा मुख्य रूप से ब्रज रही लेकिन खड़ी बोली में गद्य की विविध विधाओं का विकास हुआ। नाटक और निबंधों की प्रौढ़ता देखकर आश्चर्य हो सकता है। अपने प्रारंभकाल में नाटक, विचार प्रधान एवं ललित निबंध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, आदि अनेक साहित्यकारों ने लिखे, जिन पर आगे विचार किया जाएगा। उपन्यास विधा का प्रारंभ भी इसी दौर में हुआ। लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु, श्रद्धाराम फुल्लोरी का भाग्यवती, ब्रह्मचारी और पं. गौरीदत्त का 'देवरानी-जेठानी की कहानी' जैसे उपन्यास लिखे गए। यह पुनर्जागरण काल का साहित्य है। 'पराधीनता का बोध गहरा होने के कारण अपने स्वत्व की पहचान और रक्षा का भाव इस साहित्य को मूल्यवान बनाता है। इन साहित्यकारों को लोक जीवन से भी जुड़ाव रहा। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आधुनिक काल में एक ओर पश्चिम की नयी चेतना का संपर्क का यत्न है, तो दूसरी ओर अपने लोकजीवन

से जुड़े रहने की उतनी ही उत्कट लालसा है। पत्र–पत्रिकाओं के आयोजन से यदि एक उद्देश्य की पूर्ति होती है, तो नाटक और काव्यों के प्रचार–प्रसार से दूसरे उद्देश्य की।[73]

1893 ई. में बाबूश्यामसुंदरदास, पं. रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमार सिंह ने 'नागरी प्रचारीणी सभा' की स्थापना की। इसने साहित्यिक रचनाओं की पांडुलिपियों की खोज के साथ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का दायित्व उठाया जैसे:

हिन्दी के बड़े कोश और विश्वकोश का निर्माण

हिन्दी भाषा का इतिहास लेखन

विज्ञान संबंधी भिन्न–भिन्न विषयों के ग्रंथ लिखवाना।

हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन

'नागरी प्रचारणी पत्रिका (त्रैमासिक) में संस्था की सभी गतिविधियों के अतिरिक्त विविध विषयों, समाज की कुरीतियों, वैज्ञानिक विषयों एवं मौलिक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। नवल किशोर प्रेस विविध क्षेत्रों की पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा ज्ञान प्रसार का कार्य एवं पाठ्यपुस्तकों के निर्माण द्वारा नई चेतना का संचार कर रहा था। इसी तरह का महत्त्वपूर्ण कार्य बंगाल और बिहार में खड्गविलास प्रेस ने किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल फोर्ट विलियम कॉलेज और अंग्रेजों की प्रेरणा से हिन्दी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं मानते। दिल्ली के उजड़ने पर उधर के हिन्दू व्यापारी और अन्य लोग आजीविका कमाने के लिए देश के दूसरे भागों में फैल गए और तब हिन्दी अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों के बोलचाल की भाषा हो गयी और उसमें गद्य लिखा जाने लगा।[74] उन्होंने 'आधुनिक हिन्दी का पूरा–पूरा आभास, मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र के गद्य में माना। राजा शिवप्रसाद सिंह एवं राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा से संबंधित विवाद में उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की प्रशंसा की, लेकिन राजा शिवप्रसाद सिंह के हिन्दी के लिए कार्य और शिक्षा विभाग के परिवेश के बीच उनके प्रदान का उल्लेख इन शब्दों में किया है: ''उस समय और दूसरे विभागों के समान शिक्षा विभाग में भी मुसलमानों का जोर था जिनके मन में 'भाषापन' का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिए 'भाषा' संस्कृत से लगाव रखने वाली हिन्दी ना सीखनी पड़े। अत: उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। अत:

राजा साहब के लिए उस समय यही संभव दिखायी पड़ा कि जहाँ तक हो सके, ठेठ हिन्दी का आश्रय लिया जाए जिसमें कुछ अरबी–फारसी के चलते शब्द भी आएँ।''[75] उन्होंने राजा साहब के द्वारा पाठ्यपुस्तकें तैयार करने में सजगता को सराहा। जिनमें उनके द्वारा लिखी 'राजा भोज का सपना, वीर सिंह का वृतांत, आलसियों को कोड़ा' को पाठ्यक्रम में रखा गया था।

स्पष्ट है कि राजा शिवप्रसाद सिंह ने शिक्षा विभाग में रहते अपने ढंग से हिन्दी के लिए कार्य किया, लेकिन हिन्दी को साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन साहित्यकारों ने किया। आचार्य शुक्ल ने उनके कार्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है:–''सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा–पूरा बना था। भिन्न भिन्न ऋतुओं में पड़ने वाले त्यौहार उनके मन में उमंग उठाते, परंपरा से चले आते हुए आमोद–प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विछिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आंखों में धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप–रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक–एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन संधि स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर लपेटी हुई वस्तु।''[76] उपर्युक्त गद्यांश जहाँ पुनर्जागरण युग के हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि, देशप्रियता और परंपरा से जुड़े होने को रेखांकित करता है, वहीं आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन साहित्यकारों के मूल्यांकन और प्रदान को समझने में सहायता करता है। इन साहित्यकारों का हिन्दी प्रेम देशप्रेम का पर्याय था। जिसे द्विवेदी युग में पर्याप्त विस्तार मिला।उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पटना के बांकीपुर मुहल्ले में स्थापित यह प्रेस बिहार का गौरव था। आधुनिक हिन्दी साहित्य को उजागर करने में इस प्रेस के योगदान का ऐतिहासिक मूल्य है। इस प्रेस की स्थापना उत्तर प्रदेश के बलिया निवासी महाराजकुमार रामदीन सिंह ने सन् 1880 ई. में की थी। महाराजकुमार रामदीन सिंह शिक्षण के पेशे से जुड़े थे। हिन्दी भाषा में पाठ्य पुस्तकों के अभाव ने उन्हें प्रकाशन व्यवसाय के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्वयं पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं व दूसरों को भी

इस कार्य के लिए प्रेरित किया।

खड्गविलास प्रेस ने भारतेन्दु मंडल के रचनाकारों को प्रश्रय दिया। भारतेन्दु मंडल के रचनाकारों को इस छापखाने ने प्रमुखता से छापा व उनकी रचनाओं को प्रकाशकीय संरक्षण दिया। नागरी प्रचारिणी सभा से पहले उस तरह की संस्था भले न रही हो पर जिस एक व्यक्ति ने हिन्दी के प्रबुद्ध समाज को लेखन से जोड़कर और उन्हें छापकर हिन्दी तथा हिन्दी भाषी जनता में जागृति लाने का कार्य किया उनका नाम है–बाबू रामदीन सिंह। इस क्षेत्र में बाबू रामदीन सिंह के प्रयास का अंदाज इस बात से लगता है कि खड्गविलास प्रेस एक ऐसा छापाखाना था जिसने अपने प्रबुद्ध लेखकों के लिए अतिथि गृह भी बनवाया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि हिन्दी के लेखक प्राय: वहाँ ठहर कर देश की वर्तमान दशा–दिशा पर विचार–विमर्श व लेखन कार्य करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सभी रचनाएँ इसी प्रेस से प्रकाशित हुई थी। उन्होंने अपने संपूर्ण लेखन का स्वत्वाधिकार खड्गविलास प्रेस को दे दिया था।

19वीं सदी में धार्मिक आन्दोलन

19वीं सदी में ब्रिटिश कंपनी सरकार के बलशाली होने पर उसका धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप बढ़ता गया। यह हस्तक्षेप प्रकट रूप से भी रहा और परोक्ष रूप से भी। एक और भारतीय उपमहाद्वीप के शिक्षित समुदाय को अंधकार से मुक्त कराने, अपने अतीत से परिचित कराने और नई शिक्षा और ज्ञान–विज्ञान के द्वारा संस्कारित करने का दावा किया गया। शिक्षित युवा वर्ग (विशेषकर बंगाल में) पर इसका प्रभाव अधिक रहा। दूसरी और, एक प्रबल पक्ष और भी था जो अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति पर गर्व करता था और किसी बदलाव के लिए तैयार नहीं था। नवजागरण के प्रहरियों ने इन दोनों के बीच का मार्ग चुना। एक आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास और व्यष्टि का समष्टि में समाहार भारतीय संस्कृति और दर्शन के ऐसे उच्च्च मूल्य हैं, जो भारतीयों के अहंकार को विगलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। वेद, उपनिषद, पुराण और भक्ति साहित्य से विकसित हुई भारतीय चेतना का संश्लिष्ट रूप भारतीय समाज को पश्चिम से विशिष्ट बनाता है।

पराधीन भारतीयों ने देसी संस्थाओं और पारंपरिक संस्थाओं के प्रति औपनिवेशिक वर्चस्व से अलग रुख अपनाया। परंपरा में आधुनिकता को देखना,

पारंपरिक ज्ञान और उपलब्धियों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अनुसंधान करने की प्रवृति इसी से जुड़ी हुई थी।[77] 19वीं सदी में ईसाई मिशनरियों द्वारा सरकार के प्रमुख सहयोग से ईसाई बनाने के कार्य में विकास हुआ। धार्मिक क्षेत्र में तो इसका विरोध किया गया। बंगाल में देवेंद्र नाथ ठाकुर तथा अक्षय कुमार दत्त के नेतृत्व में 'तत्वबोधिनी सभा' ने पहल की। सभा के सदस्यों द्वारा मिशनरियों के खिलाफ छोड़ा गया अभियान इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि एलेग्जेंडर डफ ने सभा का वर्णन आक्रामक ईसाइयत के दुर्दमनीय प्रतिरोधी के रूप में किया।[78] देवेंद्र नाथ अक्षय कुमार दत्त के अतिरिक्त साहित्यकार बंकिम चंद्र चटर्जी ने उपनिवेशवादी और उनके समर्थक इतिहासकारों के छद्म को स्पष्ट शब्दों में नकारा। उन्होंने लिखा कि 'मेरी राय में अंग्रेजी में ऐसी एक भी रचना नहीं है जो बंगाल का सच्चा इतिहास हो। जो लिखा गया है वह बंगाल का इतिहास नहीं है उसका एक छोटा सा टुकड़ा भी नहीं है। उसमें बंगाली राष्ट्र का कोई इतिहास है ही नहीं। जो बंगाली इस तरह की रचना को बंगाल के इतिहास के रूप में स्वीकार करता है, वह सच्चा बंगाली नहीं है।[79] इसके बावजूद शिक्षित मध्यवर्ग पर उपनिवेशवादियों का दृष्टिकोण प्रभावशाली होता गया।

इस प्रतिरोध के बावजूद भारतीय धर्म साधनाओं में संकीर्णता, दंभपूर्ण आचार-विचार एवं अंधविश्वासों का अलग-अलग समय, संदर्भ और परिस्थितियों में समावेश होता गया। ब्रिटिश शासकों ने इन्हें ही विशेष रेखांकित किया और वास्तविक वैशिष्ट्य, दृष्टि से ओझल होता गया। ऐसे में नई शिक्षा के दीक्षितों को विभिन्न धर्म-संप्रदायों, मत-मतांतरों एवं अंधविश्वासों में फँसे भारतीय समाज को सुधारने की आवश्यकता लगी। लेकिन अंग्रेज हुकूमत द्वारा इस सुधार की आवश्यकता में विशेष रूचि नहीं ली गई। अंग्रेजों द्वारा धार्मिक क्षेत्र में परंपरा के स्वरूप के बारे में मतैक्य करने का कोई प्रयत्न नहीं हुए। उनका परोक्ष समर्थन ईसाई मिशनरियों के द्वारा धर्म प्रचार का था। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी, आर्य समाज जैसी संस्थाएँ; राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, ज्योतिबा फूले, महादेव रानाडे, एनी बेसेंट, बंकिम चंद्र चटर्जी, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद जैसे चिंतकों और सुधारकों ने भारतीय चेतना को जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

स्वामीनारायण संप्रदाय

ब्रह्म समाज की स्थापना से पहले छपैया, उत्तर प्रदेश में जन्मे स्वामी सहजानंद ने गुजरात में आकर स्वामीनारायण संप्रदाय की स्थापना की। तत्कालीन गुजराती समाज की धार्मिक रूढ़ियों एवं पिछड़े वर्ग के अज्ञान और जीवन पद्धति में सुधार करने का प्रयास किया। हिंदू संप्रदायों विशेषकर वैष्णव संप्रदाय के विचारों को ग्रहण करके शुद्ध पवित्र और श्रद्धायुक्त जीवन का आह्वान किया। इस संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं – वचनामृत (1819 ई) एवं शिक्षापत्री (1825 ई)।'वचनामृत' में श्रीजी महाराज ने प्रारंभ में जो प्रवचन दिए थे, उन्हें वर्ष, तिथि, स्थल एवं संदर्भों के साथ मुक्तानंद स्वामी, गोपालानंद स्वामी, नित्यानंद स्वामी एवं शुक मुनि – इन चार साधुओं ने संग्रहीत किया था। 'वचनामृत' में धर्मशास्त्र, भक्ति, नीति, वैराग्य, वेदांत और अध्यात्म साधनाओं को आचरण में उतार सके, ऐसे व्यवहारिक सुझाव सिद्धांतों को सीधी सरल, ठेठ भाषा में वार्तालाप शैली में प्रस्तुत किया गया है।[79A] जबकि शिक्षापत्री में व्यवहारिक नित्य नियमावली है। उदाहरण के लिए धर्म की रक्षा के लिए श्रीजी स्वामी चोरी और अनीति का आश्रय लेने पर धर्म कार्य को दूषित हुआ मानते हैं। इसी तरह कर्ण कटु सत्य, विवेक मर्यादा को तोड़कर कहे सत्य वचनों से दूर रहने को कहा गया है।[79B] शिक्षापत्री के माध्यम से वैष्णवों की तुलना में पूजा पद्धति को सरल बनाया लेकिन भक्तों पर कठोर अनुशासन लगाए। स्वामीनारायण संतों ने लुटेरों और डाकुओं को लूट और हत्या जैस जघन्य कार्यों से उबारा। यह आंदोलन गुजरात के गाँवों में विशेष सफल हुआ। बीसवीं सदी में इसका व्यापक प्रसार–प्रभाव देखा जा सकता है।

ब्रह्म समाज (1828)

राजा राममोहन राय ने पूर्व और पश्चिम के सर्वोत्तम विचारों को अपने दृष्टिकोण में समाहित करने का प्रयास किया। कलकत्ता में 'आत्मिक सभा'(1815) में पूर्व और पश्चिम के चिंतन, तत्कालीन भारतीय स्थितियों पर विचार विमर्श होता था। उन्होंने सामाजिक गठन में मूर्ति पूजा के दुष्प्रभावों एवं जाति प्रथा के दुर्गुणों का विरोध किया,जो एकता के अभाव की जड़ में रहे हैं। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के संपर्क से ईसाई धर्म शास्त्रों की रचनाओं का अध्ययन किया एवं ईसा मसीह की शिक्षाओं से प्रभावित हुए, तो साथ ही हिंदू धर्म के मौलिक और शुद्ध रूप को सराहा लेकिन उसके अमानवीय रीति रिवाज और अंधविश्वासों पर तीव्र आघात किया। उन्होंने भारतीयों के अनाचार, आलस्य, अज्ञान, कुसंस्कार और

सामाजिक झगड़ों की भर्त्सना की।[80] राममोहन राय ने 20 अगस्त 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। धर्म के क्षेत्र में उनका प्रदान इस बात में है कि उन्होंने अनावश्यक तत्वों को अलग करके नैतिक और धार्मिक चिंतन की एक रचनात्मक पद्धति प्रस्तुत की। [81] राममोहन राय की मृत्यु के बाद देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन, अक्षयकुमार दत्त और ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने इसे विकसित किया। केशवचंद्र सेन ने तत्वबोधिनी पत्रिका निकाली और ब्रह्म समाज की नियमावली बनाई गई। 1843 में ब्रह्म समाज के प्रतिज्ञा पत्र में जोड़ा गया: 'ईश्वर एक वैज्ञानिक सत्ता है, जो श्रेष्ठतम गुणों से विभूषित है। ईश्वर ने कभी कोई अवतार नहीं लिया। ईश्वर प्रार्थना सुनता है और उसका उत्तर भी देता है। मंदिर और पूजा पाठ के लिए निश्चित स्थान अनावश्यक हैं। सभी जातियों और सभी नस्लों के व्यक्तियों को ईश्वर की आराधना का अधिकार है। प्रकृति और अंतर प्रज्ञा ईश्वर ज्ञान के स्रोत हैं, कोई भी ग्रंथ प्रामाणिक नहीं है।'[82]

बंकिमचंद्र चटर्जी

बंगाल में 1870 के आसपास पुनरूज्जीवनवाद ब्रह्मसमाज के प्रभाव को दबाने लगा था। जाति के अतीत का अहंकार, अंग्रेज शासक वर्ग के दमन और जुल्म के विरुद्ध नाराजगी, देहाती जनता के बढ़ते हुए दु:ख तथा गरीबी के प्रति सहानुभूति और स्वतंत्रता और समानता की आकांक्षा बढ़ने लगी थी। इस आंदोलन में दो भिन्न विचारधाराएँ उभरीं। एक सब तरह के सुधारों के विरुद्ध थी, जिसके नेता शशधर तर्क चूड़ामणि थे और दूसरी किसी-किसी बात में सुधार को स्वीकार करते थे, उसके नेता बंकिमचंद्र चटर्जी थे। [83] बंकिमचंद्र के व्यक्तित्व में राष्ट्रीयता के साथ-साथ भक्ति का समन्वय था। अंग्रेजी शिक्षा एवं दार्शनिक पद्धतियों के अध्ययन ने उनकी आलोचक वृत्ति को जाग्रत किया। 'देशप्रेम धर्म है और धर्म भारत का प्रेम है' उनका मूल मंत्र था। उनके आदर्श पुरुष कृष्ण थे जिसका मानवीय व्यक्तित्व पूर्णता को पहुँच चुका था। बंकिमचंद्र ने जिस हिन्दू धर्म का प्रचार किया, उसमें मनुष्य का सारा जीवन आ जाता था। यह भोग और त्याग का समन्वय तथा फल की आशा किए बिना कर्म का सिद्धांत था। इसमें वह नैतिक नींव प्रस्तुत हो जाती थी, जिस पर हिन्दू समाज और राष्ट्र का गठन होने वाला था। बंकिमचंद्र की ही तरह भूदेवचंद मुखोपाध्याय भी नवहिन्दुवाद के

प्रतिपादक थे।

प्रार्थना समाज (1870)

केशवचंद सेन के बंबई आगमन पर प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। महादेव गोविंद रानाडे और आर. जी. भंडारकर एवं पंडिता रमाबाई इसके सदस्य बने। रानाडे ने धार्मिक और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में विशेष कार्य किया था। भागवत धर्म पर निष्ठा रखने वाले रानाडे को हिंदुत्व पर गर्व था। ब्रह्म के अद्वैत रूप को मानते हुए उन्होंने संसार को, ईश्वर की सृष्टि को वास्तविक माना। मनुष्य का एक ईश्वर से सानिध्य बढ़ाने के लिएप्रार्थना, ध्यान, भले और पुण्यात्मा लोगों का सत्संग और आत्म शुद्धि को आवश्यक माना।[84] उन्होंने आंतरिक बदलाव को प्राथमिकता दी और विवेक के अनुसार आचरण करने को कहा। रानाडे ने सबसे तेज हमला पुनरुज्जीवनवादियों पर बोला,जो पारंपरिक जीवन पद्धति पर जोर दे रहे थे: ''क्या हम उन यादों को पुनर्जीवित करें जहाँ साल भर पशुओं के बलिदान हुआ करते थे और जिसमें यदा-कदा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नैवेद्य के रूप में मनुष्य का भी बलिदान किया जाता था? क्या हम वाममार्गी शक्तिपूजा को पुनर्जीवित करें जिसमें अनाचार और व्यभिचार होता था? क्या हम सती प्रथा, शिशु हत्या, जीवित व्यक्तियों को नदियों में चढ़ाने या पहाड़ों से गिरा देने या चड़क पूजा या जगन्नाथ के रथ के नीचे दबा देने आदि को पुनर्जीवित करें?'' उन्होंने बड़ी तार्किकता से सुधार के मर्म को समझाया कि प्राचीन को नई नई पद्धति में परिणित करना भी सुधार है।[85] रानाडे के विचार पूर्व और पश्चिम के समन्वय से संतुलित हुए थे लेकिन फिर भी जब वे भौतिक स्थितियों की उन्नति के साथ नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति को अग्रिमता देते हैं, भारतीय चेतना का पलड़ा भारी दीखता है। उनकी आस्था थी कि भारतीयों को समानता और स्वतंत्रता के आदर्शों का दृढ़ता से अनुसरण करते हुए विवेक और सदाचार से पुष्ट होना चाहिए।[86]

आर्य समाज (1875)

'वेदों की ओर लौटो' आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती का मूल संदेश था। 20 वर्षों तक भारत भ्रमण करते हुए उन्हें हिंदू धर्म में प्रविष्ट दूषणों का उपचार वेदों में लगा। इसकी प्रतिष्ठा के साथ उन्होंने अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्ति पूजा का विरोध किया और सामाजिक जीवन में बहुविवाह, बालविवाहऔर

जाति प्रथा का विरोध किया। सनातन धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था को महत्त्व दिया जाता था जबकि आर्य समाज में धर्म के द्वार प्रत्येक जाति के लिए खोल दिए। जाति और धर्म से बहिष्कृत एवं भ्रष्ट को भी दयानंद ने शुद्धि आंदोलन चलाकर समाविष्ट तो किया ही, विधर्मियों–ईसाई और मुसलमानों–को भी हिंदू धर्म में समाहित करने का बीड़ा उठाया। शास्त्रों का आधार लेकर उन्होंने स्त्री शिक्षा को बहुत प्रोत्साहित किया। ब्राह्मणों के एकाधिकार,श्राद्ध और विवाह की फिजूलखर्ची की निंदा की। जातिप्रथा का विरोध करते हुए आर्य समाज में दलितों को स्थान देकर आत्मसम्मान की भावना जगाई। संस्कृत के प्रकांड विद्वान महर्षि दयानंद नेधार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों के खंडन के लिए केशवचंद्र सेन के सुझाव से हिंदी में 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की। ब्राह्मणवाद और जाति प्रथा का विरोध करने के कारण उनकी निंदा भी हुई, इसलिए व्यापक समाज में यह पंथ जड़ नहीं जमा पाया, पंजाब और उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में ही दयानंद सरस्वती को कुछ समर्थन मिला। उन्होंने अपने उत्तर काल में गौरक्षा आंदोलन भी चलाया।

सर सैयद अहमद, उलेमा और देवबंद आंदोलन

1857 की क्रांति के असफल होने पर वहाबी आंदोलन को अधिक क्षति पहुँची। आंदोलनकर्ता सामाजिक और धार्मिक सुधारों के विरोधी थे और आधुनिक शिक्षा प्रणाली का पूर्णत: विरोध करते थे। ऐसे समय में सैयद अहमद खाँ (1817–1898) ने मुसलमानों को रूढ़िवाद और पुनरूत्थानवाद से मुक्त करने का प्रयास किया।[87] वे मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रचार के समर्थक थे और अपनी जाति को पश्चिमी संस्कृति–सभ्यता के प्रति जागरूक करना चाहते थे। क्रांति की असफलता के अनुभव से उनके सामने यह स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेजों को भारत से निकालना संभव नहीं है, इसलिए उन्होंने उलेमा यानी पुरानी परंपरा के स्थान पर दूसरा मार्ग चुना। धर्म की नई व्याख्या, समाज सुधार और शिक्षा के बारे में नए ढंग से सोचा जिससे मुस्लिम समाज को आर्थिक और राजनैतिक रूप से फिर से प्रतिष्ठित किया जा सके। इसके लिए वे तर्क की दिशा में उलेमाओं से भिन्न सिद्धांतों पर चलने का प्रयास कर रहे थे:

1. कुरान की शिक्षा ईश्वरीय और चिरंतन है। इसलिए त्रुटिहीन है और शब्द और अर्थ दोनों दृष्टि से हम उन पर चलने के लिए बाध्य हैं। उससे तनिक भी हटा नहीं जा सकता।

2. हदीस में पैगंबर साहब की उक्तियाँ हैं जैसे कि 'राबियों' ने लिपिबद्ध की हैं। कहाँ तक राबियों को चरित्र तथा उनकी बात पर विश्वास किया जा सकता हैए यह अनुसंधान का विषय है। इसलिए उन पर आलोचना की जा सकती है और खोजबीन के बाद ही उसे मंजूर किया जा सकता है।
3. हदीस पर हुक्म मानने की मजबूरी सिर्फ मजहबी मामलों में है। सांसारिक मामलों में यह वैकल्पिक है।
4. मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतंत्र है।[88]

सैयद अहमद खाँ ने मुस्लिम समाज और अंग्रेज शासकों के बीच सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न किया। साथ ही वे हिन्दू समाज के साथ भी तालमेल बैठा रहे थे। मुस्लिम समाज के उत्थान के लिए उन्होंने सरकार का सहयोग प्राप्त किया और सरकार के विश्वसनीय बन गए। सरकारी सेवा में होने के कारण और हिन्दू–उर्दू विवाद के चलते उनकी हिन्दू समाज से दूरियाँ बढ़ गई थी। मुस्लिम समाज को आर्थिक दृष्टि से विकसित करने के लिए सरकार का सहयोग आवश्यक था। अलीगढ़ मोहम्डन ऐंग्लों ओरियंटल कॉलेज (1978) की स्थापना के केन्द्र में उनकी मुस्लिम समाज के युवाओं के विकास की आकांक्षा थी। अपने इस कार्य से मुसलमान बुद्धिजीवियों को प्रभावित कर रहे थे। सैयद अहमद खाँ के विपरीत उलेमा के एक समूह ने 1867 में देवबंद मदरसे की स्थापना की। यह समूह पश्चिमी सभ्यता और आधुनिक विचारों का विरोधी था। इस मदरसे में जो शिक्षा दी जाती थी वह अलीगढ़ आंदोलन से भिन्न थी। देवबंद मदरसे के दृष्टिकोण में हर गैर–इस्लामी चीज का विरोध शामिल था, चाहे वह योरोपीय जीवन पद्धति ही क्यों न हो।[89]

थियोसोफीकल सोसायटी (1882)

रूसी महिला मादाम ब्लावत्स्की और कर्नल आल्कट ने अमेरिका में 1875 मेंथियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की थी। 1879 में इसके संस्थापक भारत में आ गए थे और उन्होंने 1882 के दिसंबर में अड्यर, मद्रास में इस सोसायटी की स्थापना की। श्रीमती एनीबेसेंट के इसमें शामिल होने पर भारतीय समाज अधिक लाभान्वित हुआ। इस सोसायटी के सिद्धांतों में धर्म, दर्शन और गुह्यविद्या का अद्भुत मिश्रण है।[90]

इसका प्रभाव भारतीय शिक्षित मध्यमवर्गीय हिन्दुओं पर था। ताराचंद ने इसकी प्रसिद्धि के लोकप्रिय होने का कारण निर्दिष्ट किया है: ''कुछ लोग तो इस बात से बहुत प्रभावित हुए कि एक प्रसिद्ध श्वेतांग महिला हिंदू धर्म पर धारा प्रवाह भाषण दे रही है और उन बातों का समर्थन कर रही है, जिनको ईसाई मिशनरियों और युरोपीय लेखकों ने कुसंस्कार या बुराई कहकर निंदा की थी। इससे इन लोगों को आंतरिक बल और अपने धर्म सुधारकों के आक्रमणों के विरुद्ध एक ढाल प्राप्त हुई।''[91]

श्रीमती ऐनीबेसेन्ट के इसके साथ सक्रिय रूप से जुड़ने, हिन्दुओं के प्राचीन धर्म और दर्शन का समर्थन करने में अपना जीवन समर्पित करने पर इसकी प्रसिद्धि बढ़ गई थी। विवेकानंद ने इसे 'अमरीकी अध्यात्मवाद की भारतीय कलम [92] कहा। इसके सकारात्मक पक्ष को विपिनचंद्र पाल ने इन शब्दों में रेखांकित किया है: ''इस सोसायटी ने हमारी जनता को यह सिखाया है कि अपने अतीत और उसकी विरासत के प्रति लज्जित होने के बजाय, उन्हें उस पर न्यायोचित्त गर्व करने का अधिकार है, क्योंकि उनके प्राचीन दार्शनिक और ऋषि उच्चतम सत्यों के प्रवक्ता थे और उनके ग्रंथ, जो आज इतना गलत समझे जाते हैं, उच्चतम मानवीय ज्ञान और प्रज्ञा के भंडार थे।''[93] यह सोसायटी बीसवीं सदी के प्रारंभ तक लोगों को आकर्षित करती रही, लेकिन राजनीति में गांधी के आने से स्थितियों में परिवर्तन आ गया।

रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस भक्ति, ध्यान और योग के अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचने के अलग-अलग मार्ग हैं। उन्होंने सभी धर्मों की मूलभूत एकता, अलौकिक ब्रह्म और आध्यात्मिक जीवन पर विश्वास रखने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार अलग-अलग मार्गों से धर्म साधनाओं से सभी धर्मों के अनुयाई उसी ईश्वर की खोज के लिए कदम बढ़ा रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस मानव सेवा को प्राथमिकता देते थे। माँ दुर्गा से उन्होंने प्रार्थना की कि मुझे दासों का दास बना। मानवता उनका उच्च आदर्श था।

स्वामी विवेकानंद ने मानव कल्याण के लिए अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम से रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। 1893 में शिकागो की विश्व धर्म संसद में दिए भाषण में उन्होंने भारतीय अस्मिता और विशाल हृदय का प्रमाण

दिया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार सारी धाराएँ अपने जल को सागर में ले जाकर मिला देती है, उसी प्रकार मनुष्य के सारे धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं। उन्होंने दृढ़ विश्वास से कहा कि मेरा धर्म सत्य है और मेरा विश्वास है कि आपका, आप सभी का धर्म भी सत्य है। सभी धर्मों में सत्य है जो विभिन्न धाराओं में एक ही गंतव्य की ओर ले जाता है। विवेकानंद ने वेदांत को व्यापक और सर्वोच्च उपयोगी धर्म घोषित करते हुए पश्चिम के धर्मों के साथ स्वस्थ और वेदांत के सिद्धांतों के संबंध पर बल दिया। विवेकानंद वेदांत समितियों की स्थापना करते हुए अमेरिका और यूरोप में 4 वर्ष तक व्याख्यान देते रहे। उनके अमेरिका और यूरोप यात्रा ने भारतीयों के हीनताबोध को कम करके उनके आत्मसम्मान में वृद्धि की। उन्होंने कहा कि हम पूजा के इस तामझाम को यानी कि देव मूर्ति के सामने शंख फूँकना, घंटा बजाना और आरती करना छोड़ दें। हम शास्त्रों के पठन-पाठन और व्यक्तिगत मोक्ष के लिए सब तरह की साधनाओं को छोड़ दें और गाँव-गाँव जाकर गरीबों की सेवा, गरीबों और पीड़ितों की सेवा करने का बीड़ा उठा लें। उन्होंने शिक्षितों को भी चुनौती देते हुए कहा कि जब तक करोड़ों लोग भूख और अज्ञान में गोते खा रहे हैं तब तक मैं हर आदमी को एक विश्वासघातक मानता हूँ, जिसने उनकी गाढ़ी कमाई के पैसे से शिक्षा पाई है और अब उन्हीं पर कोई ध्यान नहीं देता।[94] उन्होंने धार्मिक आंदोलन में हिंदू धर्म में मानवता की भावना को जोड़ा। परिवार, जाति, हिंदू धर्म और इस्लाम धर्म आदि से ऊपर उठकर व्यापक समुदाय के बारे में विचार किया।

भारतीय चेतना का स्वरूप

भारत के समाज का बहुभाषिक होना उसे पश्चिम से विशिष्ट बनाता है। भारत में सदियों से विभिन्न जाति, नस्ल और धर्म के लोग आते रहे और यहाँ बस गए। उनका रहन-सहन, बोली-बानी परंपराओं का भारतीय संस्कृति के साथ आकर्षक-विकर्षण हुआ। इससे भारतीय समाज और संस्कृति में विविधता का आयाम जुड़ा। इस तरह भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता और समावेशी प्रकृति ने इसे अधिक समृद्ध और स्थायित्व प्रदान किया। कितनी की आक्रमणकारी प्रजातियाँ आईं, रहीं, सत्ता पर भी आधिपत्य किया लेकिन भारत की मूल पहचान को मिटाने में सफल नहीं हो पाईं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि बहुत सी ऐसी सांस्कृतिक उलझनें केवल

समय के माध्यम से सुलझ गई है, जो किसी समय दुरूसमाधेय मानी गई होंगी। आर्यों और द्रविड़ों की सभ्यताओं का संघर्ष और बाद में समन्वय एक चिंता नहीं, ऐतिहासिक सत्य है। महाभारत और पुराणों के अध्ययन से आर्य और नागों के क्रांतिकारक संघर्ष का पता चलता है। परंतु महाकाल की छाया ने इस संघर्ष को स्मृति पट से बहुत दूर हटा दिया है। आगे चलकर इन नागों की अनेक रीतियाँ-नीतियाँ आर्य विश्वास का अंग बन गईं। सिंदूर नाग चूर्ण है। आर्य स्त्रियों ने इसे नाग जाति की आचार-पद्धति से ग्रहण किया है। परंतु आज वह हिंदू विवाह का अविच्छेद्य अंग हो गया है। केवल आर्यों और द्रविड़ों का संघर्ष ही अंत तक सुखकर फलशाली हुआ हो, ऐसा नहीं है। आर्यों और मंगोलों, शकों और द्रविड़ों के विभिन्न की संघर्ष भी एक समान भाव के सुनहरे पल में वर्णित हुए हैं मनुष्य युक्ति-तर्क मानकर चलने वाला प्राणी है। छोटी-मोटी बातों को लेकर वह दीर्घकाल तक लड़ता नहीं रह सकता।''[95]

भारतीय समाज की एक विशेषता धर्म विज्ञान और तत्व जिज्ञासा को अविरोधी मानना है। यहाँ दर्शन और धर्म के बीच गतिरोध नहीं रहा। भारतीय संस्कृति में अंतर बाह्य दोनों का महत्त्व है इसलिए आचरण शुद्धता पर भारतीय मनीषियों ने विशेष बल दिया। अंदर-बाहर दोनों की निर्मलता, शुद्धता के बिना सत्य को पाना कठिन माना गया। भारतीय धर्म साधना में मन की चंचलता को स्थिर करने पर विशेष जोर दिया गया है। भारतीय धर्म साधनाएँ मन को स्थिर करने के लिए निरंतर चिंतन करती रहीं और मार्ग प्रशस्त करती रही हैं। अन्यत्र ऐसा नहीं मिलता। डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारत की विशेषता बताते हुए लिखा है : ''भारत में धर्म संबंधी हठधर्मिता नहीं है। यहाँ धर्म एक युक्तियुक्त संश्लेषण है जो दर्शन की प्रगति के साथ-साथ अपने अंदर नए-नए विचारों का संग्रह करता रहता है। अपने आप में इसकी प्रकृति परीक्षणात्मक और अनन्तिम है और यह वैचारिक प्रगति के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास करता है। यह सामान्य आलोचना कि भारतीय विचार बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शनशास्त्र को धर्म का स्थान देता है। भारत में धर्म के युक्तियुक्त स्वरूप का समर्थन करती है। इस देश में कोई भी धार्मिक आंदोलन ऐसा नहीं हुआ जिसने अपने समर्थन में दार्शनिक विषय का विकास भी साथ-साथ न किया हो।''[96] श्री राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन पर लगाए आरोपों पर भी विचार किया। निराशावादी और रूढ़िवादी होने के आरोपों की सम्यक परीक्षा करते हुए वे भारतीय दर्शन के अनासक्त भाव, आचरण

की शुद्धता की वैशिष्ट्य को उजागर करते हैं। इसी के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त संतोष के कारणों का संकेत मिलता है, जिसे अनजाने में आलस और अकर्मण्यता में खपाने के प्रयत्न हुए हैं। एक आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास एवं व्यष्टि का समष्टि में समाहार भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के ऐसे उच्च मूल्य हैं जो भारतीयों के अहंकार को विगलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

19वीं सदी में सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्व और पश्चिम की इस टकराहट के परिणाम स्वरूप ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज,आर्य समाज या रामकृष्ण मिशन का अपने-अपने क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा। धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त अंधविश्वासों एवं साधना पद्धतियों में इन भारतीय मनीषियों ने कुछ परिवर्तन किए। ब्रिटिश शासन के सामाजिक क्षेत्र में बनाए कानून एवं शासन तंत्र में किए परिवर्तन का प्रभाव भी भारतीय समाज पर पड़ा। गुजराती और हिंदी समाज में धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की जड़ मान्यताओं एवं बालविवाह विधवाविवाह निषेध तथा स्त्री शिक्षा के बारे में पूर्वग्रह कम हुए और अंग्रेजी शिक्षा लेने की प्रति रुझान में उत्तरोत्तर विकास हुआ।

ब्रह्मसमाज ने भारतीय धर्म साधना के विविध पंथ-संप्रदायों में धार्मिक आचारों-विश्वासों के रूप में समाहित पाखंड, रूढ़ियों एवं कुरिवाजों को बदलने का कार्य प्रारंभ किया। राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन जैसे विचारकों ने ब्रह्मसमाज के माध्यम से परिवर्तन की आकांक्षा को बलवती बनाया। केशवचंद्र सेन के प्रयत्नों से महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज का प्रारंभ हुआ। आर्यसमाज के प्रणेता श्री दयानंद सरस्वती की बंगाल, महाराष्ट्र, युक्त प्रांत, विशेष रूप से बनारस, इलाहाबाद में निरंतर यात्राओं ने उन्हें भारतीय समाज की धर्मभीरुता और धर्म के विविध पथ संप्रदायों की भिन्नता और उनके परस्पर वैमनस्य से परिचित कराया। संस्कृत के प्रकांड पंडित दयानंद सरस्वती को वेद में भारतीय समाज के उत्थान के स्रोत लगे। आर्यसमाज की स्थापना के पीछे पश्चिमी प्रभाव से अधिक रूढ़िवाद के खिलाफ बुद्धि विवेकशीलता पर जोर दिया गया। आर्यसमाज की मूल लड़ाई हिंदू धर्म में जड़ जमाए हुए अंधविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों और पिछड़ेपन से थी। स्वामी जी को इसके लिए युक्त मार्ग वैदिक धर्म का विशुद्ध रूप लगा। समय-समय पर हिंदू धर्म में घुस गईं विकृतियों को दूर करने के उपाय भी किए गए लेकिन आर्यसमाज में मूर्तिपूजा, अवतारवाद देवी-देवताओं पर विश्वास, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य के कार्य के महत्त्वपूर्ण अवदान

को भी स्थान नहीं था। 19वीं साड़ी के धार्मिक आंदोलन में उत्तर भारत एवं पश्चिम भारत के बड़े क्षेत्र को दयानंद जी ने झकझोरा अवश्य और परोक्ष रूप से रूढ़ियों, कुरिवाजों, अंधविश्वासों को दूर करने के प्रयास भी हुए लेकिन मूर्तिपूजा एवं भक्ति आंदोलन के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना से आर्य समाज का प्रभाव सीमित होता चला गया।

गुजराती और हिंदी समाज में धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की जड़ मान्यताओं एवं बालविवाह, विधवाविवाह निषेध तथा स्त्री शिक्षा के बारे में पूर्वग्रह कम हुए और अंग्रेजी शिक्षा लेने के प्रति रुझान में उत्तरोत्तर विकास हुआ। गुजराती और हिंदी के साहित्यकार अपनी धार्मिक आस्था में विश्वास रखते हुए भी उनमें निहित कर्मकांडों और अंधविश्वासों से समाज को उबारने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं। विविध धर्म–संप्रदायों एवं साधना पद्धतियों में बद्ध भारतीय समाज को 19वीं सदी के धार्मिक आंदोलनों के कारण भारतीय चेतना की मूल धारा से संबद्ध होने का मार्ग दिखाई देने लगा। एक अलौकिक सत्ता में विश्वास, ब्रह्म और उसकी लीला भूमि जगत की सत्यता, पूर्व जन्म में विश्वास, कर्म फल एवं वैयक्तिक सदाचार युक्त धर्म साधना और उसके परिणाम में विश्वास की मूल भारतीय चेतना के अंत:सूत्र भारतीय समाज में अंतर्निहित हैं जिन्हें सांस्कृतिक क्षेत्र के सुधारों ने उभारने का कार्य किया। 19वीं सदी के साहित्य में इनकी प्रतिध्वनि सुनाई देती है। गुजराती में नर्मद, नवलराम, नंदशंकर, मणिलाल नभूभाई द्विवेदी, महीपतराम नीलकंठ, गोवर्धनराम त्रिपाठी एवं हिंदी के भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' एवं राधाचरण गोस्वामी उनके समकालीनों के साहित्य में इस भारतीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है।

संदर्भ

1. सतीश चंद्र, मुगलों की धार्मिक नीतियाँ: राजपूत समुदाय और दक्खिन, पृष्ठ 65
2. वही, पृष्ठ 94
3. एम. अतहर अली मध्यकालीन भारत, अंक 1, संपादक इरफान हबीब, पृष्ठ 117
4. वही, पृष्ठ 121–22
5. मनुभाई शाह, भारतनो इतिहास–मराठायुग–1707 थी 1818, पृष्ठ 264–267
6. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास खंड 2, पृष्ठ 48
7. वाक्–22,मार्च 2016 सं. सुधीश पचौरी, पृ.15
8. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड 2, पृष्ठ 91
9. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड 2 से उद्धृत, पृ. 91–92
10. उद्धृत, वही, पृष्ठ 59–60
11. आर. डब्लयू फ्रेजर, ब्रिटिश इंडिया, पृष्ठ 315
12. भारतीय पुनर्जागरण ,भारतीय नवजगरण और भारतेंदु तथा नर्मद का साहित्य, पृष्ठ 21
13. हिन्दी नवजागरण की अवधारणा, संदेह के बाबजूद, आलोचना अप्रैल–जून, 2001 पृ.51–52
14. डॉ. शंभूनाथ वही,पृष्ठ 56
15. औपनिवोशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष, पृष्ठ 13
16. वही, पृष्ठ 13–14
17. वही, पृष्ठ 15
18. शंभुनाथ, भारतीय नवजागरण: एक असमाप्त सफर, पृष्ठ 387–88
19. भारतीय पुनर्जागरण, सं. भारतीय पुनर्जागरण, भारतीय नवजगरण और भारतेंदु तथा नर्मद का साहित्य, पृष्ठ 31
20. भारतीय नवजागरण और उसके विविध आयाम, नवजगरण और भारतेंदु तथा नर्मद का साहित्य, सं महावीर सिंह चौहान, पृष्ठ 144
21. के एन पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक एवं विचारधारात्मक संघर्ष, पृष्ठ 47
22. वही पृष्ठ 48–51
23. सुशोभन सरकार, बंगला नवजागरण, पृष्ठ 16

24. वही, पृष्ठ 18
25. तिथि भट्टाचार्य, दि सेंटिनल ऑफ कल्चर से उद्धृत, पृष्ठ 74
26. नीरा अ. देसाई (डॉ.) गुजरातमाँ ओगणीसमी सदीमाँ सामाजिक परिवर्तन, पृष्ठ 273
27. वही, पृष्ठ 275
28. वही, पृष्ठ 276
29. वही, पृष्ठ 287
30. वही, पृष्ठ 290
31. वही, पृष्ठ 296
32. वही, पृष्ठ 304
33. वही
34. एम. जी. कुरैशी, गुजरातनो सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास, ब्रिटिश काल, ग्रंथ-8, पृष्ठ 242
35. वही, पृष्ठ 242-247
36. वही, पृष्ठ 245
37. वही, पृष्ठ 247
38. थॉमस बेरत्राम परमार, वहीं,पृष्ठ 255
39. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास-खंड 2, पृष्ठ 173
40. वही,,पृष्ठ 54-55
41. उद्धृत, वही, पृष्ठ 185
42. वही, पृष्ठ 180
43. वही, पृष्ठ 189
44. वही ,पृष्ठ 193
45. परमेश आचार्य, देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, पृष्ठ 2
46. वही,पृष्ठ 3
47. वही, पृष्ठ 4-5
48. गुजरातनो राजकीय अने सामाजिक इतिहास-ग्रंथ 8 (ब्रिटिश काल), पृष्ठ 317
49. वहीं, पृष्ठ 320
50. 'साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन', पृष्ठ 4
51. धर्मपाल, भारत का स्वधर्म, पृष्ठ 40-41

52. परमेश आचार्य, देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, पृष्ठ 6
53. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास खंड-2 पृष्ठ 188
54. मैकाले, एलि्फस्टन और भारतीय शिक्षा, पृष्ठ 266-267
55. वही, पृष्ठ 283-84
56. धीरूभाई ठाकर, गुजराती साहित्यनी विकासरेखा-दो सुधार युग, पृष्ठ 8
57. साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन, पृष्ठ 13
58. जयना परम पाठक, गुजराती शालापत्र:अभ्यास पत्रक पर्यटन, पृष्ठ 77
59. गुजरातनो राजकीय अने सामाजिक इतिहास-ग्रंथ 8 (ब्रिटिश काल), पृष्ठ 338-339
60. वही, पृष्ठ 344
61. वही, पृष्ठ 346
62. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृष्ठ 118
63. वही,, पृष्ठ 67
64. वही, पृष्ठ 65
65. गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास: ग्रंथ 8, पृष्ठ 316
66. वही, पृष्ठ संख्या 333
67. वही, पृष्ठ 383-384
68. नवजागरण कालीन गुजराती साहित्य, महावीर सिंह चौहान (संपा.), पृष्ठ 121
69. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 20
70. उद्धृत, वही, पृष्ठ 20-21
71. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 288
72. कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृष्ठ 72
73. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 91
74. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 282
75. वही, पृष्ठ 296
76. वही, पृष्ठ 306
77. ओपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, पृष्ठ 107
78. वही, पृष्ठ 108
79. वही, पृष्ठ 117
79A अनंतराय रावल, अपूर्व गद्यग्रंथ: वचनामृत लेख से उद्धृत, स्वामीनारायण संत साहित्य,

सं. रघुवीर चौधरी, पृ. 37

79B हसमुख दोशी, स्वामीनारायण संत साहित्य, पृ. 97

80. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड 2, पृष्ठ 236

81. वही, पृष्ठ 239

82. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृष्ठ 369

83. ताराचंद्र, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड–2, पृष्ठ 383–384

84. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड–2, पृष्ठ 378

85. वही,पृष्ठ 380

86. पृष्ठ 38

87. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृष्ठ. 401

88. उद्धृत, ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, पृष्ठ 335

89. के. दामोदर, भारतीय चिन्तन परंपरा, पृष्ठ 406

90. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, पृष्ठ 399

91. वही, पृष्ठ 400

92. के. दामोदर, भारतीय चिंतन परंपरा से उद्धृत, पृष्ठ 390

93. उद्धृत, वही, पृष्ठ 392

94. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड–2, पृष्ठ 392

95. अशोक के फूल, पृष्ठ 59–60

96. भारतीय दर्शन भाग–1, पृष्ठ 20–21

अध्याय- दो

धर्म और धार्मिकता

19वीं शताब्दी के भारत में धर्म अनेक क्षेत्रीय एवं स्थानीय परंपराओं में बद्धमूल होने पर भी धर्म दर्शन विमर्श में एक अलौकिक सत्ता में विश्वास और आचरण की शुद्धता के बारे में विचार भेद नहीं था। मिशनरियों ने भारत के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं पर प्रश्न खड़े किए। ईसाई मत का एकेश्वरवाद भारत के बहुदेववाद, सर्वेश्वरवाद और अद्वैतवाद से भिन्न बताया गया। कंपनी सरकार से सहयोग मिलते ही मिशनरियों ने यह कार्य तेज कर दिया। उन्होंने हिंदू धर्म के अनेक अनेक देवताओं और मूर्ति पूजा को भी स्वीकार नहीं किया। बल्कि शंकर के अद्वैतवाद और वेदांत के निर्वैयक्तिक ब्रह्म की अवधारणा को दोष पूर्ण बताकर भर्त्सना की।[1] दूसरी ओर परिस्थिति और परिवेश के कारण हिंदू धर्म विविध पंथों-संप्रदायों में विभाजित होता गया। 'संप्रदायों और जातियों की जकड़ में पड़े 18वीं शताब्दी के हिंदू समाज में लोकप्रिय धर्म जादू-टोने, सर्वचेतनावाद और अंधविश्वासों से ग्रस्त हो गया था। बहुदेववाद और मूर्तिपूजा ने धर्म को लंबे चौड़े कर्मकांड का पर्याय बना दिया था और धार्मिक आचारों तथा कर्मकांड में आत्मपीड़न और पशु बलि की कुरीतियां समा गई थीं।'[2] इन पंथों और संप्रदायों के वर्चस्व के संघर्ष ने भारतीय मानस में असमंजस और भय को बढ़ावा दिया। अधिकतर पंथ, संप्रदाय समाज में अपनी पकड़ बनाए रखने और विस्तार के लिए छल-छद्म का सहयोग भी ले रहे थे। परंपरा में विश्वास के साथ धर्म धारण करने के लिए वे अलग-अलग आचार और व्यवहार निर्देशित करते थे। इससे बहुत सा पाखंड और दुराचार धर्म में घुल मिल गया था। अपनी आंतरिक प्रकृति और उसमें निबद्ध रहने वाले भारतीय समाज पर सैद्धांतिक और तार्किक हमला ईसाई मत के जुझारू प्रतिनिधि अलेक्जेंडर डफ ने किया। उसने ईसाई मत से

कुछ समानताएं देखीं पर अंततोगत्वा भिन्नताओं को निर्णायक माना: 'हिंदू धर्म का त्रित्व अपने दैवी संघटन में ईसाइयत के त्रित्व से ठीक उलट है। साथ ही अपने पवित्र व्यक्तियों के चरित्र, कर्त्तव्य और कार्यों में भी वह उलट है। हिंदूवाद के अवतार सत्य के सबसे बेतुके विकृतीकरण हैं। उनमें से सबसे सुखी सबसे स्वच्छ और सबसे परिपूर्ण अर्थात विष्णु को, कृष्ण के रूप में लें। अपने बाह्य सौंदर्य के होते हुए, जो कि कलात्मक साज-सज्जा से और बढ़ जाता था। इस अवतारी देवता का चरित्र क्या था? अपनी युवावस्था में उसने सोलह हजार गोपियाँ चुन रखी थीं, जिनके साथ वह नाच गान के लंपट विलास में घंटों मगन रहता था और साथ ही हर तरह के व्यभिचार और दुष्ट आनंद के छिछोरेपन में भी। श्रेष्ठता के सवाल को लेकर एक राजा के साथ हुए झगड़े में वह इतना क्रोधित हो गया कि उसने अपने प्रतिद्वंदी का सर कलम कर दिया।'[3]

विवाद का दूसरा पक्ष मूर्तिपूजा था। इस संदर्भ में वसुधा डालमिया ने लंदन मिशनरी समिति के जेम्स कैनेडी का उदाहरण दिया है। जेम्स कैनेडी बनारस में लंबे समय तक रहे थे। वह प्रदेश और हिंदू धर्म से अच्छी तरह अवगत थे, लेकिन बनारस इंस्टीट्यूट में हिंदू धर्म और मूर्तिपूजा पर दिए एक व्याख्यान जो 1867 में एक 'हिंदू' नाम से प्रकाशित हुआ था,उस पर क्रिश्चियनिटी एंड द रिलीजियस ऑफ़ इंडिया (1874) में प्रतिक्रिया दी: ''हमारे हिंदू दोस्तों! अगर हम सच बोलें तो आपको हमें अपनी दृढ़ धारणा व्यक्त करने की इजाजत देनी चाहिए। हमने कुछ अनपढ़ तरीके से उकेरे हुए पत्थरों के सामने थके माँदे मुसाफिरों को नतमस्तक होते देखा है और यह विचार किया है कि अपने हृदय को भगवान में लगाने के लिए वे इसमें क्या पा सकते हैं। हमने बीमार और दुखी लोगों को उसे भगवान से राहत माँगते देखा है जिससे वह इन पथरीली आकृतियों में बसा हुआ मानते हैं। ....एक 'हिंदू' कहता है जिसे हम परम सत्ता के रूप में पूजते हैं, वह यह प्रतिमा नहीं है बल्कि वह सर्वव्यापी परमात्मा है जो प्रतिमा में व्याप्त है क्योंकि पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त है जब तक हिंदुस्तान इस मूर्तिपूजा से ऊपर नहीं उठेगा, वह दुनिया में अपनी सही जगह हासिल नहीं कर पाएगा। बेहतर हो कि आप में से जो प्रबुद्ध जन हैं, वे थके हारे और परिष्कृत तर्कों से इसे बढ़ावा देने की बजाय इसकी निंदा करने में लगें।'[4]

मिशनरियों एवं अंग्रेज बौद्धिक वर्ग के इस आक्रमण के साथ आंतरिक रूप में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज द्वारा भारतीय धर्म साधना की सीमाओं को रेखांकित

किया गया। यद्यपि अंग्रेज बौद्धिकों के प्रश्नों पर सीधा प्रतिकार नहीं दिखाई देता लेकिन भारतीय बौद्धिकों में उनकी अवधारणाओं पर तीव्र प्रतिरोध का स्वर मिलता है। राममोहन राय के जीवन काल में उन्हें ईसाइयों का पक्षधर कहा गया, तो दयानंद की वेद प्रियता तक सीमित रहने की भी प्रतिक्रियाएँ हुईं, जिन्हें यथा संदर्भ प्रस्तुत करेंगे।

राममोहन राय एवं जान म्यूर और जेम्स वैलेंटाइल ने भारतीय धर्म–दर्शन की समानताओं के संकेत दिए। राममोहन राय ने मूर्तिपूजा को नितांत निष्प्रयोजन नहीं माना, उसे लोगों की अकर्मण्यताऔर आलस में डूबने से कहीं अच्छा माना (द ब्रहैनिकल मैगजीन चतुर्थ भाग)।[5] उन्होंने अज्ञेयतावाद के विशुद्ध तर्क को नहीं स्वीकारा, ''ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनके ज्ञान प्राप्त करने में हमारी इंद्रियाँ असमर्थ हैं अथवा हमारा अनुभव उनके बोध कराने में असमर्थ है। फिर भी उन्हें विश्वसनीय बनाया जा सकता है या अनुभवजन्य अनुमान से प्रमाणित किया जा सकता है जैसा कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से स्पष्ट है। अपने 'रेलिजस इंस्ट्रक्शन' नामक ग्रंथ में उन्होंने तर्क किया कि जब हम ईश्वर को अगोचर और अवर्णनीय मानते हैं, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसके स्वरूप का कोई अनुमान नहीं किया जा सकता और जब हम यह कहते हैं कि उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तब हम केवल उसके अस्तित्व का ही संकेत देते हैं। परमात्मा है, यह तथ्य उसकी इस शक्ति से भली बात स्पष्ट है जिसके द्वारा वह विश्व की चराचर सृष्टि की रचना और उसका संचालन करता है।मैं तो यहाँ तक कहूँगा की उस सर्वशक्तिमान ईश्वर का ज्ञान संकीणर्ताओं से मुक्त तथा सहज बुद्धि युक्त मानव मन के लिए कठिन नहीं है (ए डिफेंस आफ हिंदू थीईज्म)।''[6]

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ग्रियर्सन और ग्राउज जैसे भारतविद ईसाई मत और हिंदू मत के बीच समानताओं को रेखांकित करने लगे थे, जिन्हें कुछ सीमाओं के साथ राजेंद्र लाल मित्र और आर. जी. भंडारकर ने स्वीकार किया। फ्रेडरिक श्लेग्ल ने पहले विष्णु को एक मुख्य और केंद्रीय देवता माना और उसे सूर्य से अभिन्न बताया। अल्ब्रेख्त वेबर (1868) ने कृष्ण को ईशा के साथ मिलाकर देखा। अल्ब्रेख्त बेवर उन शुरुआती लोगों में से हैं जिन्होंने कृष्ण के मिथक और मान्यताओं को स्पष्टत: ईसाईयत के साथ दुबारा जोड़ा। उन्होंने माना कि तीसरी सदी से ईसाईयत ने भारत पर प्रभाव डालना प्रारंभ कर दिया था।[7] वसुधा डालमिया ने वेबरको उद्धृत किया है: ''हालाँकि इसी समुदाय के निर्माण और मौजूदगी

के संबंध में पहले से उपलब्ध आँकड़ों से आगे कोई नया आँकड़ा सामने नहीं आया है पर हाल में कृष्ण सेवा द्वारा ईसाइयत से प्रेरणा लेने की बात और ईसाइयत के अन्य प्रभावों की बात भी, जोरदार तरीके से प्रकाश में आई है; और इस खोज को अभी किसी भी तरह समाप्त हुआ नहीं मानने के बावजूद आगे बताए गए मुख्य बिंदुओं को निश्चय के साथ मान्यता दी जा सकती है। कृष्ण सेवा जो कि एक ईश्वर के रूप में कृष्ण की उपासना है, भारतीय धर्म व्यवस्था के युवतम दौर में से एक है और आरंभिक ब्राह्मण–गाथाओं में कृष्ण की जो स्थित है, उससे यह कोई स्पष्ट संबंध नहीं रखती: दोनों के बीच एक फांक है जिसे, ऐसा प्रतीत होता है, केवल किसी बाहरी प्रभाव की कल्पना करके ही भरा जा सकता है।''[8] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ए. फ. लोरिंजर के श्रीभगवत् गीता के साथ ईसा चरित्र के अंशों को आमने–सामने रखकर समानताओं को रेखांकित किया। इसी तरह एफ.एस. ग्राउज ने वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांत और अनुशीलन को ईसाईयों के साथ मिलाकर देखा।[9] मोनियर विलियम्स ने 1881 के लेख में घोषणा की कि 'भारत में एकेश्वरवाद वेदों के काल से मिलता है और यह कि देश में बहुदेववाद को सबसे सुस्पष्ट रूप भी ईश्वर के एकत्व के बुनियादी सिद्धांत पर आधारित है। उसने इस बात का भी उल्लेख किया कि वैष्णव ईश्वरवाद, ईश्वर की एकत्व और व्यक्तित्व संबंधी उन ईसाई विचारों के साथ समानता रखता है, जो इंग्लैंड के चर्च के पहले आर्टिकल में व्यक्त किए गए हैं।'[10]

भारतीय धर्म दर्शन को दंतकथाओं, कल्पना और तर्कहीनता के आरोप से प्रारंभ हुए ब्रिटिश विद्वानों के अवलोकन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समानताओं पर आने लगते हैं। पश्चिमी विद्वानों और प्राच्यविद्याविदों द्वारा प्रारंभ में भारतीय धर्म–दर्शन को अतार्किक, कपोल कल्पित कहते हुए ईसाई धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित किया जाता है। लेकिन धीरे–धीरे ईसा के साथ विष्णु के प्रतिरूप कृष्ण की समानता दर्शाने लगते हैं। भारत के एकेश्वरवाद को वेदों के समय से स्वीकारते है। एलेक्जेंडर डफ से मोनियर विलियम्स के समय तक प्राच्यवादियों के विचारों में आया परिवर्तन किस तरह का संकेत करता है, यह भी विचारणीय है। लेकिन यह पूर्वाग्रह लंबे समय तक बना रहा। श्री अरविंद ने 'फाउंडेशन ऑफ इंडियन कल्चर' ग्रंथ मेंमिस्टर विलियम आर्चर के भारत जीवन और संस्कृति पर आक्रमण के उत्तर में सर जॉन वुडड्रॉप की पुस्तक क्या भारत सभ्य है? को केंद्र में रखकर यूरोपीय विद्वानों के तथाकथित संकीर्ण विचारों को बताते हुए, भारतीय धर्म

संस्कृति की उदात्तता को रेखांकित किया है। यह ग्रंथ 20वीं के पूर्वार्ध में यूरोप की बदलती मानसिकता और भारतीय मनीषियों के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने उड्स के मत को उद्धृत किया जो जर्मनी, अमेरिका और इंग्लैंड की धार्मिक मान्यताओं पर हिंदू सर्वेश्वरवाद का प्रभाव और एक अन्य लेखक ने यूरोप के समस्त उच्चतम दार्शनिक चिंतन का मूल स्रोत 'ब्राह्मणों की पूर्ववर्ती विचारधारा' को माना।[11] श्री अरविंद ने शोपेनहावर और इमर्सन जैसे पश्चिमी विद्वानों पर उपनिषदों और गीता दर्शन के प्रभाव को रेखांकित किया। उन्होंने अतीत की इस महत्ता से भारतीय विचारशील वर्ग को चेताया भी कि अपने अतीत की महत्ता का बोध हमारे लिए ऐसा आकर्षक और सम्मोहन नहीं बन जाना चाहिए कि वह हमें अकर्मण्यता की ओर घसीट कर मृत्यु के मुँह में ले जाए; बल्कि उसे नवीन और महत्तर प्राप्ति के लिए एक प्रेरणा का काम करना चाहिए।[12]

यूरोप और भारत के बीच के संघर्ष में उपनिवेशक और उपनिवेशित वर्ग की मानसिकता एवं परवर्ती काल की परिस्थितियों और चेतना का विकास भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गुजराती और हिंदी के सजग साहित्यकार इन स्थिति-परिस्थितियों के बीच तत्कालीन धार्मिक परिवेश पर अपने शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार प्रतिक्रिया दे रहे थे। यहाँ गुजराती और हिंदी के साहित्यकारों की अभिव्यक्ति में धर्म और धार्मिकता के संबंध में दी गई प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत किया गया है।

गुजराती दुर्गाराम मेहता (1809-1876)

गुजरात के सूरत शहर में दुर्गाराम मेहता ने दादोबा पांडुरंग के सहयोग से 22 जून 1844 में मानवधर्मसभा की स्थापना की, जिसके सात नियम बने। 1. सर्व सृष्टि का ईश्वर एक है। 2. मनुष्य मात्र की जाति एक है। 3. मनुष्य मात्र का धर्म एक है, परन्तु जिन्होंने अपने-अपने अलग-अलग धर्म मान लिए हैं, यह उनका दृष्टिकोण है। 4. मनुष्य की पहचान उसके गुण से जानी जा सकती है ,उसके कुल से नहीं। 5. विवेक के अनुसार कार्य करना। 6 ईश्वर के अनुग्रह के लिए भक्ति करनीं। 7. सभी को सद् मार्ग की शिक्षा देनी।[13] उल्लेखनीय है कि मुंबई में रानाडेके प्रार्थना समाज से पहले दुर्गाराम मेहता और दादोबा ने सूरत में 1844 मेंमानव धर्मसभा को स्थापित किया, जिसकी प्रत्येक शनिवार को बैठक

होती थी। बैठक का विवरण दुर्गाराम स्वयं लिखते थे। इस सभा का सूरत और गुजरात के प्रबुद्ध वर्ग पर गहरा प्रभाव था। इसका एक प्रमाण यह है कि भूत–प्रेत के संदर्भ में जब विज्ञापन निकाला गया और इसके लिए चेतावनी दी गई तो 1 दिसंबर 1844 कीसभा में 2000 से भी अधिक लोग उपस्थित थे।[14] नर्मदाशंकर से पहले सभा कार्य कर रही थी लेकिन पोथियों में ये विचार अप्रकाशित पड़े थे। मानवधर्म सभा की साप्ताहिक बैठकों में प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा प्रश्न पूछे जाते थे जिनका उत्तर दुर्गाराम देते थे। 28 जुलाई 1844 की बैठक में 25 व्यक्ति थे, उनके सामने दुर्गादास ने पिछले शनिवार की लिखित रिपोर्ट पढ़ी थी। ''सुनो! कोई गंगा आदि नदियों में, अथवा किसी भी जलाशय में स्नान करता है, कोई जात्रा करने जाता है, कोई नाम स्तुति करता है,कोई यज्ञ करता है, कोई उल्टे सिर तप करता है, कोई कोई पंचाग्नि साधता है, कोई ब्राह्मण को भोजन कराता है, कोई मूर्तियों को पूजता है, कोई सैकड़ों वर्ष पूर्व के मृत व्यक्ति का ही नाम भजता है इत्यादि अनेक साधनों से मनुष्य भटकता रहता है। यह सभी साधन झूठे हैं। इसलिए जिस मनुष्य का परमार्थ कल्याण हो उसके साधन मैं कहता हूँ, उसे सुनो। विवेक, वैराग्य, षट संपत्ति, मुमुक्षा इन चार साधनों से मनुष्य की बुद्धि पवित्र होगी।''[15] दुर्गाराम मेहता इन चारों का विश्लेषण करते हैं। वैराग्य को परिभाषित करते हैं कि नागा बाबा की तरह भभूत लगाकर निर्जन में रहना वैराग्य नहीं है, अपितु संसारी की तरह सारे कार्य व्यवहारकरना परंतु सभी को नाशवान समझना, इसलिए वह अनीति, जुल्म और चोरी इत्यादि नहीं करता। इस तरह वैराग्य का अर्थ अनीति पर न चलना है। दुर्गाराम षट् संपत्ति के छह अंग–सम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की व्याख्या करते हैं। सम यानी शांति, कोई क्रोध करें तो भी शांत रखना, किसी के साथ लड़ना नहीं। किसी से ईर्ष्या करके उसका अहित न करना। जो वस्तु प्राप्त नहीं हो सके उसकी तृष्णा नहीं रखनी, दम अर्थात इंद्रियों को स्वाधीन रखना उन्हें बहकने नहीं देना। अज्ञानी यह समझते हैं कि इंद्रियों का दमन करना उन्हें निर्बल करना योग्य है उपरति यानी विराम और प्रतिष्ठा का अर्थ सहनशीलता है। उन्होंने मुमुक्षा यानी मोक्ष की इच्छा को भी व्याख्यायित किया।[16] दुर्गाराम ने भूत, डाकिन और जादू के भ्रम जाल से गुजरात की प्रजा को मुक्त किया, इसलिए गुजराती समीक्षक नवलराम ने उन्हें गुजराती (समाज) सुधार (नवजागरण) के आदिपुरुष और देश के सही मित्र कहा है।[17]

नर्मदाशंकर (1833–1886)

नर्मदाशंकर ने धर्म क्षेत्र में व्याप्त अतिरेकों और पाखंडों का विरोध करते हुए लोक जिज्ञासा को सरल सहज भाषा में संतुष्ट करने का प्रयास किया। 'ब्रह्मतृषा' निबंध में प्रबोधन शैली में है, ''भाइयों, बहुत आघातजनक बात है कि तुम्हारे पास ईश्वर की छाया होते हुए भी धूप में भटक रहे हो? किसलिए भटक रहे हो। जिससे तुम्हें अपार आनंद मिले ऐसे ब्रह्म को छोड़कर इधर–उधर उल्टे मार्ग पर क्यों भटकते हो?''[18]

नर्मद हिरन और माँ–पुत्र के रूपक द्वारा सरल भाषा में ब्रह्मतृषा की तृप्ति के लिए समझाते हैं। संध्या, पूजन, यज्ञ, आहुति आदि ब्रह्म को रिझाने के बाह्य उपकरण कहते हैं जिनसे विशेष लाभ नहीं होता। 'मनुष्य त्रिविध ताप में जलता होता है। इस संसार के विकट मार्ग पर बिना कारण काम–क्रोधादि कुत्तों से घबराए हुए को ब्रह्म के पान की आवश्यकता होती है।'[19] वे ब्रह्मतृषा में लीन होने का आह्वान देते हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या' की तात्विक चर्चा में न उतरकर सहृदयों को जगत को सत्य मानने और उसकी सुंदरता का आस्वादन करने को प्रेरित करते हैं। ''संसार छोड़कर जंगल में बसा नहीं जाता, इसी प्रकार दूसरी विद्याएँ छोड़कर एक ही विद्या को नहीं सीखा जाता, क्योंकि ऐसा करने से ईश्वर नियम टूटता है। तो भी प्रसंगोपातकुछ लोगों जिनकी ऐसे कार्य में बुद्धि दौड़ती है, उनको जगलीलाभ्यास में अपने मन को लगाना चाहिए।''[20]

'भक्ति विषे' और 'साकार विषे' लेख वैष्णव संप्रदाय के महाराजों के समाज सुधार के विरुद्ध दिए प्रवचनों के प्रतिकार में दिए भाषणों के सार हैं। 'भक्ति विशे' में नवधा भक्ति की व्याख्या है। उन्हें सख्य भक्ति के प्रति पूर्वाग्रह था क्योंकि वैष्णव मंदिरों की अनाचार लीला से वे परिचित थे। इसलिए परकीया प्रीति की रसज्ञता और आकर्षण को समझते हुए भी वे सख्य भक्ति का विरोध करते हैं, ''ईश्वर को अपने समान सखा समझना अविवेक है उसमें भी उसे कामीमानकर भजना, यह तो अत्यधिक अविवेक, उद्धताई और छिछलापन है।[21] वे रास पंचाध्यायी के श्रृंगारिक प्रसंगों के संदर्भ में परीक्षित की शंका और सुखदेव के समाधानों का उल्लेख करते हैं। चर्चा का अंत ऋते ज्ञानं न मुक्ति (ज्ञान बिना मुक्ति नहीं) से करते हैं, ''भक्ति करते हुए किसी प्रकार का स्वार्थ मन में नहीं रखना; निष्काम भक्ति करनी। ईश्वर की लीला देखने और सुनने से अपने मन को जो स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न हो, वही भक्ति है।''[22]

तत्कालीन कुछ वैष्णव महाराजों के अनाचार और स्वहित में शास्त्रों की व्याख्या का नर्मद द्वारा किए गए तीव्र विरोध का ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने जदुनाथ जी महाराज को पत्र लिखा और सार्वजनिक किया। नर्मद का महाराज जदुनाथ के साथ अगस्त 1860 से अक्टूबर 1860 तक पत्राचार हुआ जिसमें उन्होंने अपने तार्किक रूप से शास्त्रों के उदाहरण द्वारा वैष्णव संप्रदाय के महाराज का शास्त्रों के अपने ढंग से व्याख्या और उनके ग्रहण और त्याग को सार्वजनिक ढंग से चुनौती दी। नर्मद साहित्य के गहन अध्येता और संपादक रमेश म. शुक्ल ने 'नर्मदवृतांत' में नर्मद के समकालीन पत्रों, पाक्षिकों एवं मासिक पत्रिकाओं की सामग्री को संकलित किया है। उसमें नर्मद और जदुनाथ महाराज के बीच पत्राचार भी संकलित है। 23 सितंबर 1860 में नर्मद ने बंदर के हाथ में उस्तरा आने और उसके परिणाम को याद करते हुए विस्तृत विवरण के बाद महाराज से तीन प्रश्न पूछे :

1. चार वेद, छह शास्त्र, 18 स्मृति, 18 पुराण इत्यादि प्राचीन ग्रंथों को आधार मानकर तुम्हारा पंथ चलता है, ऐसा अपने सिद्धांत के ग्रंथों से प्रमाणित कर सकते हो?
2. जब ये सभी ग्रंथ ईश्वरकृत हैं तो उनमें से कुछ मान्य और दूसरे अमान्य करने के क्या कारण हैं? ईश्वर का एक वचन कबूल करते हो तोदूसरा क्यों नहीं?
3. दूसरे सभी आचार्यों ने जो टीका तथा भाष्य किए हैं, वह तुम्हारे संप्रदाय वालों ने क्यों माने नहीं और अपनी मर्जी के अनुसार दूसरे क्यों बनाए?[23]

महाराज की ओर से प्रकाशित 'सुधर्मवर्धक और संशयछेदक' पत्रिका की प्रतिक्रिया में 30 सितंबर 1860 को नर्मद उसका विस्तृत विश्लेषण करते हुए उनके आशय को दस मुद्दों में स्पष्ट करते हैं:

1. श्रीमद् आचार्य पर दृढ़ विश्वास करना।
2. श्री कृष्ण की सेवा करनी, यही मुक्ति है और इसके अलावा अन्य मोक्ष वगैरह की इच्छा नहीं रखनी।
3. लोक की लाज तथा वेद और शास्त्र की आज्ञा को त्याग कर गोपीनाथ की शरण स्वीकार करनी।
4. देव, गुरु के आगे दैन्य भाव रखना।

5. मैं ब्रज की गोपी हूँ, ऐसा मन में धारण करना परंतु मैं पुरुष हूँ, ऐसा मन में नहीं लाना।
6. नित्य गोसाई जी के गुण गाएँ।
7. गोसाई जी के नाम की महिमा सुननी।
8. सिर्फ गुरु की आज्ञा पर ही ध्यान देना।
9. गोसाई जी जो बोलें या करें, उस पर विश्वास रखना।
10. वैष्णव जन की सेवा करनी और जो बोलें उस पर विश्वास रखना।

ये 10 मुद्दे पढ़कर लोगों की आँख खुल जाएगी कि अपना पंथ चलाने के लिए कैसी युक्तियाँ की गई हैं। तीसरी युक्ति में लिखा है कि वेद-शास्त्र की आज्ञा त्याग कर गोपीनाथ की शरण स्वीकार करनी', जब वेद-शास्त्र ईश्वरकृत हैं तो उनकी आज्ञा क्यों तजी जाए! अरे रे, यह कैसी युक्ति! यह कैसी ठगाई! यह कैसी लुच्चाई! अरे वैष्णवो, तुम्हें ईश्वर ने अक्ल तथा बुद्धि दी है, उससे तुम विचार करो कि एक स्थान पर महाराज कहते हैं, शास्त्र की प्रमाणित विधि से जो पंथी नहीं चलता उसको इस लोक और परलोक का सुख नहीं मिलता। और उनके ही द्वारा द्वारकेश कृत के तीसरे मर्म में वेद शास्त्र की आज्ञा तजकर गोपीनाथ की शरण लेने के लिए कहा है। आखिर में सत्य की ही विजय है। झूठकई बार टिक नहीं पाता हैं।[24] इस लंबे उद्धरण से नर्मद के साहस और समाजनिष्ठा के संकेत मिल जाते हैं।

नर्मदपुराणों को कल्पित बातों और धारणाओं का संग्रह मानते हैं और उन्हें सार रूप में ही ग्रहण करने को कहते हैं। ''पुराणों में जिन नीति,भक्ति का ज्ञान देने वाली पुरानी और नई,सच्ची और झूठी बातों का संग्रह है, वे अधिकतर कवि कल्पित बातें हैं, इन बातों का सार ही सही है। पर फलाने राजा और फलाने ऋषि ने ऐसी ऐसी कथाएं लिखी हैं, वे झूठी हैं, अलबत्ता कुछ, पर बहुत ही कम कवियों के अनुभव की हैं, वे सच्ची भी हो सकती हैं। हम लोग समझते हैं कि संस्कृत में जो लिखा है, वह धर्म संबंधी है, वह सच्चा है परंतु ऐसा नहीं है। संस्कृत में भी हजारों पुस्तक कल्पित हैं, कई झूठी हैं कई वीभत्स है, कई निरर्थक हैं तो कई अच्छी हैं।''[25] नर्मद अपनी सुधारक प्रवृत्ति के चलते घर की देव मूर्तियों को पड़ोसी के यहाँ रख आते हैं। लेकिन निर्गुण के सगुण रूप में चित्रित करने में मूर्तिपूजा के संदर्भ में अपने पूर्वजों की अपूर्व बुद्धि के प्रशंसक हैं। ''मूर्ति देखकर ईश्वर का गुणगान बहुत अच्छा है, परंतु चंदन, फूल चढ़ाना

और उत्सवों में समय व्यतीत करना और दायित्व के कार्य न करना, भयंकर भूल है।''[26] वे मनुष्य के कर्म पर बल देते हैं जिसमें उसके सामाजिक दायित्व भी शामिल हैं। उन्हें छोड़कर अकर्मण्य बन भगवत् भक्ति उन्हे रुचिकर नहीं लगती।

नर्मद अपने जीवन के उत्तर काल में सनातन धर्म की ओर मुड़े, जिसका सुधारक प्रवृत्ति के समयउन्होंन विरोध किया था। 'आर्योत्कर्ष' निबंध उनकी बदली मानसिकता को व्यक्त करता है: वे ब्रह्मसमाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज की एकांगिता पर टिप्पणी करते हैं: आर्य समाज वेद को ही मानता है, ब्राह्मण और उपनिषद को मान्यता नहीं देता। पुनर्जन्म को मानता है लेकिन देव, पितरों को नहीं मानता। इसलिए मूर्ति पूजा और तीर्थ स्नान को भी स्वीकार नहीं करता। 'ब्रह्म समाज से कुछ लोगों ने अलग होकर नया समाज बनाया है और केशवचंद्र के व्यवहार से उसकी छवि धूमिल हुई है–बाहरी टीप–टाप इतनी है कि समाज की एक छोटी सी टोली बंगाल में जगदीश्वर के भजन कीर्तन का प्रचार–प्रसार करती है। पंडित दयानंद का व्यक्तित्व, वेशभूषा, स्वभाव, भाषण,शिक्षा पहले से कुछ बदला है। पहले बोध सब तरह से धर्मोच्छेदक और उग्र होता था, जबकि अब कई तरह से धर्म रक्षक और कम उग्र दिखाई देता है। इसके बावजूद मूल उद्देश्य में कोई बदलाव नहीं आया है, उसका उद्देश्य आर्यमंडल में मानव धर्म को प्रतिस्थापन करना ही रहा है।''[27] नर्मद मानवधर्म का सामान्यीकरण करते हुए जो लिखते हैं, उसमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज के सत्व का समावेश हो जाता है।उन पर गीता दर्शन का प्रभाव भी परिलक्षित होता है: ''स्वार्थ को लेकर शरीर, मन को शुद्ध रखना, सत् कार्य युक्त उद्यम करना, सुख में घमंड नहीं करना और दुख में दुखी नहीं होना तथा अभिमान मुक्त होकर संतुष्ट रहें। परमार्थ के विषय में परोपकार करना, सत्य व्यवहार करना और न्याय पूर्ण व्यवहार करना।''[28] नर्मद ने धार्मिक असंगतियों पर अतिशय साहस और निर्भीकता से चोट की। तत्कालीन वैष्णव मंदिरों के पापाचारों पर करसनदास मूलजी से भी कटु होकर नर्मद ने लिखा। विषयी गुरु, गुरु और स्त्री, गुरु की सत्ता जैसे निबंध 1855 से 1860 के बीच लिखे गए। 'गुरु और स्त्री' नर्मद की निर्भीकता और साहस का उत्तम उदाहरण है, साथ ही उनकी यथार्थ दृष्टि, तार्किकता और अपेक्षा का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है। 19वीं सदी के धर्मभीरु समाज में गुरु के आदर्श एवं उनकी वास्तविकता को विषय बनाने में अतिरिक्त साहस और पागलपन की सीमा तक गहरी समाजनिष्ठा हो, तभी ऐसा साहस किया जा सकता

है। गुरु का साधारण धर्म वेद शास्त्र का गहन अध्ययन,नीति और शुद्ध आचरण, विवेक, संयम, अनासक्ति को मानते हैं। गुरु को अपने स्त्री–पुरुष सेवकों को समान मानना और उन्हें पवित्र दृष्टि से पुत्र–पुत्री समान देखना चाहिए।[29]

नर्मद वल्लभ कुल के पूर्व आचार्यों के ज्ञान और आचरण के प्रति अहोभाव प्रकट करने के बाद उनके वर्तमान बारसदारों की चरित्र भ्रष्टता पर कटु प्रहार करते हैं। और उन्हें 'सांड़' तक कह देते हैं। ऐसे अनीतिकारी गुरु अपने श्रद्धावान शिष्यों की नव परणित स्त्री के साथ संबंध बनाते हैं, ''शास्त्र में कहा है कि वर्ष में धान्यादि जो भी उत्पन्न हुआ हो, उसे प्रथम देव ब्राह्मण को नैवेद्य देकर फिर ग्रहण करें। इस बात को कई वैष्णव दूसरे सिरे पर ले जाते हैं–वे अपनी नव परणित स्त्री का प्रसाद भी महाराजों को अर्पित करते हैं, और ये प्रत्यक्ष देव मन भर कर प्रसाद ग्रहण करते हैं और वे सेवक जूठन खाकर अपनी बड़ाई और कीर्ति मानते हैं।''[30] 'विषयी गुरु विषे लेख वैष्णव गुरुओं की लंपटता को दर्शाता है। उन्होंने ऐसे विषयों पर निर्भीकता से लिखा क्योंकि उनकी प्रतिबद्धता समाज की प्रति थी। वे वैष्णव जनों कोजगानेको अपना कर्त्तव्य समझते थे। ''मंदिर में पाले हुए कारिंदे चुनी हुई स्त्रियों को बुलाते थे। कई शृंगार की हुई मुग्धा स्त्रियाँ को तो महाराज अपनी आँख के संकेत से बुला लेते। महाराज ने बुलाया यानी कृष्ण ने बुलाया है इसलिए परम पद पा चुकी समझ तत्परता से खुश होकर घबराती–घबराती महाराज के गुह्य दर्शन का प्रसाद लेती थीं।''[31]

नर्मद के काव्य में भी निबंधों की तरह पाखंड का विरोध है, उनका ऐतिहासिक महत्व है। नर्मद अपने काव्य में निर्गुण भक्ति की महिमा करते हैं उनके काव्य में अन्य देवताओं का भी उल्लेख है, परंतु निराकार ब्रह्म की उपासना ही केंद्र में है।

> रूप कवीनीकल्पना सांचो नहीं विचार;
> निराकार जे सर्वदा, ते ना ले अवतार।[32]

(रूप कवि की कल्पना है, यह सत्य विचार नहीं है। ईश्वर सर्वदा निराकार है जो कभी अवतार नहीं लेता।)

> परब्रह्म जगकर्ता रे, स्मरो भाई हर घड़ी;
> जाणो अवर मिथ्या रे हरकतो अहीं आवी नड़ी।[33]

(जगतकर्ता परब्रह्म है, भाई उसे हर क्षण भजो और सभी मिथ्या जानो)

साचूं एक ब्रह्म नाम, अवर सहु कआचूं;
गूढ़ गावा भक्ति सजी, निर्भर थई नाचूं।[34]

(एक ब्रह्म का नाम सच है और सब कच्चा है। गूढ़ गाथा को भजने के लिए भक्ति का आविर्भाव हुआ है। मैं निर्भय हो नाचता हूँ।)

करसनदास मूलजी (1832–1871)

करसनदास मूलजी ने 'सत्यप्रकाश' साप्ताहिक द्वारा सामाजिक कुरीतियों के बारे मेंविवेक जागृत करने का कार्य किया। चूँकि अनेक कुरीतियों का जन्म धर्म में घुसे प्रपंचों और पाखंडों के कारण हुआ था, इसलिए उन्होंने धर्म क्षेत्र के पाखंडों पर भी अपनी कलम चलाई। वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी होने के कारण उन्होंने इस संप्रदाय के पाखंडों से कपोल बनियों एवं भाटिया समाज को सुधारने का सक्रिय प्रयास किया। दूसरी ओर, संप्रदाय के महाराजों द्वारा धर्म और धार्मिक क्रियाओं के पीछे के अनाचारों को उघाड़ने का साहसपूर्ण कार्य किया। यह कार्य उन्होंने किसी पूर्वाग्रह या किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं, समाज में स्वस्थ परंपराओं का प्रचलन करने के लिए किया था। उनके सत्यप्रकाश एवं अन्य साप्ताहिकों में प्रकाशित लेख 'निबंधमाला' (1870) में संकलित हैं। 'महाराजों ने विनंती', 'मंदिरों माँ थती अमर्यादा', 'गोसाई महाराजना जुलम', 'गुलामी खत', 'महाराजना मंदिरमाँ अनीति', 'शास्त्रीबाबाने दस्तूरों', 'वल्लभकुलना महाराजोनुं अभिमान' जैसे लेखों में वैष्णव महाराजों–आचार्यों की लोभवृत्ति भक्तों से धन प्राप्त करने की युक्तियाँ, अनाचार, सेवकों की स्त्रियों से पाप लीलाओं के बारे में निरंतर लिखा। इन निबंधों की भाषा समझाने और उन दूषण से मुक्त करने के प्रयास की है, आक्षेप की नहीं है: ''धर्म गुरुओं का कार्य लोगों को धर्म पुस्तकों की बातों से परिचित करवाना ही नहीं है, उन्हें नीतिमान और सद्‌गुणी बनाना भी है। केवल धर्म ग्रंथों के रसिक प्रसंगों का वर्णन करने से सदाचरण और नैतिकता की वृद्धि नहीं होती। व्यास पीठ से लोगों के मन पर प्रभाव पड़े, ऐसे नीतिगत प्रवचन गुजराती भाषा में प्रत्येक दिन और साप्ताहिक रूप से करने चाहिए।''[35] उन्होंने कर्मकांडों में रचे–बसे ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र, वेद–पुराण के ज्ञान के प्रति उदासीनता और अज्ञान की भी आलोचना की। वे (ब्राह्मण) दूसरे के परिश्रम के धन पर दान की आशा रखते हैं। करसनदास मुलजी आक्रोश में ऐसे कर्मकांडियों को 'आलसू पाड़ा' (आलसी भैंसा) तक कह देते हैं।[36] उन्होंने

भोले धार्मिकों को मूर्ख बनाने वाले पाखंडियों पर भी प्रहार किया। 'नया पैगंबर' लेख में साधु को जंगल में ईश्वर के दर्शन होने और उसे नया पंथ स्थापित करने की आज्ञा देने की ठगाई को उघाड़ते हैं।[37] उनके साहस और निर्भीकता की ऊँचाई 21 अक्टूबर 1860 में 'हिंदुओं का असली धर्म और अभी के पाखंडी मत' लेख जदुनाथ जी महाराज के धर्म के नाम पर पाखंड करने और अपने अनुयायियों एवं उनकी स्त्रियों का शोषण करने पर था। करसनदास ने जदुनाथजी महाराज को चुनौती देते हुए लिखा, "हम महाराज से पूछते हैं कि किस वेद में, किस पुराण में,किस शास्त्र और किस स्मृति में लिखा है कि महाराज अथवा धर्मगुरु को अपनी नव विवाहित पत्नी पहले सोंपना! अपनी स्त्री ही नहीं अपनी पुत्री को भी सोंपना। अरे रे रे। यह लिखते हुए मेरी कलम चलती नहीं है। हमें अतिशय ऊब और कंपकंपी छूट रही है।"[38] इस लेख में चेतावनी देते हैं कि गोकुलनाथ की टीका को धर्म ग्रंथ से हटा दो, उस टीकाकर को धिक्कारो, इस रिवाज को बंद करो और रस मंडली जैसी अनीति को हटाओ। यह सत्य मानना कि जब तक तुम ऐसा नहीं करोगे, तब तक तुम्हारे धर्म के उपदेश और स्वधर्म की वृद्धि नहीं हो सकती।[39] इस लेख पर महाराज द्वारा कोर्ट में करसनदास एवं नानाभाई रुस्तमजी राणिया पर ₹ 50000 का बदनक्षी का दावा किया गया। युवा पत्रकार करसनदास मूलजी इतना बड़ा साहस इसलिए कर सके क्योंकि उनको मुंबई के कपोल जाति के साहूकारों का भी सहयोग प्राप्त था। महीपतराम नीलकंठ ने करसनदास मूलजी चरित्र में उनके महान कार्य का गौरवान्वित किया और इस केस के व्यापक प्रभाव की आशा व्यक्त की। तत्कालीन समाचार पत्रों में इसके बारे में मिली प्रसिद्ध को रेखांकित कियौ: "समाचारपत्रों में कई महीनो तक चर्चा चली। लंका से कोलकाता तक के 21 अंग्रेजी समाचार पत्रों ने इस केस और करसनदास के समाचार प्रकाशित किए। बहुत कठिनाई उठाकर, धन का खर्च कर और भय में रहकर अपने देश के उपकार के लिए सभी समाचार पत्रों में करसनदास और उनके सहायता करने वाले सुधारकों की प्रशंसा प्रकाशित हुई। करसनदास का नाम दुनिया में प्रसिद्ध हुआ और उनकी प्रशंसा की गई।[40]

मणिलाल नभूभाई द्विवेदी (1858-1898)

नर्मद के विचारों में जिस प्रकार का उत्साह, आवेग और उत्कटता है, मणिलाल द्विवेदी के विचारों में संयम, तार्किकता और गहनता अधिक मिलती है। नर्मद

अपने अंतिम समय में मणिलाल द्विवेदी को अपने धर्म संरक्षण का दायित्व सौंपते हैं। 'धर्म विचार ही सभी विचारों का मूल है।' यह वाक्य मणिलाल द्विवेदी के चिंतन का केंद्रीय भाव है। मणिलाल के गहन अध्येता आनंदशंकर ध्रुव उनके विधान को रूपक शैली में व्यक्त करते हैं, ''उन्हें सुधार के जो-जो प्रवाह उद्देश्य बिना के, या सुंदर वनस्पतियों को उखाड़ फेंके ऐसे विनाशक रूप में बहते लगे, उन्हें प्राचीन स्रोत से बहती आ रही अद्वैत महानदी में मिलाकर, उसके बल (प्रवाह) को सीधे (उचित) मार्ग पर प्रवाहित किया और किनारों की खेतों को उपकारक हो ऐसी प्रवृत्ति का प्रारंभ किया।''[41] उनका वेदांत अध्ययन एवं विमर्श, विद्वता प्रस्तापित करने के लिए नहीं बल्कि मनुष्य जीवन के उत्तम उपयोग के लिए था: ''योग्य अधिकार के बिना ज्ञान प्राप्ति या चरित्र शुद्धि संभव नहीं है। अधिकार (सामर्थ्य) समझे बिना ज्ञान की बात करना तत्व ज्ञान का दुरुपयोग है; इसलिए मणिलाल द्विवेदी कर्म, उपासना और ज्ञान पर क्रमानुसार अधिकार प्राप्त करके ही ज्ञान प्राप्त करने पर बल देते हैं। वे दुराचार का कारण अधिक न्यूनता गिनाते हैं। अधिकार प्राप्त ज्ञान, सर्वत्र प्रेम द्वारा एकता का अनुभव कराता है। आचार और विचार की एकता का साधन प्रेम है। इस प्रेम का अनुभव यही जीवन मुक्ति है। वे वेदांत के इस प्रेम को ही ब्रह्म चैतन्य या ईश्वर के पर्याय के रूप में प्रयुक्त करते हैं।''[42] प्रेम कोही ब्रह्म रूप मानते हुए सनातन धर्म (हिंदू धर्म) को जीवितों (जीवित मनुष्य) के उद्देश्य का निर्णय कहते हैं। धर्मबोध, सनातन हिंदू धर्म, तत्व ज्ञान का दुरुपयोग, श्रीमद्भागवत गीता का वेदांत, वैराग्य, सत्य, श्रद्धा, प्रेम, नीति, व्यावहारिक नीति, मूर्ति पूजा, निवृत्ति, कर्म मार्ग जैसे विषयों पर उन्होंने गंभीर चिंतन किया और संवादशैली का प्रयोग करते हुए तार्किक ढंग से धर्म, सत्य, संकीर्णता और रूढ़ियों पर विचार प्रकट किए। 'धर्मबोध' निबंध के प्रारंभ में धर्म क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में समाज में व्याप्त विविध विश्वासों का व्यापक विवरण देते हैं : 'कई समझते हैं कि स्नान, संध्या वंदन ही धर्म है, कुछ मानते हैं कि दया, दीनता ही धर्म है : कई कहते हैं कि गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग ही धर्म है, कईयों के लिए यज्ञ-योगादि ही धर्म है, तो कईयों के लिए आवश्यक कर्त्तव्य ही धर्म है। धर्म के प्रमाण के रूप में अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण आदि को बताया जाता है। आचार्यों के वचन को भी धर्म मानने वाले संप्रदाय हैं, इस कारण विद्वान यह भी कहते हैं कि धर्म श्रद्धा का विषय है, बुद्धि यानी तर्क का नहीं। कई धार्मिक ऐसा भी मानते हैं कि मनुष्य के हृदय

में प्रेम, दयादि भावों पर धर्म की प्रबलता है और उसके मन में बुद्धि, तर्कादि आदि अन्य विचारों का बल है।''[43] इस तरह के उदाहरण देकर वे दर्शाते हैं कि मान्यताएँ एकांगी हैं और धर्म को जीवितो का यथार्थ कहते हैं, जिसके अनुसार नीति, आचार, व्यवहार आदि रचे जाते हैं। वे धर्म को ग्रंथों, परंपराओं, सूक्तियों कर्मकाण्डों से निकलकर जीवित मनुष्य के हित से जोड़ देते हैं। प्राचीनता की यह नवीनता उल्लेखनीय है। मणीलाल द्विवेदी ने नीति की भी व्याख्या की जिस प्रकार नीति शास्त्र का पाठ करने, स्वार्थ, परमार्थ, पुरुषार्थ आदि के बारे में व्याख्यान देने वाले बुद्धिशाली व्यक्ति को नीतिमान नहीं कह सकते, उसी प्रकार व्यवहारिक जीवन में संघर्ष में आए बिना, प्रलोभन में फँसे बिना के व्यक्ति को भी नीतिवान नहीं कह सकते।''[44] नीति मनुष्य की नाव को चलाने वाला ध्रुव है, परंतु नाव पानी की लहरों से डर कर समुद्र में जाए ही नहीं, तो फिर ध्रुव का दर्शन किसी काम का नहीं है क्योंकि जहाज निर्दिष्ट बंदरगाह पर पहुँचता ही नहीं है। नीति का तत्व अपनी तरह संभल-संभल कर, फूंक फूंक कर चलने में या अपने कर्त्तव्यों के अनुसार जो संबंध संसर्ग करने पड़े उससे डर कर कर्त्तव्य का त्याग करने में नहीं है। प्राप्त कर्त्तव्यों के लिए आँख मूँद कर कूद पड़ना, कर्त्तव्य को पूर्ण करने में, उन संबंध और संसर्ग का प्रभाव, अपने नीति नियमों पर नहीं होने देना। उन संसर्ग आदिके उपयोग के कर्त्तव्य में नीति तत्व निहित है।''[45] इस तरह उन्होंने नीति चर्चा को शास्त्रगत ग्रंथों से निकालकर, अंध परंपरा के स्थान पर मनुष्य के कर्त्तव्य और निर्भयता से जोड़ा। 'साधु बोले वह सत्य' निबंध सरल और सुबोध शैली में धर्माभिमानी, विद्याविलासी आदि के अहंकार मिश्रित अनुभूति की एकांगिता को रेखांकित करता है। वे लोभी, धार्मिक जिनमें पूर्वाग्रह हो, उनके अहंकार को 'पशुओं के सींग' से उपमित करते हैं। सत्य प्राप्त करने के लिए गुरु करने की आवश्यकता हो तो अवश्य करें, परंतु सही गुरु, अपना मन और आँख ही हैं। अवलोकन और निरीक्षण से विवेक जागृत नहीं हो तो, गुरु के उपदेश किसी काम नहीं आते। सत्य के गुरु और चेला भी नहीं होते। सच्चा गुरु तो वही है जो सत्य के लिए प्राण दे, पर सत्य को कहीं से भी प्राप्त करने के लिए तत्पर रहे। लेकिन जिन लोगों ने सत्य को सीमा में बाँधा है, वे गुरु नहीं हैं, प्रमाण नहीं हैं।[46] इन पंक्तियों में स्पष्ट व्यंग्य अभिमानी अहंकारी आचार्यों, उपदेशकों पर है। मणिलाल द्विवेदी लेख के अंत में स्पष्ट करते हैं कि 'प्रमाणयुक्त सत्य वाक्य को खुशी से मानें और स्वीकार कर उसका अनुसरण

करें। मेरा अनादर ऐसों के बारे में नहीं है ; परंतु उन पर है जो 'सब ऐसे ही चलें सब मैं कहूँ उसे ही हाँ–जी, हाँ–जी कहें, ऐसे अधिकारपूर्वक अनुसरण करवाने वाले पंडितों, सायन्टिस्टों और आचार्यों के प्रति है।'[47] द्विवेदी छांदोग्योपनिषद की सत्यकाम जाबाल कथा के दृष्टांत द्वारा सत्य की उच्चता एवं ज्ञान प्राप्त के लिए विनम्रता के मूल्य को प्रस्तावित करते हैं। सत्यकाम की माँ के सत्य वचन और सत्यकाम की निश्छलता को देखकर गुरू उसका उपनयन करके गायों को देकर उनके सहस्त्र होने पर लौटने का निर्देश देते हैं। वह जाता है। गायों की सहस्त्र होने पर ऋषभ, अग्नि, हंस और समुद्री पक्षी से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लौटा सत्यवान गुरु से दिव्य ज्ञान लेने की आकांक्षा करता है। लेकिन गुरु कहते हैं कि तुम्हें सम्यक ज्ञान मिल चुका है, कुछ शेष नहीं हैं।[48] निबंध के अंत में प्रस्थापित करते हैं कि ज्ञान साधना के अधिकारी को ही सत्य–ब्रह्म का बोध होता है। ''तर्क और बुद्धि से अधिक हमें कल्पना और प्रतिभा, ब्रह्म ज्ञान का अनुभव शीघ्रता से करवा सकती हैं। एक दूसरी बात भी इस आख्यायिका से स्पष्ट होती है। अपने–अपनी शक्ति सामर्थ्य से अधिकारी (व्यक्ति) अनेक सूचनाओं के तत्व को ग्रहण करके अनुभूत नहीं करता, तब तक गुरु कृपा या गुरु सेवा निष्फल ही है।''[49]

मणीलाल द्विवेदी की पारंपरिक भारतीय धर्म साधना में आस्था थी लेकिन वह मात्र भावनात्मक नहीं थी। वे भारतीय धर्म मीमांसा के अध्येता थे। उनके लेखों में विश्व के धर्म में आर्यधर्म की श्रेष्ठता का जगह–जगह उल्लेख मिलता है। वे धर्म की उच्चता के साथ तत्कालीन परिवेश और अहमन्यता से निर्मित विभिन्न पंथों, उनके आचार–विचारों में आई संकीर्णता समझाते हुए संयमित स्वर में उसे संतुलित करने के मार्ग का संकेत देते हैं। जब सनातन धर्म परिषद की स्थापना होती है तो मुंबई में अनेक विद्वान मिलते हैं, उनकी सीमाओं का उल्लेख करते हुए उसके व्यापक दायित्व की ओर संकेत करते हैं। वे आर्य धर्म में एकत्व को ही मानते हैं और दिखाई देने वाले नानात्व को नैसर्गिक न मानकर औपाधिक कहते हैं: ''धर्म का काम परम पुरुषार्थ का निर्णय कर देने तक ही है और नीति, कर्त्तव्य इत्यादि विचार धर्मानुसार रचे गए आचारों के प्रकार हैं। इसे लक्ष्य में रखकर यह कह सकते हैं कि परम पुरुषार्थ का बोधक धर्म और परम पुरुषार्थ का साधन आचार है। आचार कोई ही लाक्षणिक रूप से धर्म कहा जा सकता है। परम पुरुषार्थ का निर्णय युक्ति और बुद्धि से एवं निरीक्षण (अवलोकन) से

हो सकता है, इतिहास से भी हो सकता है, पर युक्ति और बुद्धि सदा विश्वासपात्र प्रमाणित नहीं होती है। अपने आर्यावर्त के प्राचीन महात्माओं ने यह निर्णय करने में गंभीर विवेक रखा है। उनके अनुभव को दूर रखकर केवल अपनी बुद्धि से ही हम तर्क करें तो विश्व व्यवस्था समझने और पुरुषार्थ का निर्णय करने में हम कभी विजय नहीं पा सकेंगे।'' परम पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा के बाद ही वे अनेक संप्रदाय, मत और पंथ की साधन भिन्नता और साध्य भेद की बात करते हैं जिससे कलह बढ़ती है। 'जब तक मनुष्य तत्वभेद नहीं मानता, धर्म भावना एक ही मानता है, तब तक अमुक संप्रदाय या मत का अनुसरण करे, उससे परस्पर कलहऔर विद्वेष नहीं उपजता है। अपना-अपना जो संप्रदाय या धर्म होगा उसको पूर्ण श्रद्धा से पालन करें और अन्य के धर्म से विद्वेष ना करें, यही सही धार्मिकता है।''[50] द्विवेदी ने विविध संप्रदायों, पंथों के कर्मकांड और आचार-विचार की भिन्नताओं के कारणों पर गंभीर अध्ययन किया था। सिद्धपुर में सोमयज्ञ हुआ (1893) जिसमें सोमपान, सोम होम और पशु होम मुख्य कर्म थे। इसे अग्निहोत्री ब्राह्मण के अलावा किसी को कराने का अधिकार नहीं होता। यज्ञ में पशु आहुति को केंद्र में रखकर मणीलाल द्विवेदी आर्य धर्म के एक पक्ष प्रेम और दूसरे पक्ष हिंसा की सम्यक चर्चा करते हैं और छांदोग्योपनिषद का संदर्भ देकर कहते हैं कि 'इस प्रकार प्राप्त किया हुआ स्वर्ग क्षयशील है। कर्मकांड, चित्त शुद्धि के लिए उपयोगी होते हुए पुरुषार्थ, मोक्ष के लिए निरुपयोगी है।'[51]

मणिलाल द्विवेदी भारतीय धर्म में मूर्ति पूजा के महत्व को प्रतिपादित करते हैं और सुधारकों के विरुद्ध मूर्ति पूजा के उदात्त पक्ष को प्रस्तावित करते हैं। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मिशनरी, मूर्ति पूजा को अज्ञान और पिछड़ेपन से जोड़ते थे। वे प्रश्न करते हैं कि पादरी भी किसी आकार की मूर्ति द्वारा ईश्वरोपासना करते हैं। इसी तरह रोमन कैथोलिक पारसी, प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन और मुसलमान भी पत्थर, लकड़ी या धातु की मूर्ति, नहीं तो अपने अपने मन में कल्पित गुणों वाली परमात्मा की छवि का अवलोकन करते हैं। इस तरह संसार के धर्मों में किसी न किसी रूप में मूर्ति पूजा विद्यमान है। 'रास्तगोफ्तार' के लेख से प्रेरित होकर वे विदेशियों (संभावित मिशनरी और मूर्ति पूजा के विरोधी अंग्रेज विद्वान) की समझ पर हँसते हुए व्यापक धरातल पर मूर्तिपूजा की प्रतिष्ठा करते हैं। ''हिंदू शास्त्र का रहस्य देखकर यह सिद्ध हुआ है कि निराकार ब्रह्म ही सिद्ध बात है; जगत मिथ्या है और मोक्ष, यह परमानंद रूप सुख, ब्रह्मज्ञान में निहित है। मूर्ति

पूजा आदि इस परमार्थ ज्ञान की दृष्टि से गलत है। परंतु यह दुर्घट महाज्ञान रास्ते में पड़ा नहीं है कि तुरंत उठा लिया जाए। यह केवल बातें करने से नहीं मिलता, इसके लिए मार्ग खोजना पड़ता है, उसमें ध्यान मुख्य मार्ग (जिसे कोई भी-मुसलमान, ईसाई, पारसी अस्वीकार नहीं कर सकता) कहा गया है। ईश्वर को पहचानने का मार्ग ध्यान मान्य हुआ पर किसका ध्यान किया जाए? जिसे जो उचित लगे, उसका ध्यान करें। अर्थात कोई भी रूप-गुणयुक्त कल्पना मूर्ति मन में या प्रत्यक्ष खड़ी कर लें। इस तरह देखें तो मूर्ति ईश्वर का आखिरी रूप नहीं है, वह उस रूप को देखने का मार्ग है।''[52] इस तरह वे प्राचीन और नवीन के बीच संतुलन बनाते हुए सहज और तर्कसंगत शैली में धर्म और धार्मिकता के बीच सही संबंध स्थापित करते हैं। मणीलाल द्विवेदी का धर्म चिंतन उदात्त भारतीय धर्म परंपरा से पोषित है। मूर्तिपूजा पर उनके विचार अतार्किक और विवादित नहीं कहे जा सकते।

दलपतराम (1820-1898) का मिथ्याभिमान (1869) नाटक नए और पुराने विचारों की टकराहट के समय का है। यह हास्य नाटक, नायक जीवराम भट्ट के मिथ्याभिमान और उसके परिणामों को हल्के-फुल्के ढंग से प्रकट करता है। एक ओर नई शिक्षा पाकर नौकरी पाने वाले हैं,तो दूसरी ओर पारंपरिक विश्वास, अंधविश्वास में रचे-पचे लोग हैं। नाटक का नायक जीवराम भट्ट की आँखों में रतौंद है, जिसे अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता (इसे सूचक मान सकते हैं)। लेकिन दंभ के कारण किसी के सामने यह स्वीकार नहीं करता। उसके ससुर रघुनाथ अपने पुत्र को वेद मंत्र याद करवाते हैं लेकिन मंत्र का सही उच्चारण नहीं कर पाते। अपने उच्च वर्ण पर अभिमान करते हुए शास्त्रियों और पुराणिकों को खरा ब्राह्मण नहीं मानते। पुत्र सोमनाथ जब मंत्र का अर्थ पूछता है तो कहते हैं: ''जा जा बेवकूफ! वेद का भी कोई अर्थ निकालाजा सकता है? वेद का अर्थ तो परमेश्वर जानते हैं या ब्रह्मा जानते थे, दूसरा कोई इस जगत में जानता ही नहीं।''[53] रघुनाथ 19वीं सदी के ऐसे दम्भी ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व करता है जो जाति, वर्ण की श्रेष्ठता पर अहंकार करते हैं लेकिन उन्हें भारतीय विद्या, शास्त्रों के अध्ययन अनुशीलन में रुचि नहीं है।

गोवर्धनराम त्रिपाठी का सरस्वतीचंद्र उपन्यास पूर्व-पश्चिम का समन्वय करते हुए भारतीयता की खोज की ओर प्रयत्न करता है। संपन्न परिवार का शिक्षित युवक सरस्वतीचंद्र के मन में वैराग्य का अंकुर पहले से ही पड़ा था। शिक्षित

संस्कारी युवती कुमुद से सगाई हो जाने पर, उनमें पत्र-संवाद और मिलन से उद्भावित प्रेम और विचारों में भारतीय संस्कारों एवं पश्चिमी शिक्षा का संयोजन होता है। लेकिन विमाता के लोभ-स्वार्थ और उसके वश हुए पिता के वचनों से आघात पाया सरस्वतीचंद्र गृह त्याग करने का निर्णय कर लेता है। उसके मन में माता-पिता और भावी पत्नी के प्रतिनिधित्व को लेकर द्वंद्व नहीं है। "मैं पिता के प्रति अपने धर्म को जानता हूँ, पर मैं नहीं समझ पाता कि इस धर्म के पालन के लिए पत्नी पर कैसे जुल्म करूँ? पत्नी, माता-पिता के प्रति अपने धर्म से अधिक पत्नी धर्म का पालन करती है। माता-पिता सही, पर पहले पति इस शास्त्र नियम को स्वीकार करती है। पति का पतिधर्म दूसरी तरह का होता है। यदि कोई भी शास्त्र ऐसा कहता हो कि माता-पिता की इच्छा पूरी करने के लिए पत्नी पर अत्याचार किया जाए तो मुझे वह शास्त्र स्वीकार नहीं है। एक आँख से माता-पिता को देखना और दूसरी आँख से पत्नी को देखना। दोनों आँखों से दोनों को देखना, मैं ऐसे पतिधर्म को मानता हूँ।"[54] गृह त्याग का मन बना चुके सरस्वतीचंद्र के इन विचारों में भारत और पश्चिम की नई शिक्षा के तत्व विद्यमान हैं जिसमें पति-पत्नी के समान अधिकार और माता-पिता और पत्नी को सम दृष्टि देखने की अपेक्षा है। उपन्यासकार ने परंपरावादियों के भारतीय धर्म-संस्कृति के निर्देशित विचारों को बुद्धिधन की पत्नी सौभाग्य देवी के आचार-विचार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों का विनियोग कर दिया है। "अर्थ मात्र पुरुषार्थ है परंतु कर्म, घर्म और मोक्ष स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान भूमिका पर हैं। सौभाग्य देवी का कामार्थ पूरा हुआ। उसके लिए मोक्ष कोई विशिष्ट वस्तु नहीं थी, पति का साथ ही उसके लिए मोक्ष था। इस जन्म, अगले जन्म, प्रत्यक्ष संसार, परोक्ष स्वर्ग वह कहाँ है, इसका क्या महत्व है? सर्वत्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में पति प्रवास करें और उसकी छाया की तरह पत्नी भी साथ जाए। उसके फल में पत्नी का भी तो भाग है। जहाँ पति, वहाँ मोक्ष! स्वर्ग में भी पति नहीं हो तो वह स्वर्ग किस काम का?"[55] नेरेटर के उद्‌गारों में परंपरित धर्म की उदातत्ता के संकेत मिलते हैं, जिससे सौभाग्य देवी संस्कारित हुई थी: "भारतवर्ष की पवित्र आर्या! यह तेरी अभिजात वृत्ति! यह सौभाग्य देवी में दिखाई दी। भारतवर्ष के अशिक्षित वर्ग को उच्च विचार पहुँचाने वाले, प्राप्त की हुई विद्या को संभालने वाले वे पागल दिखने वाले, मूर्ख सुधारवादियों की हँसी और अवगणना प्राप्त करने वाले, धनहीन, दिशाहीन, दंभहीन अंतस्तेजस्वी शास्त्री-

पुराणिकों की हजारों वर्षों से निर्मल नदी की तरह आती कथाओं के रस में चंचुपात करने से सौभाग्यदेवी संस्कारित हुई थी।''[56]

सरस्वतीचंद्र के चौथे खंड में सुंदर गिरि के साधुओं का लक्ष्यालक्ष्य सिद्धांत में उपन्यासकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिमार्ग का सुंदर समन्वय किया है। इतना ही नहीं, धर्म, तत्व ज्ञान को प्रजा उत्कर्ष में नियोजित हुआ कल्पित किया है। इस जीवन का तिरस्कार नहीं, परंतु पुरस्कार गोवर्धनराम को इष्ट है और इसी जीवन में मनुष्य उच्च आध्यात्मिक जीवन जी सकता है।[57] 'भद्रंभद्र' (1900) रमणभाई नीलकंठ का उपन्यास है, जिसमें समाज सुधारकों के विरोध करने वाले परंपरावादियों के प्रतिनिधि रूप में दौलतशेकर को नायक बनाया है। यह उपन्यास भारतीय साहित्य में प्रथम हास्य और व्यंग्य उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध है। सरकारी नौकरी में रहे रमणलाल नीलकंठ सार्वजनिक जीवन में भी प्रसिद्ध रहे और अपने पिता महीपतराम रूपराम नीलकंठ की तरह समाज सुधारक थे। यह उपन्यास, सुधारक और परंपरावादियों के बीच चलते संघर्ष की पृष्ठभूमि में परंपरावादियों की कूपमंडूकता, जातिप्रथा रूढ़िचुस्तता धर्म ग्रंथों को ईश्वर रचित मानने को हास्य-व्यंग शैली में प्रस्तुत करता है। नायक के स्वप्न में भगवान शंकर आकर कहते हैं कि तुम्हारे नाम दौलतशंकर में दौलत (यवनी) मेरे दिव्य नाम के साथ जोड़ दिया है। वह प्रायश्चित करके नाम बदलता है। मुंबई में सुधार के विरोध में बड़ी सभा मिलने वाली है। भद्रंभद्र आगगाड़ी में जाने के लिए अतिशय उत्साहित है। स्नान करके गाड़ी में बैठता है परंतु उसे विचार आता है कि डिब्बे मलेच्छों के स्पर्श से दूषित होंगे, लेकिन विवश होकर बैठा रहता है। उसे यहाँ तक विचार आता है कि सांस भी स्टेशन आए तब नीचे उतर कर लूँगा। चलती गाड़ी में प्राणायाम करूँगा। यह शुद्ध ब्राह्मण आहार-विहार, उच्चार-आचार में पौराणिक धर्म सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। वह मानता है कि सुधारवादियों के कारण हिंदू समाज बिगड़ रहा है इससे प्रेरित होकर और जाति वालों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए अति उत्साह से उछल पड़ता है। गाड़ी में मिला हर जीवन ठग उसे विद्वान और सज्जन लगता है।[58] ''एक मनुष्य में विद्वता, सज्जनता, प्रमाणिकता इत्यादि महागुण एक साथ रह सकते हैं, यह आज तक मैं नहीं मानता था, अब विश्वास हो गया है।''[59] परंपरावादी ब्राह्मण माधवबाग सभा में भाषण करने हर हर महादेव बोलकर कूद पड़ता है। 'जिस देश में आज की समस्त मंडली जैसे देवांशी पुरुष हों, वहाँ सुधार शब्द को क्या स्थान है? न्यून क्या

है कि अंश मात्र भी सुधारना पड़े? ज्ञान का विपुल स्रोत इस देश में पहले से है तो फिर अधिक ज्ञान लेने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य जाति में भूत, भविष्य, वर्तमान में जितने ज्ञान की शक्ति है, उतना ज्ञान वेद काल से हमारे त्रिकाल ज्ञानी पूर्वज प्राप्त कर चुके हैं। दूसरे देश में कालक्रम में ज्ञान बढ़ता जाता है, पर अपने आर्य देश में ऐसा नहीं होता क्योंकि योग द्वारा हमें सब कुछ अज्ञात रहता ही नहीं है।[60] बालविवाह के समर्थन में परंपरावादियों के विचार हैं: ''शास्त्र में गर्भाधान की उम्र बहुत छोटी दर्शायी है और अति योग्य है, ऐसा आपने प्रतिपादित किया है। फिर बड़ी उम्र में विवाह का शास्त्र आधार कहाँ रहा? गर्भाधान की उम्र चली जाने पर पाप लगे तो फिर उस उम्र के बाद विवाह कैसे कह सकते हैं? बाल उम्र में विवाह हो तो पिता, प्रपितामह, माता, मातामही सभी बुजुर्ग बालक का विवाह देखकर आनंद प्राप्त कर सकते हैं और बुजुर्गों की प्रसन्नता, उनका आनंद इससे अधिक आर्यबल का क्या उद्देश्य होगा?''[61]

गुजरात को बंगाल और अन्य प्रांतों की तरह राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, विवेकानंद, रानाडे जैसे विचारक एवं सुधारक नहीं मिले थे। स्वामी दयानंद सरस्वती अवश्य गुजरात के थे लेकिन उनकी कर्मस्थली पश्चिमोत्तर प्रांत और पंजाब विशेष रूप से रहा था। लेकिन दुर्गाराम मेहता, नर्मदाशंकर जैसे अन्य शिक्षक-साहित्यकारों को ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज एवं परंपरावादियों के विचारों ने परोक्ष रूप से प्रभावित किया। उनके विचारों में इसके तत्व दिखाई देते हैं। नर्मद, करसनदास मूलजी को साहित्य, साधारण शिक्षित समुदाय को पाखंड मुक्त भारतीय धर्म के प्रति संस्कारित करना था। वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कभी सीधे-साधे ढंग से, कभी व्यंग्य में, कभी फटकारते हुए अपना दायित्व निभाते प्रतीत होते हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु हरिश्चंद्र अपने परिवार की रईसी, पैतृक परंपरा के अनुसार बनारस के साहूकारों, राज दरबार और अंग्रेजोंसे सौहार्दपूर्ण संबंध रखते थे। 1870 से 1876 ई के बीचउनका लेखन और कार्य भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म के समर्थन में था। उन्होंने 'धर्म, धार्मिकता और तौर-तरीकों' पर विस्तार से लिखा। 'उनके गद्य लेखन का एक बड़ा भाग धर्म, पुरातत्व और इतिहास के विषयों से संदर्भित है।' उन्होंने अपनी धार्मिक आस्था को न तो लेखन में छुपाया और न

व्यवहार में। स्वामी दयानंद के काशी आगमन और पंडितों से उनके संवाद में सभी प्रश्नों के उत्तर न देने, बाद में अपने पक्ष को एक पत्रिका में प्रकाशित और प्रसारित करने पर भारतेन्दु अपनी प्रतिक्रिया 'दूषणमालिका' के 64 प्रश्नों की माला भेजते हैं। 20 वर्ष के युवक हरिश्चंद्र ने इसमें आर्य समाज की आधारभूत मान्यताओं पर प्रश्न खड़े किए गए थे।[62] दयानंद सरस्वती के विचारों का यह विरोध तार्किक था और वैष्णव भक्ति में आस्था रखने वाले द्वारा किया गया था। भारतेंदु इस दौर में स्पष्ट मानते थे कि संस्कृत ग्रंथों के ज्ञान को भाषा (हिंदी) में रूपांतरित नहीं किया गया है इसलिए साधारण प्रजा में अनेक भाँतियाँ और अंधविश्वास फैले हैं।[63]

वे इस सीमा को कोरी बातें नहीं करते बल्कि स्वयं अनेक धार्मिक रचनाओं के भाष्य लिखते हैं। विविध मासों के महात्म्यों के महत्व, तीर्थ स्नान का फल और भक्ति सूत्र वैजयंती, तदीय सर्वस्व, श्रुति रहस्य जैसी रचनाओं का रचनाकाल 1876 ई तक है। पुरुषोत्तम विधान में पुरुषोत्तम मास का महत्व वर्णित है। सब मासों के एक-एक देवता नियत हैं। जब पहले मलमास (अधिक मास) पड़ा तो उसका कोई देवता न होने पर वह दुखी हो गया। भगवान उसे गोलोक ले गए। भगवान श्रीकृष्ण उसका दुख सुनकर बोले मैं पुरुषोत्तम तेरा स्वामी हूँ। अतएव तेरा नाम आज से पुरुषोत्तम मास होगा और सब मासों से तेरा फल विशेष होगा। जो साधन लोग कार्तिकादि, पुण्य मासों में अनेक वर्ष में भी फल ना पाएँगे, वह पुरुषोत्तम मास में थोड़े साधन में फल पावेंगे।''[64] कार्तिक कर्मविधि में कार्तिक मास के स्नान-पूजा-व्रत-दानादि की महत्ता और पुण्य बताया है: ''इस संसार में जन्म लेकर मनुष्यों को भगवत स्मरण और स्नान दानादिक करना यही मुख्य धर्म है, क्योंकि बड़े-बड़े पर्वों में स्नान, पूजा, व्रत, दानादि करने से पाप नाश होते हैं और मुक्ति मिलती है। और पर्व और व्रत इत्यादि तो अनेक हैं और नित्य ही स्नानादि का बड़ा फल है परंतु मार्गशीर्ष, कार्तिक, माघ, वैशाख सब महीनों में उत्तम गिने जाते हैं, तिस में भी कार्तिक स्नान का फल विशेष है। यह बात सब शास्त्र में प्रसिद्ध है कि कार्तिक के महीने में काशी में पंचगंगा स्नान का बड़ा पुण्य है।[65] स्कंद पुराण में न मार्गशीर्ष महात्म्य का भाष्य करते हैं, ''जो पाप मोहित लोग मार्गशीर्ष स्नान नहीं करते उन्हें इस कलयुग में विशेष करके पाप रूप जानना। वे सुकृति लोग धन्य है जो तन-मन-धन-वाणी और कर्म से श्री भगवान की सेवा करते हैं। अगहन के महीने में मथुरा और काशी में महाफल

होता है। जो लोग मथुरा स्नान करने जाते हैं, उनके पाप भाग जाते हैं।''[66] भारतेंदु अपनी तरफ से जोड़ते हैं अगहन सुदी प्रतिपदा को जो कदम्ब की पूजा करते हैं, वे आयुष्य, आरोग्य, ऐश्वर्य पाते हैं। अगहन सुदी अष्टमी को जो कदम्ब के नीचे भोजन करते-कराते हैं, वे एक-एक ग्रास में गोदान का फल पाते हैं, एकादशी का व्रत करके द्वादशी को सवेरे जो कदम्ब की पूजा करता है उसको साक्षात श्रीकृष्ण का दर्शन होता है। जो कदम्ब के सम्मुख अखंड दीपदान करता है उसको सब कर्मों का फल होता है। ऐसा कौन होगा जो इस छोटे साधन को बड़े फल की इच्छा से न करै। यह केवल श्री भगवान की कृपा है कि हम जीवों के हेतु उसने ऐसे छोटे-छोटे साधन बनाए हैं। देखो कदम्ब को एक दिन गुंजा की माला चढ़ाने से आप वश में हो जाते हैं। यह केवल उनकी दयालुता है। अहो ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इस बात को जान के भी श्रीकृष्ण को वश में करने की इच्छा ना करेगा।''[67]

वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी होने के कारण उन्होंने प्रेम और भक्ति को प्राथमिकता दी। वल्लभीय सर्वस्व, श्री वल्लभाचार्य कृत चतुश्लोकी एवं वैष्णव सर्वस्व में वैष्णव संप्रदाय के वैशिष्ट्य को हिंदी में प्रस्तुत किया है, साथ ही भक्ति सूत्र वैजयंती में शांडिल्य के 100 सूत्रों का भाष्य प्रस्तुत किया। उसकी भूमिका में श्रीकृष्ण (प्राणप्यारे!)को वैजयंती माल अर्पण करते हैं। त्योहारी में 'अहं ब्रह्मवाद' का संपूर्ण नाश करके भारतवर्ष की सब आपत्तियों के अंत करने की विनती करते हैं।[68] यहाँ धार्मिक आस्था के साथ देशवासियों और देश की चिंता साथ-साथ चलती है। नारद भक्ति सूत्रों के भाष्य के समय तो इस चिंता के साथ प्रेम और भक्ति के प्रति समर्पण, धार्मिक क्षेत्र की संकीर्णता पर क्षोभ भी प्रकट होता है, ''हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल का भाषा में प्रचार नहीं। यही कारण है कि भिन्नता स्थान-स्थान पर फैली हुई है। अनेक कोटि देवी-देवताओं का महात्म्य, छोटी-छोटी बातों में ब्रह्म हत्या का पाप और तुच्छ तुच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञों का पुण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मूल धर्म छोड़कर उपधर्मों में आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक धर्म का लोप कर दिया। जिस जगत्कर्ता ने हम लोगों को उत्पन्न किया, संसार के सुख दिए, बुरे भले का ज्ञान दिया और अपना सत् मार्ग दिखलाया उससे यहाँ की प्रजा विमुख होकर धर्मांतरण में फँस गई। यदि प्रथम कर्त्तव्य उसकी भक्ति के अनन्तर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते तो कुछ बाधा नहीं थी। वह न होकर गौण तो मुख्य हो गए और मुख्य वस्तु गौण हो

गई। इसी से सारा भारतवर्ष भगवद्विमुख होकर छिन्न-भिन्न हो गया जो कि इसकी अवनति का मूल कारण हुआ। कभी भगवद्विमुख कोई देश या जाति (की) उन्नति हो सकती है? धर्म ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वह एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत व चिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है।''[69] नारद भक्ति सूत्र के बृहत भाष्य में उपक्रम में ही भक्ति की प्रतिष्ठा और महत्ता रेखांकित कर देते हैं। सूत्रों के भाष्य में स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ करने में उनकी सजगता, समाज चिंता और व्यापक रूप से देश चिंता भी प्रकट हो जाती है: ''निश्चय रखें कि परमेश्वर को पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की, दोनों बड़ी ही हैं। बिना शुद्ध प्रेम,न लोक है ना परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुंब से तुम्हारा संबंध है जिस देश में तुम हो उसे सहज, सरल प्रेम करो और अपने परमपिता परम गुरु परम पूज्य परमात्मा प्रियतम को केवल प्रेम से ढूँढ़ो। बस और कोई साधन नहीं है।''[70] 'बिना शुद्ध प्रेमके न लोक है ना परलोक' को स्थापित करने के लिए अनासक्त प्रेम और भक्ति को जहाँ पहुँचाते हैं, साथ ही धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति परिस्थितियों का विवेकपूर्ण आकलन करते हैं। यह निरे धार्मिक नेता के विचार नहीं हैं। यही कारण है कि कई धार्मिक संस्थाओं - बनारस धर्मसभा, तदीय समाज-के सक्रिय सदस्य होते हुए भी, वे आ रहे सामाजिक बदलावों को देख रहे थे और अपने रचनात्मक साहित्य में विनियोग कर रहे थे। इसी के साथ अपने समकालीनों को दिशा निर्देश करते हुए उनका आदर सम्मान पा रहे थे। भारतेंदु के मूल्यांकन में इन दो छोरों की स्थिति का आगे विचार करेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र का नाट्य साहित्य उनकी धार्मिक कृतियों के समानांतर प्रकाशित होता रहा है और उनके रचनात्मक साहित्य में केंद्रीयता रखता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 21 जून 1872 में 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित हुआ था। वैदिक धर्मानुयायियों के पाखंड और तत्कालीन धार्मिक छल-कपट को राजा, मंत्री, पुरोहित और गंडकीदास के पात्रों द्वारा उजागर किया है। राजा, मंत्री, पुरोहित यज्ञ अनुष्ठान में पशु बलि, माँस, मदिरा के सेवन को शास्त्रगत बताते हैं। पात्र चयन में भारतेंदु की सजगता ही नहीं, उनके समय की चेतना के भी प्रमाण मिलते हैं। राजा और राजा की इच्छा में सहमत मंत्री, अपने स्वार्थ में शास्त्र का उपयोग करने वाले पुरोहित की वृत्तियाँ इस प्रकार की हैं। मदिरा

के नशे में बहके हुए पुरोहित, राजा और मंत्री अपनी प्रकृति ही नहीं, तत्कालीन संदर्भों को भी स्पष्ट करते जाते हैं–

पुरोहित: अरे जो बकरी पत्ती खात है ताकि काढ़ी खाल।
अरे, जो नर बकरी खात है तिनको कौन हवाल॥[71]

राजा: वेद वेद सभी कहें, भेद न पायो कोय।
विन मदिरा के पान सो मुक्ति कहो क्यौं होय? [72]
मदिरा ही के पान हित, हिंदू धर्म हि छोड़ि।
बहुत लोग ब्रह्मो बनत, जिन कुल सों कुल मोडि॥[73]

मंत्री: ब्राह्मण सब छिपि छिपि पियत जामैंजानि न जाय।
पोथीमें चोंगान भरि बोतल बगल छिपाय॥
वैष्णव लोग कहावहींकंठी मुद्रा धारि।
छिप–छिप कैं मदिरा पियहिं यह जिय माँझि विचारि॥ [74]

दूसरे अंक में गंडकीदास के आगमन पर शैव, वैष्णव और वेदांती प्रस्थान कर जाते हैं। लेखक गंडकीदास के आगे धूर्त शिरोमणि विशेषण लगाता है और विदूषक कहता है कि रंडादास जी होता तो अच्छा होता। बंगाली पात्र ब्रह्मो समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वह वेदांती, शैव और वैष्णव की आलोचना करता है। अंतिम अंक यमपुरी का है जहाँ यमराज के सामने राजा, मंत्री, पुरोहित, गंडकीदास शैव और वैष्णव को उपस्थित किया जाता है। सूचक रूप से यहाँ बंगाली (ब्रह्म समाज का अनुयायी) पात्र नहीं है। यमराज के सामने चित्रगुप्त राजा, मंत्री, पुरोहित आदि के कार्यों को बताते हैं। उनके पापों के अनुसार दंड दिया जाता है। शैव और वैष्णव को कैलाश और बैकुंठधाम जाने की आज्ञा दी जाती है, लेकिन पुरोहित और गंडकीदास को सूचीमुख और रौरव नरक में डालने के अतिरिक्त कोड़े भी मारे जाते हैं। धर्म में आस्था होने पर भी पाखंडियों के प्रति उनका रुख कठोर था और यह प्रारंभ से ही था। पुरोहित जब अपने कार्य को शास्त्र सम्मत बताता है तो यमराज कहते हैं, ''दुष्ट कहीं का वेद, पुराण का नाम लेता है। माँस, मदिरा खाना पीना है तो यो ही खाने से किसने रोका है? धर्म को बीच में क्यों डालता है।''[75] गंडकीदास कहता है कि' मैं क्या उत्तर दूँगा? पाप पुण्य जो करता है,ईश्वर करता है। इसमें मनुष्य का क्या दोष? यमराज कोड़े मारने का दंड देकर कहता है, 'लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगता है।[76] 'प्रेम जोगनी' नाटिका का परिवेश काशी के मंदिर का है, जहाँ सात्विकता के

अतिरिक्त सभी कुछ है। भारतेंदु परदेसी के निरीक्षण से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक परिवेश रेखांकित करते हैं।

देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुम्हारी कासी।
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी॥
आधी कासी भाट भंडेरिया बाह्मन और संयासी।
आधी कासी रंडी मुंडी रांड खानगी खासी॥
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे फिकरे बदमासी॥[77]

वैष्णव भक्त भारतेंदु धार्मिक पाखंड के प्रति अत्यंत कठोर दिखते हैं और इस बारे में निर्द्वंद्व लगते हैं। 'भारत दुर्दशा' नाटक को देश दुर्दशा के संबंध में तो देखा गया है। परंतु भारत दुर्देव जिनके कारण विजयी हुआ है और भारत का जीवन कलुषित और दयनीय बना है; उसमें सत्यानाश फौजदार का पहला सैनिक धर्म को बताते हैं। भारतेंदु के व्यावहारिक, संयमी और समन्वयवादी जैसे गुणों के बीच उनके साहस का यह उत्तम उदाहरण है। जहाँ धर्म की 'सेवा' को इस प्रकार वर्णित किया है:

''रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो॥
जन्मपत्र विधि ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बलबीरज मार्यो।
बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्यो॥
रोकि बिलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईस्वर सों सब बिमुख किये हिन्दू घबराई॥[78]

'अंधेर नगरी' प्रहसन में बाजार का दृश्य आता है जिसमें चने वाला, पाचक वाला के कथनों में अंग्रेज शासन पर व्यंग्य है। इस पर आगे विचार करेंगे लेकिन अपने पूर्व नाटकों की तरह यहाँ भी भारतेंदु धन लोभी ब्राह्मण का चित्रण करते

हैं जो धन के वास्ते धर्मशास्त्र के नियमों में परिवर्तन करने को तैयार है और जाति, वर्ण, धर्म, प्रतिष्ठा सब बेचने को तैयार है:

''टके के वास्ते झूठ को सच करैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचैं, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानैं। टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावैं। वेद, धर्म, कुल, मरजादा, सच्चाई, बड़ाई सब टका सेर।''[79]

इस तरह भारतेंदु प्रारंभ से अंत तक धर्म में घुसे पाखंड के प्रति आक्रामक रहे थे। उनके रचनात्मक साहित्य में अंतर्विरोध नहीं है। यह निर्द्वंद्वता और साहस भारतेंदु की बड़ी विशेषता है। इस नाटक का वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें उन्हें गुणी महंत या साधु को रेखांकित करने का अवसर मिला है। गोवर्धनदास (शिष्य) भिक्षा में मिले 7 पैसे से साढ़े तीन सेर मिठाई लाता है। नगर में टके सेर भाजी टके सेर खाजा मिलता है। यह सुनकर गुणी महंत शिष्य से कहते हैं कि ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है। वे वहाँ से चलने को कहते हैं:

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में कबहुं न कीजै बास।।
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इन्द्रायनं दाड़िम विषय जहाँ न लेकु विवेकु।।
बसिए ऐसे देस नहीं, कनक वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुःख पाइए, प्रान दीजिए रोय॥[80]

भारतेंदु का 'वैष्णवता औरभारतवर्ष'(1884) निबंध वैष्णव धर्म में निष्ठा का प्रमाण है। वसुधा डालमिया इसे वैष्णववाद के लिए अलग-अलग सूतों को इकट्ठा करने की नैरंतर्य के रूप में प्रस्तुत करने का महत्वाकांक्षी प्रयास बताती हैं और उनके तीसरे दौर के राष्ट्रवाद से जुड़ने की कुशलता की प्रशंसा करती हैं। यह विश्लेषण तार्किक है और भारतेंदु के बारे में कई भाँतियाँ को दूर करता है लेकिन धर्म में आस्था और धर्म में घुसे पाखंड के विरोध की निरंतरता का मुद्दा छूट गया हो, ऐसा लगता है। 'गुरु और महंत' सितंबर 1872 में कविवचन सुधा में प्रकाशित हुआ था। इसमें गुरु और उनकी शिष्य परंपरा में अनीति, अनाचार, लोभ, अहंकार के बढ़ने को दर्शाया है। मंदिरों के अनाचार की पराकाष्ठा का संकेत देते हैं: ''अब आजकल सब मेलों में[81] और वेश्यागारों को मंदिरों

ने जीत लिया है। जिस पुरुष की इच्छा हुई कि कुछ नेत्रों को आनंद देना चाहिए वे मंदिर पहुँचे। वहाँ बिना कुछ व्यय के रूप का खजाना खुला रहता है फिर ऐसा कौन मूर्ख है जो इस लूट से अपने को वंचित करे। ऐसे धर्म को पत्थर की नाव कहते हैं और इससे बचने के लिए कहते हैं। अंत में निर्देशित करते हैं कि परलोक में वही काम आएँगे जो विद्या से घोषित निष्कलंक चरित्र और ईश्वर में निश्छल भक्ति रखते है।[82] 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' नवंबर 1884 में बलिया के ददरी मेले के भाषण को अध्येताओं ने उसके संश्लेषित और बहुआयामी होने की प्रशंसा की है। इसमें भी वे 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है' कहते हैं लेकिन यहाँ भी बीच में धर्म में आई खराबी को बताने का अवसर निकाल लेते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''मेलों, व्रत, त्यौहार, तीर्थाटन विकार मिटाने के लिए आवश्यक माने गए हैं। लोगों ने धर्म नीति और समाज नीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन है यह सब तो समाज धर्म है जो देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं।'[83] धर्म साधना की उत्कृष्टता और धार्मिक पाखंड के बीच भारतेंदु प्रारंभ से अंत तक अंतर करते रहे थे और उसे अपने निबंधों और नाटकों में दृढ़ता से व्यक्त किया है।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट 19वीं सदी के ऐसे साहित्यकार, पत्रकार हैं जिन्होंने भारतीय धर्म साधना के उज्जवल पक्ष का समर्थन किया और उसे स्पष्ट करने का निरंतर प्रयास किया। इस उज्जवल और उदात्त के साथ ही धर्म साधना के क्षेत्र में घुसे पाखंड, रूढ़ियों और क्षुद्र आचारों पर निरंतर कटु प्रहार करते रहे। उनकी दृष्टि विवेकपूर्ण और आलोचनात्मक रही। धर्म के बारे में उन्होंने निरंतर लिखा और इस विषय प्रियता के पीछे देश हित और समाजोत्थान की भावना थी। धर्म के उदात्त पक्ष पर लिखते हुए हिंदू, धर्म में घुस आए भ्रष्ट विधि-विधानों, आचारों और लोभ वृत्ति पर गहरा आघात करते चलते हैं। धर्म के बारे में विभिन्न मत मतांतरों पर टिप्पणी करते है, पर उनका धर्म पर विश्वास औरपूर्णआस्था थी। किसी विशेष धर्म की प्रतिष्ठा के आग्रही न होने के कारण वे वस्तुपरक और विवेकपूर्ण विश्लेषण कर सके। 'धर्म का महत्व' (1894) में स्पष्ट करते हैं: ''धर्म से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि हम किसी खास धर्म की प्रशंसा करें

और न यही हमारा तात्पर्य है कि हम यह दिखलावें कि अमुक धर्म की बातें बड़ी उत्तम हैं। इससे इस खास धर्म पर चलना चाहिए। हमको भिन्न-भिन्न संप्रदाय और मतमतांतरों के झगड़ों से कुछ सरोकार नहीं। झगड़े के रास्ते को छोड़ हम उस तत्व का अन्वेषण करना चाहते हैं जो यावत् धर्म मात्र की नींव है।''[84] धर्म की नींव विश्वास है, तर्क नहीं, ''कहने के पीछे कल्याण के तत्व को प्राथमिकता देना है। लेकिन इस संदर्भ में वे तर्क को पूरी तरह तिलांजलि देने के पक्ष में नहीं हैं,' हम यह भी कहेंगे कि तर्क को सर्वदा स्थान न दें, यह बात सदा ध्यान में रहे कि धर्म सब बड़े-बड़े बुद्धिमानों के बुद्धितत्व का निचोड़ है, सुतराम उसको बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ मनन करना चाहिए।''[85] यह लेख ऐसे लोगों के लिए नहीं है जिनमें सत-असत विवेक वाली बुद्धि और विद्या नहीं है। जो नहीं मानते कि समाज के नियमों का परिपालन धर्म और परलोक का बड़ा भारी साधन है। इस तरह वे समाज नियमों में बद्ध होकर, विवेक-बुद्धि के साथ धर्म को धारण करने वालों को योग्य मानते हैं। पुष्पदंताचार्य के महिम्न स्तोत्र का उदाहरण देकर विभिन्न मार्ग से ईश्वर की खोज को उचित मानते हैं:

''सच पूछिए तो हम सब दर्शनों को एक मानते हैं। क्या हुआ जो एक की बात दूसरे से जोड़ नहीं खाती। जब यह निश्चय है कि सब एक ही बात की खोज में लगे हैं तो एक दूसरे के सहायक हैं और एक के बिना दूसरा खंडित हो सकता है। दो बटोहियों का इस बात के लिए लड़ना निरा छिछोरापन है कि उनका रास्ता एक नहीं है।

'त्रयी सांख्यं योग पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्नेप्रस्थानेपरमिदंपथ्यमितिच।
रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'[86]

बालकृष्ण भट्ट धर्म निष्ठा के साथ व्यक्तित्व विकास और देश समाज हित को भी जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह धारणा उनके निबंधों में निरंतर बनी रही है। जातियों का अनूठापन (1887) में संतुलित विचार प्रकट होते हैं। जाति के आचरण से पता लग सकता है कि वह दूसरी जातियों से किस तरह अलग है। अपनी जाति पर विचार करना सुगम और अनुभव सिद्ध मानकर वे मननशीलता के गुण को भारतीयों का विशिष्ट गुण कहते हैं। मुनि और आश्रम जैसा गुण संसार में किसी अन्य धर्म में नहीं पाते। इसका कारण प्राकृतिक परिवेश हैं। मननशीलता

के गुण के कारण 'हमारे यहाँ ऐसे ऐसे सूक्ष्मानुसुक्ष्म सिद्धांत निकाले गए जिनकी बारीकियाँ यूरोप की समझ में अब आने लगी हैं।' [87] 'मन के गुण' लेख में गीता और श्रीमद् भागवत के श्लोक को आधार बनाकर मन के स्वच्छ सौम्य रहने के उपाय और मौन की महिमा तथा लाभ का संकेत देकर उनके लक्षण बताते हैं:

मुनि प्रसन्नो गंभीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्त पारो ह्यक्षोभ्यःस्तिमितोद इववार्णवः॥

मुनि वह है जो सदा प्रसन्न अर्थात विमल चित्त हो, गंभीर अर्थात जिसकी थाह लेना सहज काम न हो, न जिसका पार किसी ने पाया हो जिसे कोई क्षुब्ध चलायमान न कर सके, ये सब गुण स्थिर सागर के हैं, सागर के सदृश जिसका मन हो वह मुनि कहा जा सकता है, मौन से सब बातें आदमी में आ सकती हैं। आत्म विनिग्रह अर्थात मन जो बड़ा चंचल है उसे वृत्तियों के निग्रह करने से रोकना।''[88]

धर्मशास्त्र के गहन अध्येता होने के कारण वे नई व्याख्याएँ भी देते हैं। ब्रह्म ज्ञान कहें या निपट अज्ञानलेख में ब्रह्म ज्ञान और वेदांत की नए ढंग से व्याख्या करते हैं: ''ब्रह्म ज्ञान और वेदांत यदि कुछ है तो वह इसलिए है कि कर्म करने में शूर और दृढ़ बने रहो, बार-बार अपने अध्यवसाय में अकृत कार्य करने पर भी निरुत्साही ना हो, कामयाबी और सुख के समय अभिमान में अपने को भूल न जाओ। दुख के समय दुख से दब धैर्य न छोड़ो। सत्य, दया, शौच, दियानतदारी, परस्पर का प्रेम बढ़ाओ, न्याय-अन्याय पर दृष्टि रखो, न्याय से कभी हटो नहीं, अन्याय पर कभी भूल से पाँव न धरो।''[89] वे वेदांत की उत्कृष्टता को सराहते हैं। उपनिषदों और महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने वेदांत सूत्रों का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया था। वेदांत का अनुशीलन करते हुए उन्होंने लिखा कि 'ईश्वर में आस्तिक्य बुद्धि और स्थिर संकल्प का होना, सुख-दुख में अनुद्विग्नभाव, परम शांति और राग द्वेष से बचना मानव जाति को सिखाया।' [90] लेकिन वे परवर्ती काल में शंकराचार्य के वेदांत सूत्रों के मनमानी अर्थ से स्वच्छंद दर्शन बनाने को उचित नहीं मानते। इसकी शुष्कता को दूर करने में रामानुज, बल्लभ. कृष्णचैतन्य प्रवृत्त कई महापुरुषों के प्रेम और भक्ति के उपदेशों की सराहना करते हैं।[91] हिंदी प्रदीप के विविध लेखों में व्यक्त हुए इन विचारों से भट्ट जी की भारतीय धर्म दर्शन के प्रति गहरी रुचि और ज्ञान के संकेत तो मिलते हैं परंतु गंभीर विषयों पर इन लेखो में एक

सीमा तक विस्तार देने की मर्यादा थी इसलिए विचारों में कहीं–कहीं सातत्य का अभाव लगता है। हिंदी प्रदीप के लेखों में धर्म में घुसे पाखंडों, कुरीतियों एवं अंधविश्वासों का कारण भी ज्ञान विमुख स्वार्थी और छल–छद्म में रत तत्कालीन ब्राह्मण को मानते हैं। जितने कटु प्रहार धर्म भ्रष्ट ब्राह्मणों पर उन्होंने किए, उतने अन्यों पर नहीं। यतोधर्मस्ततोजयः (1899) में पुरानी परपाटी पर अज्ञानी प्रजा के साथ शिक्षितों को देख उन्हें पीड़ा होती है, मूर्खों की कौन करें अच्छे–अच्छे पंडितों के बीच यह ख्याल जमा हुआ है कि पाइप का पानी पिया कि धर्म विदा हुआ और जो कुछ उनकी राय है उसकी तिरस्कार पर भी किरिस्तान या अंग्रेजों के पक्षपाती होने की पदवी मिलती है। हे ईश्वर, तू सहाय क्यों नहीं होता। धोबी के गदहे का हाल है कि घर का रहा न घाट का। [92] इसके बावजूद वे इसी लेख में दृढ़ता से अपने विचार व्यक्त करते हैं :

''जरा ध्यान तो दीजिए कि जिसे आप अपना धर्म मान बैठे हो वह केवल स्वार्थ है, उसी ने उनको निपंग करके उनकी क्या–क्या दुर्दशा की और कराई है, हठधर्मी से आप अब और भी अधिक कर और करा रहे हैं। पर्दे के भीतर घृणित खराबियाँ हुआ करें परंतु असंतुष्ट जोड़े अलग न होवें, धींगा–धींगी रात भर होती रहे, पुरुष मंडियों में और चकलों में यात्रा किया करें, स्त्रियाँ भी वैसे ही अपने मन की करती रहें, इससे धर्म स्थित है। राजाओं के महल से डोले पर डोले देहली, आगरा और हैदराबाद आदि में पहुँचते थे तब धर्म नहीं गया। स्त्रियों की गली–गली लूट होती थी तब धर्म नहीं गया। यदि कोई स्त्री अपने माँ–बाप की मूर्खता जो रात–दिन देखने में आती है या पति की लंपटता कमारबाजी और सख मार से बचने के वास्ते अपनी जान बचाना चाहे और कारागार में जाकर सजा न भोगे तो बस धर्म गया, ऐसे धर्म को तो दूर ही से नमस्कार है।''[93] वे उन शिक्षितों और बौद्धिकों की पुरानी चाल–ढाल, पुरानी लीक पीटने वालों की भीरुता, नया कुआँ खोद टटका पानी पीने का साहस न करने वालों पर खीजते हैं, ''हम लोग जो प्रोडक्ट्स आफ स्लेवरी गुलामी की पैदावार हैं, उसमें ऊँचे से ऊँचे दर्जे की तालीम भी कुछ असर नहीं पहुँचा सकी। बड़े–बड़े रिफॉर्मर और संशोधकों की अकिल सब भाँति गोठिल पड़ गई। स्वामी दयानंद सरस्वती; बंगाल के राजा राममोहन राय; तदनुयायी बाबू केशव सेन; ऐसे कितने ही आजन्म संशोधन का दम भरते खत्म हो गए पर सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य समाज में ना

हो सके। श्राद्धों में जैसा बिकरा का पिंडा अलग फेंक दिया जाता है, वैसे ही अलग फेंक दिए गए।''[94]

भट्ट जी पुराने ढंग वालों के प्रति आक्रामक रहे हैं। हिंदू धर्म के कठमुल्ले चाहे कलयुग कलयुग पुकारना, या मंदिर के संड मुसंडे पंडे हो, उनके प्रति पूर्वाग्रह की सीमा तक अनुदार रहते हैं। हमारे देश के पुराने ढंग वाले' (1889) लेख में वे पांच श्रेणी में राजा–महाराजा, तालुकदार, अमीर, दलाल या हमाली करने वाले मजदूरे, नाम बदलकर उच्च स्थिति में आने वाले लोभी चोर लुगाड़ों को रखते हैं, और छठवीं श्रेणी मंदिरों के पुजारी संड–मुसंड पंडे और पाधा पुरोहितों की है, ये तो मानो स्वर्ग की सीढ़ी पर चढ़ा देने के लिए राहदारी का परवाना लेकर उतरे हैं।[95] तथाकथित ब्राह्मणों के अध:पतन पर हिंदी प्रदीप में समय पर वे निरंतर लिखते रहे। यह उनकी धर्म के प्रति निष्ठा और समाज के प्रति दायित्व का प्रमाण है।

'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है'–लेख आर्य जाति के विकास से मानव जीवन की चित्त वृत्तियाँ में आए परिवर्तन से धर्म, कर्म और जीवन में परिवर्तन को इंगित करता है। 1881 में लिखा यह लेख, लेखक की चिंतनशीलता और ऐतिहासिक दृष्टि का भी प्रमाण है। वे मानते हैं कि किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल जान सकते हैं जबकि साहित्य के अनुशीलन से समय–समय के आंतरिक भाव परिस्फुट हो सकते हैं। आर्यों के समाज का विकास होने, रीति और बर्ताव में विभिन्नता आने पर एक सूत्र में रहने के लिए सामाजिक नियमों की आवश्यकता से स्मृतियां लिखी गईं।[96] उन्होंने रामायण और महाभारत के समय के परिवर्तन को उनके कथ्य में आए परिवर्तन से इंगित किया:

''रामायण के समय से भारत के समय में लोगों के हृदय भाव में कितना अंतर हो गया था कि रामायण के दो प्रतिद्वंदी भाई इस बात के लिए विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्य सिंहासन हमारा नहीं है यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे, अंत में रामचंद्र ने भरत को विवाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप आनंद निर्भय चित हो सपत्नीक वनवासी हुए। वहीं महाभारत में दो दायाद भाई इस बात के लिए कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का अग्रभाग तक जाए इतनी पृथ्वी भी बिना युद्ध के हम न देंगे। 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्देन केशव'। परिणाम में, एक भाई दूसरे पर जय लाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर पदाघात से उसका वध कर,

भाई के राज सिंहासन पर आरूढ़ हो, सुख में फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ।''[97] लेखक परवर्ती तीव्र परिवर्तन में जैन और बौद्ध साहित्य और भाषा परिवर्तन का निर्देश देता है। लेकिन इस काल में संस्कृत में कालिदास, भवभूति, भारवि आदि ने साहित्य को शीर्ष पर पहुँचा दिया था।बौद्धों के उच्छेद के बाद पुराण साहित्य लिखा गया। बालकृष्ण भट्ट पुराण साहित्य पर क्रिटिकल थे। उन्होंने पुराण के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रदेय को प्रस्तुत किया। यद्यपि वे जातीयता के विक्षेप का कारणपुराण मानते हैं, साथ ही लिखते हैं कि वेद साहित्य की घिनौनी रीतियों और हिंसाओं के विपरीत पुराण कर्ताओं ने शुद्ध सात्विकीधर्म को विशेष स्थापित किया। लेकिन उनके मत से तंत्र साहित्य ने बड़ा संहार किया:

''उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता भैरों, काली, डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत तक के पूजन को फैला दिया। मद्य, माँस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुण और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बल वीर्य की पुष्टता से जो माँसाहार का प्रधान लाभ था, यह लोग फिर भी वंचित ही रहे। निसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती तो हिंदुस्तान ऐसा जल्द ना डूबता।''[98]

बालकृष्ण भट्ट दयानंद सरस्वती के बारे में निरंतर टिप्पणियाँ करते रहे। इनको अलग-अलग देखने पर स्वामी दयानंद से वे प्रभावित और कहीं-कहीं पक्षधर भी लगते हैं। वस्तुत: वे विषय के संदर्भ में समग्रता से अपना पक्ष रखते हैं लेकिन वैचारिक मतभेद होते हुए भी उन्होंने दयानंद जी के प्रदान को रेखांकित करने में संकोच नहीं किया। स्वामी दयानंद नाम से उनका पहला लेख 1878 हिंदी प्रदीप में प्रकाशित हुआ था, जो दयानंद जी के इलाहाबाद आगमन के एक मास बाद लिखा गया था। इसमें स्वामी दयानंद के विचारों का विश्लेषण है और स्वामी दयानंद की मान्यताओं के अंतर्विरोधों और पूर्वाग्रह को निर्भीकता से रेखांकित किया गया है:

''इन सब बातों की समालोचना करने में स्वामी जी की एक बात दूसरे के प्रतिकूल पड़ती है क्योंकि हम तो पूर्वकृत दुष्कर्म का फल भोग रहे हैं। यह हमें सुकृत में क्यों कर प्रवृत्त होने देगा? इससे साबित हुआ कि स्वामी जी स्त्री, पुत्र और संसार के अनेक तरह के सुख छोड़ अपने को नबी कहलाने कि मृगतृष्णा में जो भटक रहे हैं यह सब उनके पूर्व जन्म ही का भोग है। और आजकल की ऐसी उन्नति के समय विज्ञान शास्त्र के विरुद्ध उन्हें जो भद्दा ख्याल सूझता है यह भी उनके कर्म का भोग है और हम लोग जो ऐसी ऐसी भद्दी बातें सुनने

को आए हैं वह भी कर्म का ही भोग था, इत्यादि बातों की अच्छी तरह समालोचना करने से साफ मालूम हो जाता है कि वेद जब ईश्वर वाक्य और ईश्वर प्रदत्त नहीं है तो भ्रांति रहित क्यों कर हो सकते हैं? स्वामी जी समझते हैं कि वेद को अनादि और ईश्वर प्रदत्त कहने से सब लोगों को श्रद्धा और विश्वास इस पर दृढ़ हो जाएगा। तब हमारे कहने के अनुसार चलने में सब लोग उद्यत होंगे, पर स्वामी जी यह नहीं सोचते कि हिंदुस्तान में अब वह अंधकार का समय नहीं रहा, जिसमें पुराने आचार्यों और संप्रदाय प्रवर्तकों ने जैसा चाहा वैसा लबड़ धौं-धौंमचा दिया।''[99] भारतीय धर्म दर्शन में परमार्थ और परलोक संबंधी विचार की उत्कृष्टता के साथ बाहर राजनीतिक क्षेत्र में उदासीन रहने के कारण भारत को विदेशी पराधीनता स्वीकार करनी नहीं पड़ी। वे दयानंद के पॉलिटिक्स का उपयोग करने को सराहते हैं: इधर हाल में स्वामी दयानंद अलवात्ता ऐसे हुए हैं जिनके मत का मूल केवल पॉलिटिक्स थी पर अफसोस कि अल्पायु में ही गए। इसमें संदेह नहीं स्वामी दयानंद कुछ दिन और जीते होते तो बहुत लोगों के नेत्र खुल जाते। मैं दयानंदी नहीं हूँ किंतु जिसमें जो गुण हो उसे क्यों न कहें।[100]

ब्राह्मण जाति की कटु आलोचना करने पर भी उन्होंनेउससे सदाचार की शिक्षा का स्रोत भी माना है। इस संदर्भ में भी दयानंद स्वामी का स्मरण किया, ''सब छोड़ हाल में स्वामी दयानंद सरस्वती को लीजिए जिनके चलाए पथ से देश का कितना कल्याण हो रहा है। बड़े-बड़े शिक्षित समाज के अग्रणी बैठे-बैठे झंखते हैं और हिचकते हैं। दयानंद सभी हिचक और संकोच छोड़ जो कुछ उनसे करते बना कर गुजरे-ईश्वर करे जल्द भारत में वे दिन आवें कि ब्राह्मणों के एक-एक बालक शंकराचार्य, कृष्ण चैतन्य और दयानंद के पथ के अनुसरण करने वाले हों।[101] दयानंद सरस्वती के मूर्ति पूजा के विरोध के कारण उन्हें पश्चिमोत्तर प्रांत और भारत में कम प्रसिद्ध मिली लेकिन उनके प्रदेय का स्वीकार करते हुए लिखते हैं, पूरी संस्कृत पढ़ने वालों में यदि कुछ सामाजिक सभ्यता की झलक आई तो स्वामी दयानंद सरस्वती में आई और यह अंत को बहुत ही बढ़ती और देश के लिए परोपकारी होती यदि स्वामी जी डंडा हाथ में ले प्रतिमा पूजन के पीछे न दौड़ गए होते। दूसरे ब्राह्मणों से चिढ़ श्राद्ध के खंडन-मंडन और हिंदू तथा आर्य शब्द की छिलावट आदि, दो एक बातों के झगड़ों में स्वामी जी स्वयं आप और अब उनके अनुयाई अपनी मानसिक शक्ति को इतना सत्यानाश कर रहे हैं कि अपने आदिम शुद्ध सिद्धांत से बहुत पीछे हट गए हैं।[102]

बालकृष्ण भट्ट भारतीय धर्म और संस्कृति के गंभीर अध्येता होने के साथ वर्तमान के प्रति भी सजग थे। परंपरित भारतीय दर्शन की उदात्तता के साथ पाखंडों पर तीव्र प्रहार करते हुए उज्जवल परंपरा से प्रेरणा लेते दिखाई देते है। उनमें आलोचनात्मक विवेक तीक्ष्ण था, जिसके कारण वे प्रगतिशील दिखाई देते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र (1856–1894)

प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेंदु को अपना गुरु और आदर्श मानते थे। प्रेरणा से 'ब्राह्मण' पत्रिका निकाली। लेकिन इनमें बालकृष्ण भट्ट जैसी आक्रामकता और कठोरता नहीं मिलती। वे व्यंग्यपूर्ण शैली में अपने समय की धार्मिक स्थिति परिस्थितियों पंथों, मतों पर मृदु और विनम्र स्वर में प्रतिरोध करते हैं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म प्रचारकों, इस्लाम के अनुयायियों, ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज द्वारा पारंपरिक हिंदू धर्म पर आक्षेप आलोचनात्मक बहसें तेज थीं। ऐसे परिवेश में धार्मिक पंथों, संप्रदायों की पूजा विधि, आचार विचारों में विविधता और धीरे–धीरे पैंठ गई संकीर्णता, अंधविश्वासों,अहंकार पर 'ब्राह्मण' एवं अन्य पत्रिकाओं में उन्होंने निरंतर लिखा। लेकिन उनका दृष्टिकोण सकारात्मक रहा। वे विरोधी विचार रखने वालों को तार्किक और भावनात्मक दोनों स्थानों पर समझाते हुए, साधारण शिक्षित जनता को संस्कारित करने का दायित्व निभा रहे थे। हिंदू धर्म के प्रबल समर्थक थे और वेद, वेदांत, पुराण,विविध उपासना पद्धतियों और मूर्तिपूजा में उनकी आस्था थी। मिश्र जी के समय तक हिंदू, मुस्लिम और ईसाईधर्म के बीच पूर्व की तरहका खिंचाव नहीं था। संभवत इसीलिए वे हिंदुओं के साथ ईसाई और मुसलमान को एक साथ रखकर विचार करते हैं। उनमें आपसी सहयोग के लिए देश हित और देश उन्नति मापदंड रखते थे। मिश्र जी का पारंपरिक धर्म की ओर स्पष्ट झुकाव था और उन्होंने इसे छुपाया नहीं। 'ईश्वर का वचन' निबंध उनकी तार्किक शैली, आस्था, विश्वास एवं समन्वयवादी दृष्टि का उदाहरण है। निबंध का प्रारंभ करते हैं, 'जब ईश्वर संसार भर का स्वामी है तो यह कैसे संभव है कि उसका वचन केवल एक देश के लोगों की भाषा में हो।[103] वे इसको स्वीकार नहीं करते कि ईश्वर की बनाई एक, दो पुस्तक हैं। उनमें दिए वचन ही ईश्वर के वचन है। ''बाइबिल तथा कुरान के दोष दिखाना हमें अभीष्ट नहीं है, पर इतनी शंका हमारे जी से नहीं जाती कि ईश्वर प्रणीत ग्रंथों में इतना गड़बड़ क्यों हुआ कि मनुष्य उसमें दोष लगा सकें ? इसके सिवा पोथियों

में जितनी विधि निषेध वर्णित है, मानव मंडली अधिकत: उनके विरुद्ध ही आचरण करती है यह क्योंहै? एक छोटे राजपुरुष की मौखिक आज्ञा को तो लोग भंग नहीं करते, पर ईश्वर की आज्ञा उससे गई बीती है। जब ऐसी पोथियों को ईश्वर कृत मानना, जिसमें कहीं लिखा है, ईश्वर ने 6 दिन में जगत बनाया, कहीं कहा है कि, मरने के पीछे कयामत के दिन तक सब जीवों के पाप पुण्य का मुकदमा ईश्वर की अदालत में दौरा सुपुर्द दी रहेगा।[104] मतमतांतरों के झगड़े, धर्म में घुसे पाखंड को कारण मानकर अंधविश्वास ढोंग और रूढ़ियों का विरोध करते हैं। 'यदि घर में कुत्ता, कौवा कोई हड्डी डाल दे अथवा खाते समय कोई माँस का नाम ले ले तो आप मुँह बिचकाते हैं, पर विलायती दियासलाई और विलायती शक्कर जिसमें हड्डी और रक्त दोनों पड़े हुए हैं, सो भी न जाने किन-किन जानवरों के वह आरती के समय बत्ती जलाने के सिंहासन के पास रख लेते हैं। और भोग लगाकर गटक जाने तक में नहीं हिचकते।[105] ''हमारे धर्म ग्रंथों को पंडित नामधारियों ने बना ही ऐसा रखा है कि मोम की नाक चाहे जिधर फेर लो। चाहे जिस विषय के खंडन में कुछ वाक्य ढूँढ़ लीजिए, चाहे जिसके मंडन में, सभी मिल जाएँगे।''[106] उन्होंने गेरुए वस्त्रधारी ढोंगी बाबाओं के व्यवहार को भी निशाना बनाया है। (गृहस्थी) निसंतान स्त्रियों को ऐसे ढोंगी फुसलाते हैं कि संतान तो लिखी है पर किसी गिरी से नहीं दिक्खे हैं।[107] निस्वार्थ भाव की भक्ति के स्थान पर बगुला भक्तों पर व्यंग्य करते हैं। ''कोई बगुला भक्त हैं, अर्थात दिखाने मात्र के भक्त हैं पर मन जैसा का तैसा। कोई पेटुअल भक्त हैं अर्थात यजमान से दक्षिणा मिलनी चाहिए और काम न किया, पूजा ही सही। कोई व्यवहारी भक्त है अर्थात या महादेव बाबा भेजना तो छप्पन करोड़ की चौथाई। इन्हीं में वे भी हैं जो संसारी पदार्थ को नहीं चाहते पर मुक्ति अथवा कैलाश वास पर मरे धरे हैं। कोई भगत जी हैं जो रास्ते में और मंदिर में आँखें सेंकने ही को पूजा की आड़ पकड़ते हैं।''[108] इस तरह की कठोर टिप्पणियाँ करने पर भी उनकी धर्म के प्रति पूर्णनिष्ठा है। उनके लिखे में अनेक स्थान पर धर्म की महत्ता और धर्म से ही समाज और देश की उन्नति होगी, यह विश्वास स्पष्ट प्रकट हुआ है। 'धर्म और मत' निबंध में भी धर्म को परिभाषित करते हैं और सभी धर्म में उसे व्याप्त मानते हैं, ''धर्म वास्तव में परम आनंद में परमात्मा एवं उनके भक्तों से प्रेम तथा संसार में क्षेमस्थापन का नेम मात्र है। जितने महात्मा हो गए सबका यही सिद्धांत रहा है। इसी के अंतर्गत वेद, शास्त्र, पुराण, बाइबल अथवा कुरआन आदि किसी धर्म ग्रंथ अथच किसी

आचार्य की सत्यता पर विश्वास रखना, यथा साध्य उन कामों से बचे रहना जिन्हें बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है, पक्षपात को दूर रख के जिससे पूछियेगा यही उत्तर पाइयेगा कि वास्तव में धर्म यही है और हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि यदि इस सर्वेसम्मत धर्म पर सब मतों के मानने वाले चलते होते तो कभी किसी देश में कुछ भी विघ्न न होता।''[109] लेकिन वे इस अंधभक्ति को नहीं मानते थे कि धर्म के स्थान पर मत का आग्रह होने पर हमारे यहाँ पोथी और मत प्रवर्तक एवं आंतरिक और बाह्य व्यवहार अच्छे हैं, सारे संसार के बुरे।[110] उनका विश्वास है कि मत-मतांतर एवं छल-छद्म, आचार विचारों में फँसकर, धर्म पर मतवाद का वर्चस्व हो गया था। इसे 'प्रश्नोत्तर' निबंध में संवाद शैली में प्रस्तुत किया है। मतवाला भाई पूछते हैं कि मरणांतर जीव की क्या गति होती है। प्रेमी का उत्तर है कि 'ईश्वर के सिवा कोई नहीं जानता। इस विषय में किसी की चिट्ठी नहीं आई समाचार नहीं मिला. हम क्या जाने क्या होता है। ईश्वर से पूछो या किसी मरे हुए के नाम तार भेजो। मतवाले का दूसरा प्रश्न कि पोथियों में स्वर्ग-नरक लिखे हैं, सो क्या झूठ है? प्रेमी हल्के फुलके ढंग से उत्तर देता है कि उसके देखने छूने में न कभी नरक आया, न स्वर्ग। शायद आपको पता हो तो कृपा करके बताइए।''[111] वे इस धारणा को मनीषियों की कुशल बुद्धि का परिणाम मानते हैं: ''चतुर लोगों ने संसार का चरखा ठीक बना रहने के हेतु निरे उजबक मनुष्यों को भले कामों में झुकाने को एक झूठी चाट बनाके उसका नाम स्वर्ग धर दिया है और बुरे कामों से बचे रहने के लिए एक कल्पित हौआ ठहरा के नर्क नर्क कहने लगे हैं।''[112] मतवाला तो उसे नास्तिक कह कर चला जाता है। पर एक दूसरे साहब प्रश्न करते हैं कि जिसके लिए हिंदू, मुसलमान, क्रिश्चियन प्राण खोए देते हैं वह मुक्ति वास्तव में क्या है वह उत्तर देता है, ''इस शब्द का अर्थ तो छुटकारा है पर जैसा पंडित, मौलवी और पादरी साहब बतलाते हैं उससे मालूम होता है कि भूत-प्रेत की बहन है, क्योंकि उनका भी कोई अस्तित्व (वजूद) नहीं है। वजूद पर विश्वासी ही, झूठ-मूठ के डर से सूखे के जाते हैं। इसका भी किसी ने विश्वास योग्य वृतांत न बताया पर विश्वासी लोग उसकी चाह में डूबे रहते हैं।''[113] यह सुनकर पूछने वाले को बोध हो जाता है कि मुक्ति की चिंता व्यर्थ है। यह ईश्वर का ही अधिकार है। ऐसी बातों में समय बिगाड़ कर सांसारिक कामों की हानि नहीं करनी है। मिश्र जी सरल सहज ढंग से उस बड़े पाखंड को उघाड़ देते हैं, जिन्हें धर्म संप्रदाय के चतुर लोग भोले भाले

अनुयायियों को गूढ़ प्रश्नों में उलझा कर अपना पक्ष प्रबल करते हैं। अपने व्यापक दृष्टिकोण के कारण वे धर्म अगणित पुस्तकों में से दो पोथियों को मान्यता देते हैं, ''एक का नाम है दृश्यमान जगत अर्थात भूगोल, खगोल और दूसरी का नाम है आंतरिक सृष्टि अर्थात मन, बुद्धि, आत्मा, स्वभाव आदि का संग्रह। इन्हीं दो पुस्तकों को लाखों वर्षों से लाखों लोग विचारते आए हैं पर किसी ने इसकी थाह नहीं प्राप्त की।''[114] प्रताप नारायण मिश्र के विचारों की नवीनता और प्रगतिशीलता का यह उदाहरण है। कि वे धर्मभ्रष्ट हिंदुओं को की पुर्नवापसी के लिए उस समय आवाज उठाते हैं। मौलवियों और पादरियों के मायाजाल में फँसकर यदि कोई वापस अपने धर्म को अपनाना चाहे, तो हिन्दू धर्म में मार्ग बंद कर दिया गया था। इस 'वॉटर टाइट कंपार्टमेंट' से हिंदू धर्म के अनुयाई गूलर के फूल के समान हो जाएँगे। मिश्र जी की चिंता और पीड़ा व्यंगपूर्ण शैली में व्यक्त हुई है। ''परमेश्वर का नामपतित पावन है, सो एक लड़का भी जानता है। पर कोई हिए कपारेका अंधा, इंद्रियों का बंदा, मौलवी और पादरियों के माया जाल में फँसकर उनसे चोटी कटा ले फिर वह चाहे जैसा अपने लिए अपने किए पर रोवै, उसका हिंदू होना असंभव! क्यों भाई शास्त्र की नीति से प्रायश्चित मिला न लेव! 'वाह जी! हमारा धर्म जाता रहेगा'। हूँ हूँ झूठ बोलने में धर्म नहीं जाता, यावनी–गमन में धर्म नहीं जाता, गौरक्त मिश्रित विलायती शक्कर खाने में धर्म नहीं जाता, एक स्वदेशी भाई को कुमार्ग से स्वधर्म में लाने में धर्म भाग जाएगा? प्रेमएव परधर्मः तो उसी दिन रफू चक्कर हो गया था जिस दिन जयचंद पृथ्वीराज में विरोध हुआ था। कहने सुनने को जाति बच रही है सो भी जानते ही हो कि धर्म ग्रंथो को तकिया बनाय के देश निद्रा में कुंभकरण की भाँति खरहटे भर रहा है। और उधर वाले कमर बाँधे अपनी गाथा बढ़ा रहे हैं। एक दिन होगा कि हिंदू गूलर के फूल हो जाएँगे।''[115]

'एकै ही साधे सब सधे, सब साधे सब जाए' निबंध में उनकी सृजनात्मक का पता चलता है। इस युक्ति के दो उपदेश हैं। यदि सच्चे उत्साह और दृढ़ता के साथ किसी काम को उठाया जाए तो उसके पूर्ण होने में संदेह नहीं है। इस विचार में किसी को अविश्वास नहीं हो सकता परंतु इस कार्य से समाज का उद्धार हुआ हो, राजनीति का सुधार धर्म तथा सद्‌गुणों का प्रसार से पेट भरा हो, ऐसा नहीं है, उनकी धारणा में नवीनता है। वे मानते है कि अपने द्वारा अपनों के सहयोग से घर का दारिद्र दूर किया जाए: ''अरे बाबा! भला अपने ही हाथ

से हो सकता है। अत सबसे पहले अपनापन समझो। अपना पेट अपनी करतूत से पालो। अपना तन, मन अपने वेश भूषण भाव से अलंकृत करो। अपनी कोड़ी नाली में गिर पड़े, तो भी दांत से धरो। चाहे जैसा दुख–सुख हानि–लाभ सहना पड़े, पर अपना रंग न छोड़ो।''[116]

मिश्र जी ने पुराण को सहृदयता का मूल माना। 'पुराण गूणार्थ' निबंध में पुराण की वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्रहलाद चरित्र के उपदेश को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, ''यह भी विश्वास रक्खो कि भगवान के सच्चे प्रेमी को संसार की कोई विपत्ति बाधा नहीं कर सकती अथवा उनके विरोधी कैसा भी धनी, बली सुशिक्षित देवरक्षित क्यों ना हो किंतु अपने किए का फल अवश्य में पाता है। यदि इतना समझ कर भी आपका हृदय प्रेमामृतपान के लिए तृषित ना हो और ऐसी कथा से आप उपदेश लाभ करने के स्थान पर खंडन मंडन के ही लाती बने रहें तो पुराण तो पुस्तक ही मात्र है, पुराण पुरुष परमेश्वर भी आपसे हार जाएँगे।''[117]

वे मूर्ति पूजा को केवल 'परमदेव की सेवा करने तथा मन लगाने के लिए एक संकेतचिन्ह मानते हैं।' प्रतिमा द्वेषी और प्रतिमा प्रेमी के बीच के संवाद में प्रतिमा प्रेमी कहता है, ''प्रतिमा को हम प्रतिमा समझते हैं, नहीं तो हम प्रतिमा के आगे स्तुति प्रार्थना करते समय ईश्वर का नाम क्यों लेते। यदि हम प्रतिमा को ही ईश्वर समझते होते तो स्तुति प्रार्थनादि ऐसे शब्दों में करते कि, हे पतिमेहै पाषाण धात्वादि निर्मित तुम धन्य हो। तुम मुझे धन पुत्रादि दो। पर ऐसा किसी मूर्ति पूजक के मुँह से अपने न सुना होगा। इससे प्रत्यक्ष है कि हम जिसे मानते और पूजते हैं, वह प्रतिमा नहीं है, केवल प्रतिमा केवल चिन्हमात्र है। सो बाह्य चिन्ह तो सब नाशवान हई हैं। उन्हें क्या औरंगजेब न तोड़ता तो भी समय पाकर आपसे आप बिगड़ जाते हैं।''[118]

राधाचरण गोस्वामी (1859–1925)

राधाचरण गोस्वामी ऐसे रचनाकार पत्रकार थे जिन्होंने समस्याओं के मर्म पर उंगली रखी और तार्किक रूप से उनकी सीमाओं को उद्घाटित किया। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र के पाखंड के लिए स्पष्ट रूप से व्यवस्था कर रहे ब्राह्मणों को दोषो माना। इस संदर्भ में स्वामी दयानंद के प्रयासों की सराहना की। इस पर आगे विचार करेंगे। उन्होंने धर्म की सच्चाई और धर्म के पाखंड में अंतर किया। 'दो–

चार धूर्त पंडित हैं जो धर्म के नाम से कुछ पैदा कर लेते हैं। वह कोलाहल करते हैं। यदि कहो कि काशी के पंडित व्यवस्था नहीं देते तो थोड़े से रुपए खर्च कीजिए, जो चाहे व्यवस्था ले लीजिए।"[119] ''हमारे देश में थोड़े से अकर्मण्य लोग ऐसे हैं जो दिन–रात धर्म की धांय धांय करके मर मिटते हैं। वे समझते हैं कि धर्म के झूठे शंख बजा कर ही देश को स्वर्ग में पहुँचा देंगे। वे नहीं जानते कि इस समय भारतवर्ष को धर्म की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।[120] जब वह ऐसा कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे धर्म पर विश्वास नहीं करते बल्कि वे मानते हैं कि धर्म के द्वारा ही समाज और देश की उन्नति हो सकती है। विविध पंथों के आचार, परलोक के शब्ज बाग, मुक्ति के लिए अंधविश्वास और धार्मिक पाखंड को वे निरंतर उघाड़ते रहे। उन्होंने धर्म को धन से जोड़ने वाली पारंपरिक व्यवस्था के प्रति निर्भीकता से कटु शब्दों में भर्त्सना की।''

''परमेश्वर की कोप से हिंदू जाति इस समय एक ऐसे अदूरदर्शी अनुदार लोगों के दल के हाथ में है, जिनका जोड़ा सारे संसार में ढूँढ़ा जाए तो 'रोम के पोप' लोगों के सिवाय दूसरा न निकलेगा। वह दल आजकल के दुराग्रही,स्वार्थी, देश के शत्रु थोड़े से ब्राह्मणों का है। जो अपने गर्व के आगे इंद्र को खर्ब और अपने वचन को ईश्वर के वचन से भी अधिक माननीय समझते हैं। और आँखों के अंधे और कानों के बहरे इतर हिंदू लोग उनके ऐसे वशीभूत और गुलाम बना रहे हैं। किसने हमें पर लोक का सब्जबाग दिखलाकर हमारे इस लोक की धन दौलत लूट ली। किसने छुआछूत और चौका चूला चलाकर हमारा चौका लगा दिया और हमें चूल्हे में डाल दिया ? किसने हमें यंत्र,मंत्र और ज्योतिष के झगड़ जाल में पागल, वहमी और असभ्य बना दिया ? और हाँ किस प्रपंची धूर्त प्रतारक अज्ञानी समूह ने हमें समुद्र यात्रा से वंचित कर आज हमारा सभ्य समाज में काला मुँह कराया। यही,यही थोड़े से आग्रही ब्राह्मण हैं जो हमको धर्म का धोखा देकर हिंदू जाति को परलोक का भय दिखलाकर सर्वनाश करना चाहते हैं।''[121] राधाचरण गोस्वामी ने धर्म और धन की इस दुरभि संधि को जनता के सामने रखा और धर्म की सच्चाई को जनता के सामने रखने का हर विधि प्रयत्न किया। वे स्वामी दयानंद के आर्य समाज से प्रभावित थे, ऐसा उनकी टिप्पणियों से स्पष्ट होता है। वे नि:संकोच भाव से स्वामी दयानंद के ऐतिहासिक कार्य की सराहना करते हैं और उन्हें धर्म सुधारक के रूप में यूरोप के लूथर और भारत के बुद्ध से तुलना करके उनके समकक्ष मानते हैं। 'भारतेंदु' पत्रिका के 18 जून 1886 में छपे 'आर्य

समाज' नामक लेख में दयानंद जी की मृत्यु के बाद आर्य समाजियों के आचार और विचारों में आए परिवर्तनों का भी उल्लेख किया है। वे दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलेज के लाहौर में खुलने पर भी अत्यंत प्रसन्न हुए थे और वे आर्य समाज के विरोधियों से पूछते हैं कि उन लोगों ने कौन-सा लोकापकार किया? वे पारंपरिक समाज के लोगों से प्रार्थना करते हैं कि आर्य समाज का विरोध छोड़कर उन्हें अपने सगे छोटे भाई की तरह स्नेह करें। अब यह समय नहीं है कि घर में जूता चले और बाहर के तमाशे देखें। अब एक होकर देशोन्नति करनी चाहिए। ऐसे ही आर्य समाजियों से कहते हैं कि वे हिंदू समाज से गाली गलौज, लड़ाई दंगा आदि लड़कपन न करें क्योंकि इससे उद्देश्य नष्ट होता है और क्रिश्चियन मिशनरी कैसे चातुर्य से अपना मत सिद्ध करते हैं।''[122] इसका अर्थ यह नहीं है कि वे आर्य समाज की रेडिकल चीजों को स्वीकार कर रहे हैं। 19वीं सदी के अन्य साहित्यकारों की तरह वे भी इस बारे में अपने विचार स्पष्ट प्रकट करते हैं। वे अभी भी भारतीय समाज में वेदों की प्रतिष्ठा और उसके प्रति आस्था को स्वीकार करते हैं लेकिन मानते हैं कि भारत की दुर्दशा के साथ वेद की भी प्रतिष्ठा कम हुई है। इसके कारण भीबताते हैं। लंबे समय तक का नाम तो लिया गया लेकिन ब्राह्मण इसका अर्थ भूल गए। नाना प्रकार के मत-मतांतरों के फैलने से वेद की चर्चा भी कम हो गई। लेकिन वेद वृक्ष की जड़ बड़ी दृढ़ है। वह अनेक आँधी-बवंडर सहकर भी अब तक महाप्रलय में बचा हुआ है पर अब बचना कठिन है क्योंकि अब इसकी जड़ में तेल और पारा भरने वाले बहुत पैदा हो गए। जो वृक्ष आँधी-बवंडर से नहीं गिरा, उसे अब छल,बल और कौशल से गिराने का उपाय हो रहा है।[123] इसके लिए वे स्वामी दयानंद सरस्वती को भी दोषी मानते हैं। उन्होंने वेद का वह गौरव उड़ा दिया जो सनातन के संप्रदायानुसार एकार्थ वाच्य चला आता था। आपने भेद के अर्थ की कुछ भी भावना न समझ कर व्याकरण के खड़क हाथ में ले, वेद रूपी महानगर का कत्लेआम कर दिया। रेल-तार, विमान, बेलून-जहाज-कल आदि विलायत का सारा कारखाना विचारे भोले भाले परमेश्वर की वाणी में भर दिया। दूसरा नाश वैदिक सद्धर्म सभा आगरे ने किया। अध्यात्म-परमात्म, योग-वियोग संयोग-कुयोग आदि का योग देकर वेद के वर्णों को कोल्हू में पेल कर वह तेल निकाला किवाह जी! वाह! बाकी छोटे-मोटे और भी बहुत से महाशय हैं जो वेद को कभी बैल, कभी बकरा ,कभी भेड़, कभी गधे का स्वांग बनाकर उससे पैसे पुजाते हैं।''[124] लेखक स्वामी दयानंद

के वेद भाष्य और मूर्ति पूजा का विरोध करते हैं लेकिन उनके प्रति श्रद्धा और आर्य समाज के प्रति सहानुभूति भी स्पष्ट प्रकट करते हैं। ''स्वामी जी के देशापकारी होने में जो कोई संदेह करे ,वह नारकीय है और आर्य समाज के देशोन्नति करने में किसी को भ्रम हो, तो वह साक्षात पशु है।''[125] राधाचरण गोस्वामी का यह विश्लेषण उन्हें 19वीं सदी के साहित्यकारों में सबसे तार्किक और आलोचनात्मक विवेक का पुरस्कर्ता प्रमाणित करता है। उन्होंने 'बिहार के धार्मिक महत्व' लेख में बिहार की सांस्कृतिक विरासत को बड़े ही मनोयोग से प्रस्तुत किया है। यह भारतीय संस्कृति, पुराण और साधारण समाज की धर्म के प्रति आस्था को प्रकट करता है। वे मगध कीकट, मिथिला, जींद, कपिलवस्तु, चंपारण्य, भोज कट अंग, बंग इत्यादि और नगर जो बिहार के अंतर्गत थे, उनका उल्लेख करते हैं और उसी के साथ पश्चिम की कर्मनाशानदी,भीष्मक राजा के भोजपुर की प्रतिष्ठा, सोनभद्र नदी, विश्वामित्र जी का शांतिमय आश्रम, भृगुवंशी ऋषि शुक्राचार्य का स्थान, उत्तर में जनकपुर और बेतिया के पास चंपारण्य, पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य का जन्म स्थान आदि को रेखांकित करते हुए बिहार के सांस्कृतिक पक्ष को उद्घाटित करते हैं। वे सिख धर्म के 10वें आचार्य श्री गुरु गोविंदसिंह का जन्म स्थान बिहार के श्रीपटना साहिब का भी उल्लेख करते हैं। इसी तरह बंगाल प्रांत के श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने बिहार आकर श्री विष्णु पाद के दर्शन किए और उनमें कृष्ण भक्ति का उदय हुआ, का उल्लेख करते हैं। इस निबंध से स्पष्ट है कि वे भारत की प्राचीन गरिमामयी संस्कृति के प्रति उल्लासित हैं। परंतु उनका सबसे अधिक विरोध धर्म में पाखंड के मिश्रण के प्रति था। उन्होंने नवभक्तमाल की रचना की। जिसमें 109 भक्तों पर पद हैं। श्री नानक, गुरु गोविंद सिंह, श्री रणजीत सिंह, बिहारी, श्री दादू राम, श्री रसखान श्री नाभा,श्री गंगाबाई आदि हैं। उदाहरण के लिए कुछ भक्तों के प्रति काव्य पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं। जिसे इन भक्त कवियों और उनके कार्य के प्रति गोस्वामी जी का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाएगा:

श्री नानक   नानक नाम सांचो किया कलि बूड़त जग राख लिया।
वेदि वंश विख्यात पंचनद पावन कीनो।
हिंदू तुरक तमाम नाम अमृत कों दीनो।
मक्का मजहब द ई फिराय फिर की लोचहुं दिस।[126]

श्री रणजीत सिंह रणजीत सिंह ब्रज इंद्रगढ़ रामकृष्ण रक्षा करी।
जुरे फिरंगीआय भरतपुर नगरी घेरी।
काल यवन मधुपुरी मनो नारद की प्रेरी।
हल मूसल। धर रामचक्र लौ त्रिभुवन नायक। [127]

श्री रसखान कभी कौन मिठाई का सके श्रीनाथ साथ
रसखान की दिल्ली नगर निवास
वसा वंश विभाकर चित्र देख मन हारो भारोपण प्रेम सुधाकर।
श्री गोवर्धन आय जबै दर्स न नहीं पाये।
टेढ़े-मेढ़े वचन रचन निर्भय ह्वै गाये।
तब आप आय सुमनाय कर सुश्रुषा मेहमान की।[128]

गोस्वामी जी की 'मेरी यमलोक यात्रा' व्यंग्य रचना का सुधीर चंद्र ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है। एक व्यक्ति घूंस आदि दकर अपने कुत्ते के साथ यमलोक पहुँच जाता है और तर्क देता है कि गाय से जब वैतरिणी पार की जा सकती है,तो बैल से क्यों नहीं और जब बैल से की जा सकती है तो कुत्ते से क्यों नहीं। इस व्यंग्य रचना में 28 नर्कों और उनमें रहनेवालों का वर्णन दिया है। इनमें सातवां नर्क ''ऐसे पाखंडी धर्म के अनुयायियों से भरा है जिन्होंने वेद मार्ग छोड़ दिया है।आजकल तो इस नरक की बड़ी उन्नति थी, इतने पाखंडी इकट्ठे हो गए हैं कि उन्हें खींचते खींचते यमदूत हारे जाते हैं। आजकल के बहुत से इनलाइटेंड महाशय आदि इस नरक के प्रधान पात्रथे।''[129]

स्पष्ट है कि राधा चरण गोस्वामी अन्य साहित्यकारों की तरह धार्मिक पाखंड के कट्टर विरोधी थे। वृंदावन के मंदिर के प्रबंधन में रहते हुए भारतीय धर्म साधना एवं दर्शन को गौरवशाली अतीत के प्रति श्रद्धा में कोई कमी नहीं रखते थे।

संदर्भ

1. वसुधा डालमिया, हिंदू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण, पृष्ठ 323
2. के.एन. पाणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, पृष्ठ 53
3. वसुधा डालमिया, हिंदू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण, पृ.324
4. वही, पृष्ठ 325
5. सुशोभन सरकार, बंगला नवजागरण से उद्धृत, पृष्ठ 67
6. वही, पृष्ठ 65
7. वसुधा डालमिया, हिंदू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण, पृष्ठ 356
8. वही, पृष्ठ 357
9. वही, पृष्ठ 358
10. वही, पृष्ठ 359
11. श्री अरविंद, भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ 323
12. वही, पृष्ठ 43–44
13. महीपतराम ग्रंथावली खंडः1,संपादन रमेश म. शुक्ल पृष्ठ 236 37
14. वही, पृष्ठ 331
15. वही, पृष्ठ 280 –281
16. वही, पृष्ठ 84
17. नवल ग्रंथावली खंड 2 सं. रमेशम. शुक्ल पृ. 117
18. नर्मगद्य खंडः 2 सं. रमेश म. शुक्ल, पृष्ठ 403
19. वही, पृष्ठ 408
20. वही, पृष्ठ 410–411
21. वही, पृष्ठ 387
22. वही, पृष्ठ 384
23. वही, पृष्ठ 56
24. वही, पृष्ठ 59
25. वही, पृष्ठ 387
26. वही, पृष्ठ 394–395
27. रमेश म. शुक्ल धर्मविचार सं. पृष्ठ 87–88
28. वही, पृष्ठ 88
29. 28 नर्मगद्य खंड 2, पृष्ठ 300– 301
30. वही,पृष्ठ 316
31. वही, पृष्ठ 338

32. नर्म कविता खंड 3 पृष्ठ 73
33. वही, पृष्ठ 99
34. वही, पृष्ठ 96
35. निबंधमाला, पृष्ठ 55
36. वही, पृष्ठ 73
37. वही, पृष्ठ 193
38. महाराज लाइवलनो बड़ो मुकदमो, वही, पृष्ठ
39. वही, पृष्ठ 3
40. महीपतराम ग्रंथावली खंड 1, पृ. 135–136
41. म. न. द्विवेदी साहित्य श्रेणी 5, सं. धीरुभाई ठाकर, पृष्ठ 17
42. संपादकीय, वही, पृष्ठ 10
43. वही, पृष्ठ 103– 104
44. वही, पृष्ठ 249
45. वही, पृष्ठ 250
46. वही, पृष्ठ 197
47. वही, पृष्ठ 198
48. वही, पृष्ठ 418–419
49. वही, पृष्ठ 422
50. वही, पृष्ठ 447–449
51. वही, पृष्ठ 439
52. वही, पृष्ठ 227–228
53. नवजागरणकालीन भारतीय गुजराती साहित्य, सं. महावीर सिंह चौहान, पृष्ठ 49
54. सरस्वतीचंद्र खंड 1 पृष्ठ 227
55. वही, पृष्ठ 245
56. वही, पृष्ठ 246
57. रमणलाल जोशी, गुजराती साहित्य नो इतिहास ग्रंथ–3, पृष्ठ 239
58. गुजराती कथा विश्व, पृष्ठ 42
59. भद्रंभद्र, पृष्ठ 21
60. वही, पृष्ठ 39
61. वही, पृष्ठ 297–298
62. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली–पांच, संपादक ओम प्रकाश सिंह पृष्ठ 7–11
63. वही, पृष्ठ 139
64. वही, पृष्ठ 26

65. वही, पृष्ठ 37
66. वही, पृष्ठ 100
67. वही, प्रश्न 93
68. वही, पृष्ठ 113
69. वही, पृष्ठ 139
70. वही, पृष्ठ 114
71. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली–पृ. 62
72. वही, पृष्ठ 63
73. वही, पृष्ठ 64
74. वही, पृष्ठ 65
75. वही, एक पृष्ठ 70
76. वही, पृष्ठ 71
77. वही, पृष्ठ 95
78. वही, पृष्ठ 118 119
79. वही, पृष्ठ 290
80. पृष्ठ 292
81. वही, पृष्ठ 139 40
82. पृष्ठ, 140
83. वही, पृष्ठ 70
84. बालकृष्ण भट्ट रचनावली संपादक समीर कुमार पाठक खंड 2, पृष्ठ 283
85. वही, पृष्ठ 283
86. वही, पृष्ठ 285
87. बालकृष्ण भट्ट रचनावली खंड एक, पृष्ठ 156
88. बालकृष्ण भट्ट रचनावली खंड 4, पृष्ठ 377
89. रचनावली खंड दो, पृष्ठ 177
90. खंड तीन, पृष्ठ 157
91. वही, पृष्ठ 157–58
92. खंड 2, पृष्ठ 343
93. खंड 2, पृष्ठ 345
94. खंड दो, पृष्ठ 352
95. खंड एक, पृष्ठ 260
96. खंड तीन, पृष्ठ 53
97. खंड 3, पृष्ठ 55

98. खंड 3, पृष्ठ 58
99. खंड 3 पृष्ठ 234 35
100. खंड एक, पृष्ठ 105
101. खंड 2, पृष्ठ 99
102. खंड दो, पृष्ठ 358
103. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली दो, पृष्ठ 177
104. वही, पृष्ठ 178
105. नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र से उद्धृत, पृष्ठ 248
106. उद्धृत, पृष्ठ 257
107. रचनावली-2, पृ. 49
108. वही, पृष्ठ 249
109. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली खंड दो, पृष्ठ 184-85
110. वही, पृष्ठ 185
111. ग्रंथावली, पृष्ठ 69
112. वही, पृष्ठ 69
113. वही, पृष्ठ 69
114. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली खंड दो, पृष्ठ 179
115. वही, पृष्ठ 247
116. ग्रंथावली, 295-96
117. ग्रंथावली, पृष्ठ 389
118. नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र से उद्धृत, पृष्ठ 258
119. वही, पृष्ठ 23
120. वही, पृष्ठ 23
121. राधाचरण गोस्वामी, संपादन: कर्मेंद्र शिशिर, विदेश यात्रा विचार हिंदी नवजागरण:, पृष्ठ 257-58
122. आर्य समाज, वही पृष्ठ 293
123. वही, पृष्ठ 291-92
124. वही, पृष्ठ 292
125. वही, पृष्ठ 292
126. वही, पृष्ठ 151
127. वही, पृष्ठ 152
128. वही, पृष्ठ 154
129. वही, पृष्ठ 53-54

अध्याय-तीन

समाज सुधार

भारत के समाज जीवन में व्याप्त कुरीतियों पर 19वीं सदी के साहित्यकारों-पत्रकारों ने गंभीरता से विचार ही नहीं किया, अपने-अपने क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक रूप से उनके निवारण का प्रयास भी किया था। यह सुधार वृत्ति अधिकतर संवादात्मक और समझाने की शैली में थी। इनका स्वर साथ चलकर मार्ग निर्देशित करने का रहा। अपनी अपनी भाषा-बोली का उपयोग करते हुए रूढ़ियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त समाज को निकालने के लिए सहयोगकिया। यद्यपि बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमोत्तर प्रांत में यह सुधार प्रवृत्ति उच्च जाति के शिक्षित संस्कारित वर्ग द्वारा की गई थी, इसलिए मुंबई प्रेसिडेंसी में महात्मा फुले के सुधार कार्यों का उल्लेख तत्कालीन समाज सुधारको ंके दस्तावेजों में नहीं मिलता, जबकि समाज सुधार और शिक्षा की क्षेत्र में उनके प्रयासों का ऐतिहासिक महत्त्व है। जाति और धर्म की बद्धता के कारण समाज सुधार का यह आंदोलन एक सीमित वर्ग की समस्याओं पर ही केंद्रित रहा। समाज जीवन में सामाजिक कुरीतियों के बारे में सुधार के प्रयासों को 'कास्ट डिसेबिलिटीज रिमूवल एक्ट' (1850) से भी सहायता मिली। इसने सभी जातियों को समान मानने का कानूनी अधिकार प्रदान किया। बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, तंत्र मंत्र में आस्था, विदेश यात्रा निषेध आदि को धर्म का संबल मिला हुआ था। अधिकतर सुधारक धर्म के प्रति आस्था और विश्वास रखते हुए भी समाज में पैठी कुरीतियों से निकालने का मार्ग दिखा रहे थे।

गुजराती

गुजरात में इसका प्रारंभ दुर्गाराम मंछाराम दवे से हुआ जो सूरत की स्कूल में शिक्षक थे। इसलिए उन्हें दुर्गाराम मेहता के नाम से जाना जाता है। उन्होंने

अंग्रेजी शिक्षा नहीं ली थी। पर मुंबई में कुछ वर्षों के निवास से संभवत: उनमें ऐसा विवेक जागृत हुआ होगा; लेकिन उनकी सजगता भी इसका बड़ा कारण रही थी। सन 1839 में पत्नी के निधन के बाद उन्हें विधवा की दुख और वेदना का परोक्ष अनुभव हुआ। इसलिए वे सूरत में विधवाविवाह के पक्ष में भाषण देने लगे। उनकी वाकपटुता का लोगों पर प्रभाव पड़ता था। मथुरी नामक एक डुंगरपुरी विधवा उनसे विवाह करने के लिए तैयार हो गई। इससे नागर जाति में खलबली मच गई। नागरों ने जीवणराम गोर को उसकी कन्या से दुर्गादास मेहता का विवाह करने को राजी कर लिया। गुजरात के समाज जीवन में सुधारकों और परंपरावादियों के बीच के विवाद की यह महत्त्वपूर्ण घटना है। कन्या के पिता ने विवाह के समय यह शर्त रखी कि दुर्गाराम विवाह के बाद विधवा विवाह पर सार्वजनिक रूप से नहीं बोलेंगे।[1]

नर्मदाशंकर का समाज के नीति–नियमों का निरीक्षण अधिक तीक्ष्ण था। प्रारंभ से ही जहाँ जहाँ विसंगति दिखाई देती, वे विरोध करते थे। उनकी नागर जाति में दो वर्ग बन गए थे। नागर गृहस्थ और नागर ब्राह्मण। नागर ब्राह्मणों की स्त्रियों को जाति भोज में चोली के बिना एक वस्त्र में और गृहस्थ वर्ग की स्त्रियों को चोली पहनकर शामिल होने का विधान था। नर्मद को यह उचित नहीं लगा। उन्होंने अपने परिवार और अन्य स्त्रियों को चोली पहनकर भोज में भेजा। ब्राह्मण इससे कुपित हुए परंतु कुछ बोल नहीं सके। अपनी आत्मकथा 'मारी हकीकत' में युवा नर्मद ने इस प्रसंग पर प्रतिक्रिया दी थी। ''एक जाति की स्त्रियाँ साथ बैठकर भोजन लेती हैं। उनमें एक वर्ग पहने और दूसरा न पहने, यह तो सहन नहीं किया जा सकता। इस छुआछूत के कारण नागर ब्राह्मण की स्त्रियाँ चोली नहीं पहनती हों तो गृहस्थनियों को भी नहीं पहननी चाहिए। जब गृहस्थ पहने तो उनके साथ बैठकर भोजन लेतीं नागर ब्राह्मण स्त्रियाँ क्यों न पहनें? क्या वे स्त्रियाँ गृहस्थ स्त्रियों की दासी हैं? क्या चोली पहने बिना खुली जगह में भोजन लेने बैठना क्या उच्च जाति की स्त्रियों में विवेक नहीं है।''[2] समाज सुधार के कार्य में पूरे जोर से सक्रिय नर्मद को चाणोद में एक अनुभव हुआ। वहाँ उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने घर में आगंतुकों को बुलाकर जार कर्म करती थीं। एक स्त्री उन्हें अपने घर ले जाकर बेटी और बहू से परिचित करवाती है और संकेत में बताती है कि यदि यहाँ रुके होते तो हम सेवा करते। फिर कभी आओ तो हमारे यहाँ ही रहना।[3] चाणोद से डभोई लौटते हुए नर्मद इस बारे में सोचते हैं।

''क्या सुधार शहरों तक की सीमित है, गाँवों तक नहीं पहुँचा। यह बेचारे कब सुधरेंगे। खाने-पीने और कपड़े पहनने से सुधार हो गया, ऐसा सुधारक वर्ग के लोग समझते हैं। वे गरीब और अज्ञानी के साथ बैठने में शर्माते हैं। वे बाहर जिलों में घूमते नहीं। फिर उनकी बड़ी-बड़ी बातें किसी काम कीं ?''[4] करसनदास मूलजी ने अपने विद्यार्थी काल में देशाटन की महत्त्व पर लेख लिखा था जिसके कारण उन्हें चाची ने घर से निकाल दिया था। मुंबई में बाहर रहकर शिक्षा के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा था। ये युवा सुधारक विसंगतियों के कारणों के बारे में न जानते हुए भी परिणाम की चिंता किए बिना विरोध प्रकट करते थे। लेकिन सुधारकों के इस छोटे वर्ग का प्रभाव गुजराती शिक्षित समाज पर विशेष रूप से पड़ा।

नर्मदाशंकर

नर्मदाशंकर दायित्वशील साहित्यकार थे। सत्य निष्ठा और निर्भीकता जैसे गुणों के कारण उनके साहित्य की विशेष ग्रहणशीलता थी। गुजरात की उच्च जातियों में बालविवाह का प्रचलन था। नर्मद और उनके समकालीन साहित्यकारों का भी बालविवाह हुआ था, लेकिन लगभग सभी ने बालविवाह निषेध और विधवा विवाह समर्थन में सबसे अधिक लिखा। इसके अतिरिक्त देशाटन पर प्रतिबंध, जाति भोज, विवाह में अतिशय दिखावा-खर्च, मरण भोज और छाती पीटने जैसी कुरीतियों का विरोध किया। हिंदू समाज में कन्या के रजस्वला होने से पहले विवाह करने की परंपरा थी। यदि रजस्वला होनेके बाद कन्या का विवाह हो तो पिता के नरक जाने का विधान बताने से भारतीय समाज में इस कुरीति ने जड़ें जमा ली थीं। इससे अनेक कुरीतियों का जन्म हुआ। छोटी आयु में बच्चों की मृत्यु हो जाने और कन्याओं के पुनर्विवाह का चलन न होने से विधवा जीवन का दारुण दुख बालिकाओं को उठाना पड़ता था। सबसे अधिक अनाचार इसके कारण फैलता था। लड़कों का छोटी उम्र में विवाह होने से अशिक्षा, बुद्धि और शरीर परिपक्व न होने से उनकी वृत्ति और सोच पर भी प्रभाव पड़ता था। यदि किसी रोग सेकन्या के चेहरे या अन्य अंग में विकार आ जाता तो पत्नी से विकर्षण वेश्यागमन का कारण बनता। नर्मद ने बालविवाह में प्रेम के विकसित न होने से आने वाले विकारों पर लिखा। 'बचपन में विवाह होने पर यदि वर की मृत्यु हो जाए तो पुनर्विवाह का चलन न होने से, उसकी बहू अन्य किसी से जुड़ नहीं

पाती। इस कारण जीवित रहे तब तक वैधव्य का असह्य दुख सहन करना पड़ता है। अनुचित संगति और अशिक्षित होने के कारण अनीति कर्म की ओर भी चली जाती हैं। बचपन में विवाहित जोड़ों में सहज प्रीति का विकास नहीं हो पाता, तो कई लड़के अपने माता–पिता को दोषी मानते हैं।'[5] नर्मद बालविवाह को परिस्थितियों के अनुसार शास्त्रों के विधान में परिवर्तन के प्रमाण देते हैं। ''पुराण शास्त्र में 16 वर्ष की सीमा दी है। स्त्रियाँ जब 16 की होकर जवानी में स्वयंवर से विवाह करती थीं तो क्या 16 वर्ष से पहले कच्ची उम्र में? मनुस्मृति कहती है कि आषोडशाद्बाला 16 वर्ष तक तो बालिका कही जाती है। पुरुष के लिए कहा है कि 12 वर्ष विद्याभ्यास करना तो उसे 20 वर्ष पहले विवाह करने की बात कौन कहेगा? लोक को अनुकूल आए उसी का नाम शास्त्र है। अलग–अलग ऋषि भिन्न–भिन्न मत रखते थे और किसी काल में किसी स्मृति की स्वीकृत थी। और रूढ़ि पहले से नहीं थी, यह भी नहीं कहा जा सकता।''[6]

विधवाओं की करुण स्थिति के अनुभव के कारण विधवाविवाह के पक्ष में उनकी वाणी एवं शब्द सबसे अधिक वेधक और निर्द्वंद्व हैं। उन्होंने पुनर्विवाह के बारे में 5 अक्टूबर 1960 को भाषण दिया था जिसमें डेढ़ हजार लोग उपस्थित थे। उन्होंने शास्त्रों एवं स्मृतियों के उदाहरण देकर विधवाविवाह को शास्त्र सम्मत प्रमाणित किया था। रामचंद्र ने रावण की पत्नी मंदोदरी का विभीषण से विवाह, इंद्राणियों का नए–नए इंद्र से विवाह के उदाहरण देकर पराशर स्मृति के श्लोक को उद्धृत किया जिसे कलयुग में विशेष मान्यता प्राप्त थी।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥[7]

इसके अनुसार इन पाँच स्थितियों में स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है। उन्होंने विरमित्रोदय के मयूख का श्लोक उद्धृत किया। शास्त्र के अनुसार निर्णय लेने में विवेक बुद्धि का भी उपयोग करना चाहिए। अर्थात देशकाल स्थिति देखकर जो शास्त्र उपयुक्त लगे और पाप अटके, इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ऐसा न करने से धर्म की हानि होती है।

केवल शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णय।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानि प्रजायते॥[8]

नर्मद यह तर्क देते हैं कि हिंदू धर्म ग्रंथों में प्रायश्चित का विधान होता है। यदि पुनर्विवाह से दोष होता हो तो उसके प्रायश्चित का विधान शास्त्रों में होना

चाहिए।[9] इस रूढ़ि को दूर करने में इन सुधारकों की समाज चिंता और देश चिंता की भावना थी। विधवाविवाह न होने से कई कुल नष्ट हो जाते हैं। कई पुरुष अविवाहित मर जाते हैं। उन्होंने गृहस्थों को समझाते हुए विधवाओं की स्थिति सुधारने का आह्वान किया। यदि हम कसाई हो तो ऐसा नहीं करें। कसाई अच्छा है कि वह एक झटके में पशु की जान ले लेता है।[10]

नर्मद के प्रकृति और शौर्य संबंधित काव्य प्रभावशाली हैं। उन्होंने समाज सुधार पर भी काव्यलिखे हैं लेकिन वे अभिधात्मक अधिक हैं। विधवा विलाप, बाल विधवा का रुदन, विधवा का ससुराल में दुख, विधवा की पराधीनता, विधवा का पश्चाताप, एक विधवा का दूसरी विधवा को दिया सुझाव, घर संसार की रीति आदि कविताएँ उपदेशात्मक हैं। 'हिंदुओंनी पड़ती'; हिंदुओं की अधोगतिद्ध काव्य महत्त्वपूर्ण है। नर्मद को हिंदू समाज में धर्म, समाज, नीति और राज्य में सार्वत्रिक विनिपात का दुःख था। परंतु विषादग्रस्त होकर भी वे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं बने। वे हिंदू समाज को उत्कर्षगामी बनाने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम देते हैं। इस काव्य का मुख्य रस करुण नहीं, वीर है। नर्मद के लिए करुण विषाद का प्रेरक नहीं, उत्साह का द्योतक है।[11] इस काव्य के तीन भाग हैं। पहले भाग में विद्या, धर्म, रूढ़ि, बहम,देशी रजवाड़े, परदेसी राज्य, नीति आज विविध क्षेत्र में समाज के विघटन को दर्शाया है। दूसरे खंड में प्रेम शौर्य की महिमा का वर्णन करते हुए हिंदुत्व की रक्षा के लिए संघर्ष करने को प्रेरित किया है और तीसरे भाग में यूरोप अमेरिका की प्रजा द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किए प्रयासों का अनुसरण करने का आह्वान है। रा. वि. पाठक के अनुसार इस काव्य में सुधार का समस्त कार्यक्रम समाहित हो जाता है। यह काव्य इंगित करता है कि सुधार न होने का एक कारण अज्ञान तो है ही, परंतु उससे भी अधिक स्वार्थ, जड़ता, निरुत्साह, भय और शर्म आदि हैं।[12] इस काव्य में एकजुट होकर भारतीयों द्वारा लड़े ऐतिहासिक छह युद्धों–पोरस–सिकंदर, भीमदेव–महमूद, पृथ्वीराज चौहान–मोहम्मद गौरी, सदाशिव भाऊ–मुसलमान, रणजीत सिंह–अंग्रेज, तात्या टोपे–अंग्रेज का वर्णन है। काव्य धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए सिर्फ उमंग और उत्साह ही नहीं दिखाता, इतिहास और वर्तमान में आवाजाही करता हुआ परिवर्तन की आकांक्षा प्रकट करता है।

''व्हम–यवन साथ, सुधारित्य लड़े छे;
भर्त खंडमाँ जुद्ध, कहूँ चोमेर मचे छे.

व्हेमी बहु गुजरात, तहाँ सूधारा पक्षी;
सेनानीमाँ एक, कवी नर्मद छे लक्षी.
प्रेम शौर्यमाँ मग्न, हाल कडखेद बन्यो छे;
झंपलाववा रणे, वाट ते जोई रह्यो छे.
दाखववाने हाथ, नथी रणरंगभुमी को;
देश-समय-जनरंग, जोउ छुं,मूळे फीको.
नथी सेन तैयार, एक पण वाते हमणां;
नथी प्रेम ने नेम, शौर्यनां तो छे समणां.
तो पछि होए केम, भलां हिंमत ने साहस?
एम रडूं छूं हाल, लडया वण होए शो जस।?''[13]

(बहम-यवन के साथ सुधारादित्य लड़ रहा है। भारत खंड में चारों ओर युद्ध मचा है। गुजरात बहुत बहमी है, यहाँ सुधार का पक्षधर एक सेनानी कवि नर्मद है। अभी वह प्रेम-शौर्यगान में मग्न चारण बना है। युद्ध में कूदने की प्रतीक्षा कर रहा है। अभी रण-रंगभूमि में कोई हाथ पकड़ने वाला नहीं है। देश-काल-जन का रंग सब फीका दिखाई दे रहा है। अभी किसी बात पर सेना तैयार नहीं है। न प्रेम है, न नीति, शौर्य के तो सपने हैं। ऐसे में भला कैसे हिम्मत और साहस हो। इसलिए रो रहा हूँ क्योंकि लड़ाई बिना कैसे यश मिलेगा?)

नर्मद का 'तुलजी-वैधव्यचित्र' (1863) नाटक बालविवाह और विधवा जीवन की करुणता को दर्शाते हुए रुढ़िग्रस्त समाज मेंयौन शोषण कीश्रृंखला को उघाड़ता है। भवाई शैली में रंगला (सूत्रधार/विदूषक) के माध्यम से विसंगतियों पर टिप्पणी करते हुए हास्य-करुण की युति बनाई है। विदूषक कहता है, 'हे हिंदुओ! बालपन में क्यों विवाह कर देते हो? तुम पुनर्विवाह करते नहीं हो। इस बेचारी का कैसे जन्म बीतेगा।' तुलजी पति की मृत्यु के आघात से बेहोश हो जाती है। माता और अन्य स्त्रियाँ छाती पीटती हैं। दासी (नौकरानी) अंबा समझाती है। तुलजी को पति सुख नहीं मिलने का गहरा आघात है। अंबा द्वारा उसे जार कर्म मेंढकेल दिया जाता है। युवा रतनविजय गोर को बुलाकर अभिमंत्रित पानी और फिर उपचार के लिए घर बुलाता है औरजार कर्म का प्रारंभ हो जाता है। गर्भ रहने पर उपचार, फिर कथावाचक द्वारा गोपी-कृष्ण की कथा द्वारा काम विह्वल बनाकर शोषण। फिर से गर्भवती होने पर माता के साथ काशी यात्रा। वहाँ गर्भपात तथा मुंडन। लौटते हुए धर्मशाला में पठान से परिचय और उसके साथ

भागना। वह गहने लेकर पेड़ के पास सोता छोड़कर चला जाता है। इन सारे आघातों और दुखों का परिणाम बालविवाह और विधवा पुनर्विवाह न होना है। शर्म और लज्जावश माता-पिता जहर खा लेते हैं। लौटते पर यह सुनकर तुलजी कुएँ में कूद कर आत्महत्या कर लेती है। तुलजी के इस नारकीय जीवन का कारण बालविवाह और वैधव्य है। समाज में पुनर्विवाह की चलन के लिए अंत में समाज से नौ दोहों में विनती की जाती है।

''विधवा दुख दरसआवतूं, दरसाव्यूं नाटक्क;
आजे आ जे तिथि रे जुओ छो टकटक्क।
दीन हीन विनती करे, रड़ती विधवा नार;
ते सहु मन माँ लेने, करो दुख नीवार।
अर्थ अथथी नहि रच्युं, रच्युं सुधारा काज;
विधवा दुख साले बहुत, तुमने साले आज।
ईद्‌गर तम मनमाँ वसो, सज्जन समजो सार,
पुनर्विवाहनो चालते, सुख संपत देनार।''[14]

करसनदास मूलजी

करसनदासमूलजी दूसरे पत्रकार-साहित्यकार हैं जिन्होंने समाज सुधार को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया था। विद्यार्थी जीवन से ही सामाजिक कुरीतियों के बारे में निडरता से लिखा और उसके परिणामों की चिंता नहीं की। गुजरात में विदेश यात्रा पर उच्च जातियों में प्रतिबंध था।1853 में बुद्धिबर्धक सभा में देशाटन के लाभ के बारे में निबंध पढ़ा। देशाटन करने से नई-नई वस्तुओं-व्यक्तियों से परिचय होने से बुद्धि तेज होती है, जिज्ञासा संतुष्ट होती है और देश के दीवार की नींव पक्की होती है। उन्होंने देशवासियों को नींद से जगा कर बुद्धि की तलवार हाथ में लेने का आवाहन किया।[15] उन्होंने रास्तगोफ्तार में विधवाविवाह के समर्थन में निबंध लिखा। इसकी सूचना मिलने पर उनकी नानी (माता की चाची) ने करसनदास को घर से निकल दिया, लेकिन उन्होंने समझौता नहीं किया और अपने अध्ययन और आजीविका के लिए मुंबई में दूसरी जगह रहकर संघर्ष किया। पारसी साप्ताहिक रास्तगोफ्तार में सुधारक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते लेख लिखें। 1855 में सर मंगलदास नभूभाई और अन्य हिंदू श्रेष्ठिवर्ग के सहयोग से सत्यप्रकाश पत्रिका का प्रारंभ किया। उन्होंने समाज में

फैली कुरीतियों, कन्या विक्रय, मरण भोज, नवजात कन्या की हत्या (दूध पीती करना), स्त्री शिक्षा, स्त्री के अधिकार, बालकों को नीतिगत शिक्षा जैसे विषयों पर लिखा लेकिन बालविवाह और विधवा समस्या पर सबसे अधिक लेखनी चलाई। सामाजिक कुरीतियों पर उन्होंने कुछ काल्पनिक पात्रों का सृजन कर उनके संवादों से कुरीतियों से समाज को छुड़ाने के गंभीर प्रयास किये। पतराजीदास-समजूदास, फूलचंदसा-हरकचंदसा, विट्ठल-भांजा और नाथो, जंगलों और त्रीकमो, भावकीदास और विवेकदास जैसे पात्रों के बीच रोचक संवादों द्वारा उचित समाधान की ओर अग्रसर कराया। जाति भोज में जाति में प्रतिष्ठा के लिए कर्ज लेकर खर्च करने वालों को चेताया और समर्थ-संपन्न सेठों को सुझाव दिया कि जाति के अंधे-लंगड़े-लूले अनाथ लड़कों, लाचार विधवाओं को भोजन कराओ। एक दिन के मिष्ठान के स्थान पर उन्हें रोज सूखा रोटला खिलाना श्रेष्ठ बताते हैं।[16]

करसनदास ने बालकों को नीतिगत शिक्षा देने पर जोर दिया। बालविवाह और अशिक्षित परिवारों में बालकों को अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं मिलता, विशेष रूप से माता जो कार्य करती हैं, कन्याओं पर उसका ही प्रभाव पड़ता है। यदि माता सद्‌गुणी और सद्‌आचरण की हो तो वह अपने बालक को नीति की शिक्षा दे सकती है। माता शिक्षित हो तो अपने बच्चों का सही रूप से लालन पालन कर सकती है। वे लिखते हैं कि अशिक्षित माताएँ दिन में छप्पन बार बेटी को रांड का संबोधन करती हो तो फिर कहाँ से कन्याओं में संस्कार आएँगे। [17] बचपन में सगाई से भी अनेक अनिष्ट फैलते हैं। जन्म के 6 महीने, 12 महीने, 2-5 वर्ष में सगाई कर दी जाती है। यदि नहीं करें तो जाति में बदनामी होती है। यदि दुर्भाग्य से किसी रोग से कुरूप हो जाए तो एक दूसरे पर प्रेम विकसित नहीं हो पाता। लड़कों का विद्या अध्ययन न हो पाने के कारण भावी प्रजा कमजोर और अपरिपक्व होती है।[18] 'बाप दादा का चलन' निबंध सुधार के बारे में लोक धारणा की भ्रांति को उजागर करता है। मान्यता थी कि अंग्रेजो के चाल-चलन को समाज में अमल में लाने को सुधार माना जाता है। वे ऐतिहासिक तथ्य देकर लिखते हैं कि राजा विक्रमादित्य के समय में भारत और ब्रिटेन के समाज में बहुत अंतर था। उस समय हमारे यहाँ राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था सुदृढ़ थी। जबकि ब्रिटेन का समाज जंगलों में विचरता था और वे जानवरों का शिकार करते एवं पेड़ों के पत्ते और फल खाकर पेट भरते थे। इससे निकलने के लिए वे अधिकतर अलग-अलग सभ्य देशों जैसे कि हिंदुस्तान, ईरान,मिश्र, ग्रीस, रोम

आदि देशों की अच्छी-अच्छी विधियों को चुनकर अपने समाज में गृहीत करते गए। वे समझते थे कि बुद्धि ही रूढ़ि का राजा है, परंतु हम लोग रूढ़ि को बुद्धि का राजा मान बैठे हैं। वे ब्रिटिश समाज के खुलेपन और अपने समाज की रूढ़िग्रस्तता के कारण अपनी हीन स्थिति होना बताते हैं। बाप दादाओं के चलन को न छोड़ने को विकास के लिए अवरोध मानते हैं।[19]

नर्मद के जदुनाथ जी के साथ विधवाविवाह के संवाद के समाचार को उन्होंने सत्यप्रकाश में निरंतर समर्थन दिया। विधवा विवाह को शास्त्रसम्मत बताते हुए शास्त्रों के उदाहरण दिए। महाराज लाइबल केस की विजय से सुधारकों का पक्ष प्रबल हो गया था। सत्यप्रकाश में विधवा विवाह और पुनर्विवाह पर निरंतर निबंधों-रचनाओं के परिणाम स्वरूप कई विधवाओं ने संपादक को अपने शोषण की कथा को बताया। एक उच्च परिवार की विधवा जड़ाव ने वैष्णव महाराज द्वारा यौन शोषण को 'एक युवा तवंगर विधवा स्त्री के जन्म चरित का विवरण' सत्यप्रकाश में प्रकाशित किया।[20] इस तरह करसनदास और उनके साथी सुधारक विरोध के लिए विरोध नहीं करते थे, वे विकृतियों का अध्ययन करके समाज को सरल भाषा में दिशा निर्देश करते थे। महीपतराम नीलकंठ ने करसनदास के समाज सुधार कार्य को गौरवान्वित करते हुए लिखा है, ''इस तोप से निकले गोले बहम गढ़ और अनीति की दीवार पर लगने लगे। इससे जो मूर्ख और दुष्ट थे, वह कुपित हुए। उनका लेखन उत्सव भरा था। कारण बताकर हंसी करते हुए, सही बात पर भार देते हुए उन्हें सीख देते। कर्ज करके जाति भोज कराना, शान शौकत से वर घोड़ा निकालने की मूर्खता, गंदगी में अर्धनग्न बैठकर भोज लेने का चलन, होली पर दुष्टता, वैष्णव मंदिरों की अनीति जैसी अनेक कुरीतियों पर उन्होंने लिखा।[21]

नवलराम

नवलराम लक्ष्मीराम पंड्यामूल शिक्षक थे, उन्होंने 'गुजरात शालापत्र' का कई वर्षों तक संपादन किया। समाज सुधार में मध्यम मार्ग अपनाया। उनके विचारों में संतुलन, संयम और तार्किकता है, नर्मद की तरह उद्दामता नहीं। वे बाल विवाह को राक्षसी और जड़ों को खा जाने वाली दीमक के समान आर्य समाज का नाश करने वाला कार्य मानते हैं। उन्होंने विधवाओं की करुणस्थिति का संकेत अवश्य दिया है लेकिन इस पर अपेक्षाकृत कम लिखा है। गुजराती

उच्च समाज के विवाह प्रसंग में जाति भोज और बारात की धूमधाम के दिखावे की भी आलोचना की। 'जो स्वयं पाई की सब्जी नहीं खाता, भूखे आदमी के मुख में एक दाना नहीं डालता, अपने अकेले बेटे के बीमार पड़ने पर वैद्य को एक आना भी नहीं देता। वह मनुष्य किसी समय हजारों लोगों के उत्सव में और पुत्र की बारात चढ़ाने में अपने जन्म भर की कमाई लुटा देता है, इसे क्या कहें, यह मुझे नहीं सूझता। इतना ही कहूँगा कि उनका चित्त ठिकाने नहीं है। वह दीवाना है, पशु में जितनी विवेक बुद्धि होती है, उतनी भी उसमें नहीं रही। वह केवल रूढ़िवश हुआ जड़ पुतला है। उसमें कोई चेतना नहीं। जिंदगी में दो-चार प्रसंगों में मदहोश होकर घूमने के लिए सारी जिंदगी की दुख सहन करने जैसी दूसरी मूर्खता क्या होगी?''[22] नवलराम की इस शिष्ट और संयम भाषा में रूढ़ियों पर तीखा व्यंग है, जिसका प्रतिकार संभव नहीं था। नवलराम मानते थे कि वाणी में मिठास भरकर यदि अपनी बात कही जाएगी तो वह अधिक प्रभावक होगी। वे मानते हैं कि सुधारकों के लोक विरोधी शब्दों से समाज में परिवर्तन की क्षमता कम हो जाती है।[23] सरकार में शिक्षक का दायित्व उठाने के कारण उनकी वाणी में संयम तो है पर वह दायित्व में पीछे नहीं रहते। उन्होंने विद्वानों के चार धर्म माने क्योंकि शास्त्र में विद्वान सर्वत्र पूज्य माना गया है। 1. विद्यार्जन करते रहना 2. यथाशक्ति अपने ज्ञान को दूसरों को देना 3. सदाचरण रखना और 4. लोक प्रवाह में न खिंचकर अपने विचारों के अनुसार कार्य करना।[24] इस अंतिम धर्म के बारे में तत्कालीन विद्वानों के ढुलमुलपन को जानकर समय अनुकूल नहीं है,कहकर बचने वालों के पक्ष के विपरीत तर्क देते हैं। हिंदुस्तान के सभी सुधार धर्म के साथ जुड़े हैं और इन विचारों(विश्वासों) का उन्मूलन हिमालय पर्वत के उन्मूलन जैसा है। यह अकेले व्यक्ति से संभव नहीं है।लेकिन महान कार्य एक व्यक्ति से ही प्रारंभ होता है। ''बुद्ध, ईसा, इस्लाम धर्म के प्रवर्तक एक थे या अनेक? शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, कबीर प्रथम एक थे या अनेक? शिवाजी एक था या अनेक? एक गैलीलियो ने कितना किया है एक सुकरात ग्रीस में सुधार की पुकार कितनी विजय के साथ कर सका था?''[25]

उत्तर नर्मद के सुधारक व्यक्तित्व से सनातन धर्म के अनुयायी बन जाने पर माना जाने लगा कि गुजरात में सुधार कार्य शिथिल हुआ है। नर्मद के 'सुधार और सुधारवाले (करने वाले)' लेख के एक वर्ष बाद नवलराम 'सुधाराना इतिहास रूप विवेचन' (1881) (An Historical Review of Reform) लेख में इस

विचार का खंडन करते हैं कि सुधार कार्य मंद पड़ा है। ''करसनदास मर गए, कविराज (नर्मद) बदल गए और महीपतराम डर गए, तो भी क्या हुआ? सुधार की मूल शक्ति जीवित है कि नहीं, इस समय यही मात्र देखना है और हम देखते हैं कि वह पहले जैसे ही पूरे जोश में है।''[26] नवलराम सुधार में अंग्रेजी शिक्षा को विशेष महत्त्व देते हैं। इस धारणा के पीछे उनके तर्क हैं। सरकार, सभाएँ और सुधारक सुधार करने वाले नहीं हैं, बल्कि अंग्रेजी शिक्षा सुधार का कारण है। अंग्रेज सरकार शिक्षा देती है परंतु वह राजनीतिक कारणों से धर्म आदि से अलग रही है। वे मानते हैं कि सुधार लोक-समाज द्वारा होता है, सरकार द्वारा नहीं।परंतु अंग्रेजी शिक्षा से ज्ञान और वृत्तियाँ उत्पन्न हुई, वे ही सुधार का मूल कारण हैं और इससे सुधारक उत्पन्न हुए हैं। वे सुधारकों के महत्त्व को कम नहीं करते। उनका तर्क है कि अंग्रेजी शिक्षा सुधार की जीवनी शक्ति है। वह अभी जीवन्तऔर पुरजोश में है। सुधार की जीवनी शक्ति जीवंत है फिर वह मर गया है,यह कहना आँखों में धूल झोंकने जैसा है।''[27]

नवलराम बार-बार रेखांकित करते हैं कि निर्भागी भरत खंड को पुनर्जीवन देने वाली कोई शक्ति है तो अंग्रेजी शिक्षा है। भारतीय समाज को संसार का सामान्य ज्ञान बुद्धिवाद, समता भाव (Equality of men), स्वतंत्रता, राग वृत्ति और उद्योग प्रतीति अंग्रेजी शिक्षा से मिली है।[28] नवलराम तथ्यों के आधार पर तार्किक शैली मैं सुधार के लिए पारंपरिक शिक्षा के सामने अंग्रेजी शिक्षा और ज्ञान का महत्त्व स्वीकार करते हैं। रमेश म शुक्ल उनके प्रदान को रेखांकित करते हैं, ''नवलराम का समग्र विश्लेषण और निरूपण बौद्धिक, वस्तुपरक और व्यापक हेतु के लिए है। धर्म और सुधार को अलग करने के पीछे विरोध को शिथिल करने की समझदारी भी थी। विधवा पुनर्विवाह में आवेश उत्तेजना अधिक थी, परंतु धर्म के दृढ़ अनुबंध के कारण वे इस बारे में उदासीन रहे और बालविवाह के विषय में धर्म का अधिक दृढ़ विधान न होने के कारण वह इस बारे में अधिक सक्रिय होने की प्रवृत्ति का कारण मिल जाता है।''[29]

'बाललग्नबत्तीसी' में सरल भाषा में सुधारक वृत्ति के काव्य हैं। नवलराम का स्वर तीखा है। कुजोड़े का दुख, छोटे बालक के साथ युवा स्त्री के विवाह की करुणता, माता-पिता का बालविवाह करने का द्रोह जैसे विषय पर गरबीयाँ लिखीं। नवलराम कुरिवाजों को करुणता में हास्य का पुट देकर निरूपित करते हैं। कुजोड़ा का मुख्य दुख, अकलामणमाँ माँ-बापने ठपको, कुजोड़ा की फजेती

जैसी गरबीओं में हास्य में छिपी करुणता कवि की संवेदना एवं कंसर्न का परिचय देती है। एक गरबी में प्रत्येक प्राणी का धर्म अपने बालक का उचित लालन पालन करना होता है, लेकिन माता–पिता अपने बालक से द्रोह करके उसका बालविवाह कर देते हैं, उन्हें बाल हत्यारा कहा है।[30]

एक गरबी में कन्या भाग्य के स्थान पर माँ–बाप को दोष देती है जिन्होंने उसका बालपन में विवाह करके कुएँ में डाल दिया है।

''बणुं बणुं रे हुं अबळा बाळा, चोगम फरता दवमाँरे;
कया जनमनांज वेररे वाळ्यां, थई माबाप आ भवमाँरे,
वांक करमनो हुं केमज काढुं, बोलशो माज नकामाँरे.
हाथे करी तमे दीवे नरखी, नांखि मने कूवामाँरे।''[31]

(चारों ओर दावाग्नि लगी है, मैं अबला बाल जल रही हूँ। इस जन्म में मेरे माता–पिता बनकर किस जन्म का बैर लिया है। यह बेकार बातें मत बोलो। मैं अपने कर्मों का दोष कैसे निकालूँ, जानबूझकर तुमने मुझे कुएँ में डाला है) इसी गरबी में आगे पंक्तियां आती हैं कि निर्दय निडर माता–पिता ने घोर अधर्म का कार्य किया है। नवलराम बालविवाह के दूषण को कुरिवाजों के अधीन माता–पिता को ही दोषी मानते हैं। एक गरबी में युवती अपने बाल पति का हास्य मिश्रित करुण स्थिति का वर्णन करती है। मैं अपने परणेतर (पति) को गोद में लेकर घूमती हूँ। मेरा पति पालने में झूलता है, मैं लोरी गाती हूँ। वह पाठशाला जाता है, मैं छोड़ने जाती हूँ।

भट्ट का ढोंग

भट्ट का ढोंग सुधार वृत्ति को केंद्र में रखकर लिखा नाटक है। इस त्रिअंकी नाटक का प्रारंभ भोला भट्ट और पत्नी शिवकोर के आपसी झगड़े से होता है। एक दूसरे से बदला लेने के संयोग बनते हैं। नवलराम ने इसमें तत्कालीन कुरिवाज कन्या विक्रय, स्त्री की दुर्दशा जैसी समस्याओं को गूंथ दिया है। 80 साल का नथ्थूसा युवा चंदा के रूप पर मोहित होकर विवाह करना चाहता है। चंदा की सगाई युवक आनंद के साथ हुई थी। उसका पिता झुमकासाह धन के लोभ में इस सगाई को तोड़ देता है और आँखों से कम दिखाई देते 80 वर्ष के नथ्थूसा के साथ विवाह करने के लिए चंदा को दूसरे गाँव लेकर जाता है। चंदा आनंद के साथ प्रेम संबंध में बँधी है इसलिए नथ्थूसा के सामने गूँगी का अभिनय करती

है। गाँव में उनके गूँगेपन को दूर करने के लिए वैद्य कीखोजमें फर्जी वैद्य के रूप में भोला भट्ट मिलता है। वृद्धविवाह, कन्या विक्रय, लड़की की अवदेशा जैसी सामाजिक कुरीतियों को हास्य का पुट देकर गूँथा गया है। भोला भट्ट चंदा और आनंद के प्रीत–संबंध को जानता है, तो उनका विवाह करने का वचन देकर स्वाँग रचता है। भट्ट का ढोंग सुधार का हेतुलक्षी हास्य प्रधान नाटक है। ढोंगी वैद्य के रूप में भोला भट्ट चंदा और आनंद का विवाह करवा देता है और वृद्ध नथ्थूसा ठगा रह जाता है। नवलराम संवादों द्वारा उसका मजाक बनवाते हैं। नथ्थूसा भाँग पीने जाता है। उसके और कलाल के संवाद में हास्य भी है और विवाह के लिए आतुर वृद्धों को बोध भी है।

नथ्थूसा चंदा को देखकर उन्माद में कहता है–"पर बात नहीं कराओ तो मेरी आँखों को स्वर्ग का सुख लेने दो।

हजाम–स्वर्ग के सिपाही रोज तुम्हारे दरवाजे दस्तक देते हैं उनके साथ जाओ।"[32] कटाक्ष के संयोजन से कुरीतियों को उद्घाटित कर दिया है।

मणीलाल द्विवेदी

मणीलाल द्विवेदी के समाज सुधार से संबंधित विचारों की केंद्र में धर्म है। वे बालविवाह के विरोधी थे और उसे स्वार्थी शास्त्रकारों के द्वारा संपोषित किया कहते हैं। उसे आयुष, विद्या, संतति और देश के लिए सबसे हानिकारक मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि बालविवाह करने वाले शायद ही 100 में से दो–तीन होंगे जो परिपूर्ण सुखी हों। विवाह क्या होता है, यह समझाने से पहले बच्चों का विवाह कर देना भयजनक है और उन्हें आजीवन महादुख के गड्ढे में डालने जैसा है। उनमें प्रेम संबंध समझने की शक्ति विकसित हो, उससे पहले विवाह कर देना, उनके पैर में कुल्हाड़ी मारने जैसा है। उन्होंने उम्र, ज्ञान और इच्छा के ही संतुलन से हुए विवाह को ही योग्य माना। जबकि बालविवाह में इसके लिए अवकाश नहीं है। संयोग–संतुलन का उन्होंने सुंदर विवेचन किया है। "दोनों की उम्र उचित हो, परंतु ज्ञान कम–अधिक हो अथवा पोषण के लिए, कमाने के लिए योग्य न हो तो इच्छा होने पर विवाह नहीं किया जा सकता। केवल इच्छा ही हो, परंतु उम्र नहीं हो या ज्ञान नहीं हो तो भी विवाह का परिणाम दुख के बिना दूसरा नहीं होता। कदाचित ज्ञान की न्यूनाधिकता चल सकती है, परंतु उम्र और इच्छा का विचार अवश्य करना चाहिए।"[34] परंपरावादी होते हुए भी वे

भारतीय समाज में प्रचलित बालविवाह के भी विरोधी थे। मणिलाल पुनर्विवाह या विधवाविवाह के समर्थक नहीं थे। इस बारे में समाज सुधारकों से उनके मतभेद थे। विवाह को 'पवित्र ग्रंथि' और उसमें 'प्रेम का दृढ़ बल' मानने का विचार विधवाविवाह के विरोध का कारण था। इस बारे में उनकी कटु आलोचना भी हुई पर उन्होंने तार्किक और शास्त्रबद्ध उत्तर दिया। 'गुजराती' मासिक पत्रिका के आठ अंकों में नारी प्रतिष्ठा संबंधित लेखों को 3 वर्षों के पुस्तिका रूप में प्रकाशित किया और इस बारे में निष्पक्ष और निराभिमानी आलोचना का स्वागत किया। उन पर सुधारवादियों ने जो आरोप लगाए, उनका संयमित उत्तर दिया। "आलोचक शंका करते हैं कि जिन छोटी बच्चियों का विवाह करवाया जाता है, वह प्रेम की अनुभूति कैसे कर सकेंगी? जिससे उनका पुनर्विवाह रोका जा सके। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि उन्होंने बालविवाह की स्पष्टना कही है।"[35] लेकिन पुनर्विवाह के विरोध में अपने तर्कों को और पुष्ट करते हैं। "प्रेम पोषित विवाह होने पर अर्थात प्रेम के अखंड बल की अनुभूति और उसे स्वीकारने के बाद पुनर्विवाह का विचार आए तो, वह पोषण विषयवासना आदि प्रेम की क्षति से उत्पन्न हुई स्वार्थ बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति से नहीं आ सकती। निरंतर विवाह की अवस्था में ही रहने का हेतु होता तो मैं पुनर्विवाह की आवश्यकता मानता, परंतु ऐसा नहीं है। अर्थात विवाह का अर्थ केवल प्रेम संबंध बिना दूसरा नहीं, इसलिए पुनर्विवाह होना, यह पशु वृत्ति को ही उत्तेजित करना है। ऐसा मानकर मैंने लिखा था कि पुनर्विवाह से पशु वृत्ति को उत्तेजन मिलता है। विवाह को यदि प्रेमजन्य मानो तो पुनर्विवाह का अवकाश नहीं है।"[36]

मणिलाल द्विवेदी के विचार परंपरावादी हैं। वे आर्य धर्म पोषित विवाह को आदर्श मानते हैं। गृहस्थ आश्रम, स्त्रीधर्म, स्त्री-पुरुषना समान हक, सुधारानुं धोरण, नवीन अने प्राचीन जैसे निबंधों में निहित विचार पारंपरिक धर्म के अनुसार हैं। स्त्री पुरुष के दायित्व में भेद, दोनों की शिक्षा में भेद संबंधी विचार समाज सुधारकों से विपरीत हैं। वे गुजरात के लोगों की प्रकृति को ऐतिहासिक परिपेक्ष में स्पष्ट करते हैं और उसका सर्वेक्षण करते हुए 700 वर्षों की पराधीनता को भी कारण मानते हैं।[37] उन्होंने आंतरिक सुधार पर बल दिया। मन, हृदय और चरित्र पर ध्यान केंद्रित करने के कारण तत्कालीन सुधारकों से विपरीत ध्रुव पर खड़े दिखाई देते हैं। समाज सुधारकों के जाति बंधन तोड़ने, स्त्री के समान अधिकार, व्यक्ति स्वातंर्त्य से सहमत नहीं थे, लेकिन उन्होंने स्त्री शिक्षा, विवाह

में चुनाव की वैयक्तिक स्वतंत्रता, परदेशगमन, जाति बंधनों का त्याग, बालविवाह एवं कन्या विक्रय जैसे सुधारों का समर्थन किया।[38]

वे आधुनिकता और परंपरा के बीच अंतर अवश्य करते हैं लेकिन उनके बीच में एक धरातल पर एक्य स्थापित करते हैं। आधुनिकता एक जोखिम भरी खोज, साहस और स्वतंत्रता का मार्ग है। रूढ़ि-परंपरा प्रमाद, नीरसता, स्वातंर्त्य भावना की अभाव के मार्ग हैं। आधुनिकता और सच्ची रूढ़ि परायणता के बीच का विरोध व्यक्तिगत पुरुषार्थ और प्रारब्धवाद के बीच विरोध है। ''नूतन प्राप्त करता है, सिद्ध करता है, उत्पन्न करता है। पुरातन पुष्ट करता है, संग्रहित करता है। वास्तव में पुरातन और नवीन के बीच कोई विरोध नहीं है। दोनों एक दूसरे में अंतर्हित आवश्यक गुण संपत्ति हैं। यदि दोनों परम परस्पर संयोजित नहीं हो तो संसार नहीं चल सकता। आधुनिकता और रूढ़ि परायणता, संप्राप्ति और संचय, योग-क्षेम के पूरक तत्व हैं।''[39] इस उद्दातता के बावजूद मणिलाल द्विवेदी में परंपराप्रियता विशेष थी। उनके अध्येता धीरूभाई ठाकर ने इसे सुधारक प्रवृत्ति के प्रति उनका पूर्वाग्रह माना। मालवारी द्वारा विधवाविवाह और सहवास बिल का विरोध तथा रुक्माबाई केस में उनके विचार परंपरावादी हैं।

ललिता दुःखदर्शक

रणछोड़भाई उदयराम दवे का ललितादुःखदर्शक (1866) सामाजिक यथार्थ को दर्शाने वाला पाँच अंकों का नाटक है। ललिता नामक सुशील युवती का विवाह चरित्रभ्रष्ट धनिक नंदन कुमार के साथ होता है। पहली बार ससुराल गई ललिता को पति की ओर से कोई प्रेम नहीं, प्रतारणा मिलती है। धनलोलुप मित्रछलदास द्वारा उसे गणिका प्रियंवदा की जाल में फसाया जाता है। तीनों ललिता को मारने की योजना बनाते हैं। असफल होकर पति द्वारा उसे मारपीट कर घर से निकाल दिया जाता है। ललिता मानव-शिकारियों के हाथ पड़ती है। पर्वतपुर के राजा से बचने के लिए नदी में कूद पड़ती है। मछुआरों द्वारा बचाए जाकर वेश्या प्रियंवदा की बहन चंद्रावली के शिकंजे में फसती है। वहाँ से निकलने पर कुंभाडी के जाल में फंसती है। संयोग से कुंभाडी को बाघ उठा ले जाता है। अंततः भटकते-भटकते अपने पिता के गाँव चंपानगरी आती है। पहले उसे भूत माना जाता है। वह हकीकत बताती है और आपबीती समाज के सामने काव्य में कहती है।

अरे क्या अपना दुख कहूँ;
सुनकर तुम्हारा दिल दुखी होगा।

काव्य में उपयुक्त घटनाओं का विवरण आता है और अंत में अपने साथ लाई कटार से आत्महत्या कर लेती है। सखी प्रभावती को पत्र दे जाती है जिसे वह उसके माता–पिता और समाज के सामने सुनाती है। यह उपदेश समाज के लिए है। पत्र पढ़कर प्रभावती बेहोश हो जाती है ललिता का अग्नि संस्कार होता है। अंत में लेखक देवनागरी लिपि स्मरण लेख देता है।

''ललित लक्षणवंतीजे, जगत सेठनी बाल,
त्रशि हिंदू चाल थी, कीधो तेणे काल।''[40]

इस नाटक ने मुंबई के गुजराती समाज पर व्यापक प्रभाव डाला था। मुंबई गुजराती नाटक मंडली ने बोरीबंदर में 1894 में गेइटी थिएटर में अनेक शो किए। 1877 में शिक्षकों की बनी गुजराती नाट्य मंडली ने ग्रांट रोड कॉर्नर पर इसकी अनेक प्रस्तुतियों की। इसके तत्कालीन प्रभाव के बारे में श्री चुन्नीलाल रामचंद्र शेलत ने लिखा है, ''गुजराती भाषा की किसी भी पुस्तक ने गुजराती सामाजिक मानस को अधिक से अधिक विह्वल कर डाला हो, इसकी गणना की जाए तो इसमेंललितादु:खदर्शक को अवश्य प्रथम स्थान मिलेगा। पिछली पच्चीसी से पहले की पच्चीसी में साधारण बस्ती वाले कस्बों में भी इस नाटक की कविताएँ दर्द भरी वाणी में बोली जाती थीं। इतना ही नहीं, इस समय में अधिकांश जो नाटक लिखे जाते और रंगभूमि पर खेले जाते, उनकी भी अपनी विषयवस्तु ललितादु:खदर्शक पर आधारित होती थी।''[41] रमणभाई नीलकंठ ने लोकप्रभाव को रेखांकित करते हुए बुद्धिप्रकाश में लिखा था कि इसे देखने लोगों की भीड़ उमड.ती थी। इसके नायक नंदन कुमार की कुपात्रता इतनी लोक प्रसिद्ध हुई कि मुंबई में गुजराती में यह संज्ञा मूर्खतावाचक और अधमतावाचक बन गई। एक वृद्धा ने अपनी पुत्री का विवाह तोड़ दिया, क्योंकि उसे होने वाला दामाद नंदन कुमार जैसा प्रतीत हुआ था।[42]

सरस्वतीचंद्र

गोवर्धनराम त्रिपाठी ने सरस्वतीचद्र में तीन पीढ़ियों के भूतकाल और वर्तमान स्थिति के चित्रण में कई सामाजिक प्रश्नों को समाहित किया है। उपन्यास में पारंपरिक समाज में संयुक्त परिवार और बालविवाह का चलन और उसके

सकारात्मक–नकारात्मक पक्ष का विनियोग है। उपन्यासकारए विद्याचतुर के पिता मानचतुर के संयुक्त परिवार के राग–द्वेष को गुणसुंदरी के निरीक्षण द्वारा प्रस्तुत करता है। दुखबा, विधवा सुंदरबा, बिगड़ेल पुत्र गानचतुर, गानचतुर के बड़े पुत्र की उम्र से बड़ी पत्नी मनोहरी की विडंबना को अभिव्यक्ति दी है। मानचतुर अंग्रेजों के दांपत्य सुख में खोये रहने में परिवार सुख से वंचित रहने का संकेत देकर भारतीय समाज के संयुक्त परिवार के सकारात्मक पक्ष का निर्देश करते हैं।[43] सरस्वतीचंद्र का मित्र चंद्रकांत भी संयुक्त परिवार के सकारात्मक पक्ष को बताता है और कुटुंब को एक किला कहता है, जहाँ असहाय वृद्ध और विकलांग सुरक्षित रहते हैं। कुटुंब के घर में मनुष्य एकदम निठल्ले नहीं बैठे रहते हैं। सभी अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार, बुद्धि के अनुसार परस्पर सेवा करते हैं और अनेक सेवकों का काम करते हैं। सही बात है कि बाहर के चाकरों पर अनेक अंकुश रहते हैं, वैसा कुटुंबियों पर नहीं रखा जा सकता, पर कुटुंबियों पर विश्वास रखा जा सकता है।........ इतना ही नहीं घर में कुटुंब हो तो वह एक प्रकार का किला है।''[44]

सरस्वतीचंद्र–कुमुद की सगाई और विमाता एवं पिता के आक्षेप से दुखी होकर सरस्वतीचंद्र का गृह त्याग एवं कुमुद के पिता को इसकी सूचना देकर योग्य पुरुष से कुमुद के विवाह का प्रस्ताव के माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन समाज में विवाह, पति–पत्नी की परस्पर प्रीति, स्त्री की स्थिति, कुसुम के विद्रोह और अविवाहित रहने एवं साध्वी बनने की धारणा द्वारा उपन्यासकार ने विवाह और संश्लेषित प्रेम संबंधका संकेत दिया है। शिक्षित सरस्वतीचंद्र का वाग्दान कुमुद से होता है। उनमें पत्रों के आदान–प्रदान होता है, वाग्दत्ता का फोटो घर में लगाता है। कुमुद भी होने वाले शिक्षित पति के साथ अधिक से अधिक अध्ययन करके अपने बुद्धि विवेक को विकसित करती है। लेकिन सरस्वतीचंद्र के गृह त्याग से स्थिति बदल जाती है। प्रमादधन के साथ विवाह का प्रस्ताव आने पर विद्याचतुर उससे कुमुद का विवाह कर देते हैं। समाज व्यवस्था में कुमुद इसे स्वीकार करती है। उपन्यासकार स्थान स्थान पर उसके मन के दुख और द्वंद्व का संकेत देता है:

''उम्र और शरीर में, इसी तरह विद्या, बुद्धि,चपलता, चतुराई और रसिकता में भी पति से तृप्त नहीं हो सकती। पति बड़ा है, यह नहीं मान सकती। हवा में मछली बिना पानी के तड़पती है, इस तरह विद्याविहीन घर में विद्याचतुर की

बालिका विलाप करती है।''[45] प्रमादधन का कृष्ण कालिका से अनैतिक संबंध स्पष्ट होने पर कुमुद का द्वंद्व और अधिक बढ़ जाता है। ''प्रमादधनमय बना हुआ जीवन सरस्वतीचंद्र हीन नहीं हो सका।''वह सोचती है कि सरस्वतीचंद्र की मुझ पर प्रीत नहीं होती तो घर–बार छोड़कर यहाँ क्यों आता। प्रेम के आधिक्य में वह भी उसकी सहायता करनी के लिए सोचती है। ''परंतु सरस्वतीचंद्र की एक सेवा करना मेरे हाथ में है। वह मुंबई जाकर घर जाए, अपने योग्य कार्य करें, देश सेवा करें, क्या मैं इतना भी नहीं समझा सकती? इस कार्य के लिए उसके पास जाना योग्य है? नहीं। परन्तु पिता और मित्र से छिपाते फिरते हुए इस रत्न को में देख लूँ और फिर भी क्या यह उचित है कि उसे इस तरह अंधकार के समुद्र में गिरती देखती रहूँ।''[46] कुमुद साहस करके सरस्वतीचंद्र के कक्ष में जाती है। अपनी बात पत्र में लिखकर सोते सरस्वतीचंद्र की जेब में रख देती है। लेकिन सरस्वतीचंद्र की छाती पर रखे पत्र को पढ़ती है और बेहोश हो जाती है। होश में आने पर रोष में कहती है। ''भूल से भी किसी भाग्यहीना की ऐसी दशा मत करना।'' इस आघात को वह भूल नहीं सकती। सौमरस्य गुफा में भी वह कहती है: 'सरस्वतीचंद्र तुमने मुझमें ऐसा कौन सा दोष देखा कि तुमने स्वयं मुझमें उत्पन्न प्रीति की परीक्षा करना यो बाकी माना?''[47] गोवर्धनराम त्रिपाठी पारंपरिक रीति–रिवाज में बद्ध कुमुद जैसी लड़की की करुण स्थिति को व्यक्त करते हैं। वह दो–तीन बार आत्महत्या का प्रयास करती है। पारंपरिक समाज में स्त्री की पराधीनता का सही चित्रण करने में गोवर्धनराम त्रिपाठी सफल हुए हैं। लेकिन कुमुद के पति प्रमादधन की मृत्यु के बाद भी पूर्व भावी पति और प्रीति पात्र सरस्वतीचंद्र से उसका पुनर्विवाह नहीं करवा सके। विष्णुस्वामी के आश्रम में सिद्ध मिलन का संयोग बनता हैं। साध्वियों द्वारा भी कुमुद से कहा जाता है कि जिससे प्रीत हो, वही सही पति कहा जाता है। ''दुष्ट संसार ने जिस युवक से तेरा पाणिग्रहण करवाया था, उस युवक को जानने से पूर्व अन्य जन को मन से वरण कर चुकी थी, वह अन्य जनही तेरा पति है। कन्या जिसको मन से वरण करे, वही उसका पति है। माता–पिता द्वारा वरण कराया या वरण किया हुआ कन्या का वर नहीं है। श्रीकृष्ण ने इसीलिए रुक्मणी का हरण किया था जो महाधर्म माना गया।''[48] कुमुद की छोटी बहन कुसुम इस परिवेश से परिचित होते हुए अपने मन में इसके प्रति विद्रोह रखती है। विवाह न करने, कठोर तप द्वारा कम आवश्यकता रखने, साध्वी के रूप में जीवन व्यतीत करने का विचार, इस

प्रक्रियास्वरूप उसके मन में आता है। लेकिन अंत में सरस्वतीचंद्र का कुसुम से विवाह करवाकर उपन्यासकार परंपरा का ही निर्वहन करता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु हरिश्चंद्र वैसे समाज सुधारक नहीं थे जैसे किसी लक्ष्य को लेकर आंदोलन करने वाले होते हैं। वे ऐसे साहित्यकार पत्रकार थे जिनकी चेतना में समाज और देश हमेशा रहा। एक साहित्यकार के रूप में विशिष्ट व्यक्तित्व था और उसकी कुछ सीमाएँ भी थीं लेकिन उन्हें छुपाए बिना वह एक हिंदी समाज के बड़े वर्ग से जुड़े रहे और उसको प्रभावित और दिशा निर्देशित करते रहे। तत्कालीन साहित्यकारों, सामाजिक संगठनों राजघरानों, सेठ-साहूकारों और अंग्रेज अमलदारों के बीच उनके संबंध और सक्रियता उनके व्यक्तित्व की शालीनता और दूरदृष्टि का संकेत देती है। कई सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं में सक्रिय रहते हुए भी उनके लेखन में दुराव-छिपाव नहीं मिलता। राजा शिवप्रसाद सिंह के साथ व्यक्तिगत राग-द्वेष की चर्चा और कूटनीति की बात श्री वीरभारत तलवार ने की है। उस स्तर की छल-छद्मता के प्रकट तथ्य उनके लेखन में अल्प ही मिलते हैं, इसकी आगे चर्चा करेंगे। उन्होंने धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास, बाल विवाह, विधवा विवाह, विदेश यात्रा, नशाखोरी, जात-पांत आदि पर प्रसंगानुकूल लिखा लेकिन उनके साहित्य में किसी एक या दो समस्याओं पर केंद्रीयता नहीं मिलती। इसका एक कारण अल्प जीवन एवं उनका बहुआयामी व्यक्तित्व भी रहा होगा। वसुधा डालमिया उनकी प्रारंभिक रचनाओं का विश्लेषण करके उनकी धार्मिक नेता की छवि को रेखांकित करती हैं, लेकिन उनके यहाँ अन्य विषयों पर भी समानान्तर रचनाएँ मिलती हैं। 'एक कहानीः कुछ आपबीती कुछ जग बीती' (1876) अधूरी रचना है। वे अपने आसपास के मुफ़्तखोरों, सिफारिशियों का मजा लेते हैं, कोई उन्हें पंडित कहता है, कोई उनके काव्य पर फिदा है, 'एक मीर साहब चिड़ियावाले ने चोंच खोली बेपर की उड़ाई, बोले कि आपके कबूतर किससे कम हैं वल्लाह कबूतर नहीं परीजाद हैं, खिलौने हैं तस्वीरे हैं। हुमा का साया पड़े तो उसे शाहबाज बना दें....' चापलूसों से घिरे रहकर भी उन स्थितियों को देखते हुए लिखते हैं: ''मैं बिचारा अकेला और वाह वाहें इतनी कि चारों ओर से मुझे दबाए लेती थीं और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थीं।''[49] बनारस के रईसी परिवेश में एक युवा का यह निरीक्षण कई संकेत करता है।

वह उस परिवेश में सजग है, स्थितियां भले उसके वश में ना हों, प्रकृति अवश्य रोमानी हो, मैं भी जवानी की उमंग में चूर, जमाने के ऊँच नीच से बेखबर अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारिशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली-भाँति पहचानता था।[50] इन मुक्तखोरों, सिफारिशियों से घिरा अपनी तारीफ सुनने वाला यह युवा इससे एक वर्ष पहले भ्रूणहत्या (1875) जैसे गंभीर विषय पर लेख लिखता है। लेख का निमित्त बनारस के बूना नाले से एक नवजात लड़की का निकालना है। कुमाता द्वारा त्यागी गई बच्ची इस युवा लेखक को प्रेरित करती है और वह 'आर्यगण और धर्माभिमानी लोग' को संबोधित करता है, 'यदि पौनर्भव सन्तति की निंदा न करते उसका अनुमोदन करते तो यह हत्या क्यों होती। यह न हमने कभी कहा है और कहेंगे कि बल से सबका पुनर्विवाह हो परंतु जो कन्या की दशा में विधवा हो गई है वह जिनकी काम चेष्टा हो उनका विवाह क्यों ना हो?' वे ब्रह्मा, पाराशर, श्रृषिश्रंग का उदाहरण देकर इन महात्माओं से इंद्रिय निग्रह में योगिनी और ब्रह्मचारिणी बढ़कर हैं प्रश्न करते हैं तो उनके कामाचार के कारण नहीं, परिस्थितियों, परिवेश के कारण इसे प्रमाणित करते हैं। जबकि वीरभारत तलवार, सुधीर चंद्र दूसरे संदर्भ में (कामाचार फैलने) विश्लेषित करते हैं। भारतेंदु द्वारा दिए तथ्यों को तर्कों को, अपनी स्थापना के पक्ष में रखते हुए निर्णय सुनाते हैं। कुल मिलाकर भ्रूणहत्या लेख में भारतेंदु ने विधवा विवाह के पक्ष में जो तर्क पेश किये उनमें मुख्य चिंता स्त्री जीवन के अधिकार की नहीं उनके अतिरिक्त कामुकता से फैलने वाले व्यभिचार की थी। इसके अलावा मुसलमान के मुकाबले हिंदुओं की तादाद बढ़ाने की थी, जो एक राजनीतिक चिंता थी। शास्त्र के आधार पर भी वे विधवा विवाह को और उससे पैदा होने वाली संतानों को निचले दर्जे का काम ही समझते थे।[51] इसके बाद कविवचन सुधा के 1871में मुगलसराय की विद्युतसाहिनी सभा का विधवा विवाह संबंधी निवेदन का विश्लेषण करते हैं और उसे भ्रूणहत्या से अधिक विवेकशील कहते हैं।[52] भ्रूणहत्या लेख का सघन पाठ करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतेंदु का स्वर अनुनय-विनय और समझाने का अवश्य है, मुसलमानों से जनसंख्या कम होने का डर दिखाना भी मान लें, परंतु उनकी मुख्य चिंता कामुकता से फैलने वाले व्यभिचार की नहीं है। निबंध के प्रारंभ में सरकार से कानून बनाने का परोक्ष सुझाव देते हैं और सरकार धर्म के मामले में पढ़ने से मना करें तो सती प्रथा के विरुद्ध कानून

में धर्म के विरुद्ध निर्णय लेने का तथ्य प्रस्तुत करते हैं। ''सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परम धर्म है इसको बलपूर्वक सरकार ने क्यों रोका है? क्योंकि यह धर्म प्राण से संबंध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सब के पहले मान्य है।''[53] इस विधान से स्पष्ट है कि युवा भारतेंदु सती प्रथा के विरुद्ध कानून की तरह विधवाविवाह के पक्ष में कानून चाहते थे वे इसे भारतीयों को आर्यावर्त की शत्रु तक कहते हैं जिस पर वीरभारत तलवार ध्यान नहीं देते, या देना नहीं चाहते, ''तो क्या आप लोग हजारों स्त्रियों को वेश्या बनाना, लाखों भ्रूण हत्या करना पसंद करते हो पर भारतवर्ष में पौनर्भव संतति रहना पसंद नहीं करते यदि ऐसा ही है तो आप लोग निसंदेह आर्यावर्त के शत्रु हो।''[54] इतना ही नहीं, वे सीधा आरोप लगाते हैं, ''हाय रे न्याय! अपनी पत्नी मरे पर कैसा कूद के ब्याह कर लेते हो, स्त्रियों को नहीं करने देते क्योंकि इंद्रिय मन तुम्हीं को है। उनको थोड़े ही है सब अनर्थ हों अपने कुल में कलंक लगे, स्त्रियाँ वेश्या हो जाए, गर्भ गिरैं, बालक मरैं, सब बातें जाहिर हों, थाना, पुलिस, अदालत, जेहलखाना सब होय पर पुनर्विवाह न होय, होय कैसे इसमें नाक कटैगी।''[55] उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतेंदु की चिंता विधवा दुख को दूर करने की विशेष थी और इस बारे में वे अंत तक गंभीर रहे। वीरभारत तलवार ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाटक में बंगाली पात्र द्वारा विधवा पुनर्विवाह के लिए कहने में कटाक्ष खोजा है। उनका कथन है: ''पुनर्विवाह अवश्य करना। सब शास्त्र की यही आज्ञा है और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है। ललनागन पुंश्चली हो जाती हैं। जो विचार कर देखिए तो विधवा गन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है।''[56] आगे वह पराशर स्मृति का वचन कहता है इसमें किस प्रकार व्यंग्य कटाक्ष है? जिस पुरोहित का कथन आगे आता है, उसे भारतेंदु यमराज द्वारा कोड़े लगवाते हैं और सूची मुख नरक में डालने की सजा दिलवाते हैं।[57]

भारत दुर्दशा (1876) प्रहसन में भारत दुर्देव का फौजदार सत्यानाश है।उसके सिपाहियों में पहला धर्म है उसके कार्यों का विश्लेषण करते हैं जिसके कारण अव्यवस्था हुई है समाज को अनेक जातियों में बाँटना, उच्च नीच का भेद, खानपान में छुआछूत, जन्मपत्री के मिलान से विवाह बालविवाह, बहुविवाह, विधवाविवाह निषेध करके व्यभिचार को बढ़ाना और विदेश गमन आदि को शास्त्र अनुसार निषेध करवाने का उल्लेख है।[58] इनमें किसी तरह के द्वंद्व और दुचित्तेपन

के संकेत नहीं मिलते। भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है (1884) निबंध उनके परिपक्व विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला माना गया है। यहाँ भी वे उन्हीं बातों को स्वीकार करने के लिए कहते हैं जो देश–काल के अनुकूल और उपकारी हो। बहुत सी बातें जो समाज विरुद्ध माने जानी है। किंतु धर्म शास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में विवाह करके उनके बल, वीर, आयुष्य मत घटाइये। आप उनके माँ–बाप हैं या उनके शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए। विद्या कुछ पढ़ लेने दीजिए नोन, तेल, लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए। तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा, बहुविवाह को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए। किंतु उसे चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है।[59] इस तरह भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सामाजिक कुरीतियों पर निरंतर लिखा। किसी विषय पर कम या अधिक इसके कारणों का अनुमान लगाने में अपनी धारणाओं के ही पोषण होने की संभावना है। स्थिति परिस्थितियों में भारतेंदु निर्द्वंद्व रहकर निरंतर सक्रिय रहे।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट ने बाल विवाह की कुरीति पर सबसे अधिक विचार किया। इस दूषण के रोकने से विधवाओं कीसमस्याओं का निराकरण हो जाने में विश्वास करते थे। अनमेल विवाह के भी कटु आलोचक थे। ‘उनका विचार था बाल विवाह के रुक जाने से विधवाविवाह का प्रश्न हल हो जाएगा। उनका यह भी मानना था कि लोग बच्चों का विवाह दहेज के चक्कर में कर डालते हैं और भविष्य की कठिनाइयों के विषय में नहीं सोचते। बाल विवाह से अनमेल दंपत्तियों की वृद्धि समाज को नर्क बना देती है। अनमेल विवाह समाज में अनाचार के प्राकृतिक जनक हैं। यदि बाल विवाह बंद कर दिए जाएँ तो पुरुषों की मृत्यु संख्या इतनी घट जाए कि विधवा विवाह की आवश्यकता ही न पड़े।[60] बालकृष्ण भट्ट के भारतीय परंपरा के अनुशीलन एवं गंभीर समाज निरीक्षण से बाल विवाह के विरोध का विचार दृढ़ हुआ था। उनकी दृष्टि नकारात्मक नहीं थी। कुरीतियों का विरोध करते हुए भारतीय समाज के विशिष्ट मूल्यों की सराहना करते हैं। सकारात्मक दृष्टि के कारण भारतीय समाज व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम के विशेष महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। गृहस्थी निबंध में गृहस्थ आश्रम की विशेषता और अन्य

तीनों आश्रमों की उस पर निर्भरता प्रमाणित करके भारतीय नारी को गौरवान्वित करते हैं। संसार में जो प्रतिष्ठा गृहस्थ की है वह कोपीनधारियों को कभी नहीं मिल सकती। आदमी के जीवन में सारपदार्थ गृहस्थी छोड़ और है क्या? बाहर कितना ही संकट और दुर्दशा भोगा किये घर में पाँव धरते ही दुध मुंहे छोटे बालकों के मधुर तोतरे बोल सुनते ही कलेजा ठंडा हो जाता है......जिसे अर्धांगिनी कहते हैं और जिस पर गृहस्थी का सब भार रखमनुष्य सदा निश्चित रहता है। जिसका सहारा ले काम, क्रोध आदि देह में स्थित अजेय शत्रुओं को और आश्रमों की अपेक्षा हम सहज में जीत लेते हैं जैसे किले में बैठा हुआ लुटेरे दस्यु लोगों से निर्भय रहता है।[61] ''भट्ट जी सुग्रहणी को प्रतिष्ठा और सम्मान देते हुए उसके आत्मविश्वास को भी गौरवान्वित करते हैं जो सदैव पुरुष को संबल देता है। दारुण घोर विपत्ति और अनर्थ जिसमें पड़ मर्द पस्तहिम्मत और कर्तव्य विमुख हो जाता है और अपने को मिट्टी में मिला मान लेता है। उसमें स्त्रियों हतोत्साहित न हो निशंक स्थिर चित्त रह बड़े-बड़े दुख और मुसीबत के झकोरे को सहती हुई घर के प्राणियों को दिलासा, हर तरह का सहारा और आराम पहुँचाती हैं। जिस कसौटी पर कसे जाने पर पुरुष फिसल कर भरे मुँह गिरता है, उसमें ललनागन नेक चलनी का नमूना दिखलाते हुए पर्वत की शिला सी रह अपने शुद्ध पवित्र चरित्र पर निर्भय हो बेदाग रहती हैं।[62] ये विचार बालविवाह विरोधी और तत्कालीन समाज में स्त्री की परवशता को उजागर करने वाले समाज हितैषी लेखक के यह विचार हैं। वे एक ही परिवार में स्त्री-पुरुष के विचारों एवं मान्यताओं में अंतर भी सुधार में अवरोध मानते हैं। घर परिवार का ध्यान न देने वाले शिक्षकों पर व्यंग्य करते हैं। बालकृष्ण भट्ट मनुष्य की स्वाभाविक सरलता सिधाई आर्जब की प्रशंसा करते हैं, साथ ही तत्कालीन समाज की अधोकारी प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात भी करते जाते हैं। उन्होंने हिंदू जाति के दो स्वाभाविक गुण खोजे—एक, धर्मभीरुता और दूसरा, इंद्री निग्रह दमन। इन गुणों का संपर्क छूटने के कारण भारतीय पूर्वजों की पूँजी गंवाकर गुण विहीन हो गए। आलस, अकर्मण्यता, सहनशीलता समाज में व्याप्त हो गए: ''विष लता के समान अकर्मण्यता सब ओर छा, भारत की उर्वरा भूमि को ऐसा छेक दिया और यहाँ इतना विस्तार इसने पाया कि उद्यम, साहस, आत्म गौरव, जातीयताभिमान, उत्तेजना आदिपौरुषेय गुण तो आत्मदान के सहकारी और सदा साथ-साथ रहने वाले हैं। उनके बीज को अब बोने का कहीं अवकाश नहीं रहा।''[63] वे सिर्फ स्थिति चित्रण करते, कहीं-

कहीं कटु भी हो जाते हैं। लेकिन भारतीय समाज, संस्कृति के उदात्त रूप का स्मरण करते रहते हैं। इस निबंध में मुस्लिम और अंग्रेज शासकों के शोषण से पिसते हुए भारतीय समाज की सहनशीलता पर व्यंग्य करते हैं। ''सब जाए पर परमार्थ और परलोक न बिगड़ने पाए की चिंता से भारतीय समाज की दुर्गति मानते हैं। उन्हें ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन स्थिति की विडंबना को प्रकट करना और संवेदनशील वर्ग का दिशा निर्देशन करना अभीष्ट था। वे सुशिक्षित भारत की तथाकथित उन्नति और उनकी स्त्रियों के परिवार में अधोगति के लिए शिक्षित समाज को ही दोषी मानते हैं। मैत्रेयी, लीलावती सरीखी दो–चार महिलाओं के उदाहरण देकर इस स्थिति से बच नहीं सकते। भारतवर्ष में जब 100 में से तीन या चार स्त्रियाँ शिक्षित हों तो विकास कैसे हो सकता है।''[64] बाल विवाह के दुष्परिणामों से भी निरंतर चेताते रहे हमारी समझ में इन गुड़िया–गुड़े के विवाह करने में तो कोई खुश होने का अवसर नहीं है। ''घमंड तो यह है कि हम लोग कैसे सुखचैन से रहते हैं। लड़ाई झगड़े से कोसों दूर पर दृष्टि फैला कर देखिए तो इसी अनबिलेचित विवाह के कारण कौन सा ऐसा घराना है, जहाँ रात दिन दांता किट किट नहीं हुआ करती।''[65]

मुंबई के पारसी बहरामजी मालबारी के बाल विवाह के देशव्यापी जागरण अभियान की प्रशंसा करते हैं। मालबारी हिंदू नहीं है पर हिंदुओं के समाज संशोधन में तन–मन–धन से लीन हैं। बाल विवाह के दूषण से सब परिचित होते हुए भी यह कुरीति मंद नहीं पड़ी। मालबारी इसे रोकने के तीन उपाय–सामान्य शिक्षा का फैलाव, स्त्री शिक्षा और अपने उदाहरण से इस बुराई को दबाना–की बालकृष्ण भट्ट प्रशंसा करते हैं। संवेदनशील युवकों की मंडली द्वारा तीसरे उपाय को क्रियान्वित करने में घर की बड़ी बूढ़ियों के अवरोध जानकर मालबारी के सरकारी कानून बनाने के लिए सरकार पर दबाव के प्रयास का समर्थन करते हैं।[66] 'मिस्टर मालबारी के विचार की पोषकता' निबंध में सहवास बिल को पारित न करने के लिए धर्म महामंडल के पंडितों द्वारासरकार को मेमोरियल देने का उल्लेख है। इसमें लेखक स्वयं 14 वर्ष से उम्र से कम की बालिका के प्रथम संगम को कानूनी दंड का प्रावधान चाहता है। वे महामंडल के कर्ताधर्ताओं से पूछते हैं: ''हम महामंडल के अगवा पंडितों ही से पूछते हैं कि धर्मशास्त्र के किस टकसाली ग्रंथ में बाल विवाह धर्म लिखा है प्रत्युत महाअधर्म और अन्याय अलबत्ता निश्चय

किया गया है। कन्या को अलबत्ता योग्य वर के साथ विवाह देना कहा है। तो तभी जब वह विवाह योग्य हो और पुत्र का विवाह करना पिता का धर्म कहीं नहीं कहा गया। किंतु उचित गुण और विद्या उपार्जन के उपरांत अपने मन में यदि उसकी रुचि हो तो वह विवाह कर गृहस्थी के बंधन में पड़े नहीं तो स्वच्छंद रहकर लोक परलोक के बड़े-बड़े कामों में तत्पर हो।''[67] भट्ट जी बाल विवाह के दूषण के लिए उनसे उलझने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं जो इस प्रथा का प्रत्यक्ष या परोक्ष से समर्थन करता था। पुराने विचार वालों की प्रति तो उनमें अत्यधिक रोष था। बहुत से लोग कहते हैं कि लड़काई में विवाह कर देने से लड़का उठती जवानी के जोश में आए बिगड़ेगा नहीं, संयम के साथ गृहस्थी ढर्रे पर ढुलकता चला जाएगा किंतु यह उनका कहना सर्वथा युक्तिशून्य है। यह वैसी ही बात है कि हिरण खेती चर जाएँगे इसलिए खेती न करें। विवाह न करने से ऐसे कुढ़ेंगे बिगड़ जाएँगे जो विवाहित होकर भी बिगड़ते ही हैं।[68] भारतीय समाज में विवाह का उद्देश्य वंश वृद्धि और पितरों के उद्धार से जोड़कर बाल विवाह द्वारा जो दूषण फैले, उन्हें अलग-अलग आयाम से प्रस्तुत करते हैं। शायद वे 19वीं सदी के अकेले हिंदी लेखक हैं जिन्होंने इस समस्या पर इतनी सूक्ष्मता से सभी पक्षों पर विचार किया और किसी कोण से इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिले, यह प्रतिपादित किया। 'बाल विवाह भयंकर विपत्ति क्यों कर छुटकारा पावें' निबंध में उन्होंने बाल मरण के प्रमाण देकर समाज की जटिल समस्याओं पर ध्यान आकर्षित किया। 100 में से 30 बालक कुसमय काल के गाल में समा जाने से विधवा समस्या से समाज जूझता है। वह बार-बार कहते हैं कि ''यह देश जितना जल्द बालविवाह महापातक के बदौलत डूबा उतना शीघ्र किसी दूसरे पाप से ना डूबता।......यह तो आपको अत्युक्त है किंतु इतना तो अवश्य प्रत्यक्ष है कि जो लड़के विवाहित हो, कमसिनी में मरकर विधवा वृद्धि करते हैं, वह रुक जाएगा। दूसरे कच्ची उम्र में विषयासक्त हो क्षय रोग के फंदे में पड़ परलोक को भागते हैं और विधवाओं का झुंड का झुंड अपने पीछे छोड़ देते हैं, सो भी बंद हो जाएगा। विधवा कम हो जाएँगी तो विधवा विवाह का झगड़ा भी जाता रहेगा।''[69] यह प्रथा क्षणिक सुख के लालच, अंधश्रद्धा, लोक प्रतिष्ठा, लोक भय आदि अनेक कारणों से सभी वर्गों के लोगों को तबाह कर रही है। जब धनिक संपन्न समाज ऐसा करता है तो गरीब वर्ग भी अनुसरण करता है। वे उदाहरण देते हैं, पेड़ को फल देने तक संभालना पड़ता है और बछड़े को चार या छह

दांत का बैल बनने पर हल में जोता जाता है लेकिन लड़के-लड़की के ब्याह में समाज कुरीतियों में जकड़ा है। यही समझ आता है कि क्षणिक सुख के लालच से लोग जन्म भर का दुख विसाहते हैं, जो अधिक धनी और वैभवोन्माद में उम्मत हो रहे है और अपना वैभव प्रकट करने के बहाने ढूँढ़ा करते हैं। बच्चों के बलिदान की यह कुरीति उन्हीं की निकाली है। हर एक शहरों में ऐसे बहुत से घराने मिलेंगे कि धन-धान्य भरा है पर कन्या का पति नहीं है-अब आप ही कहिए ऐसे क्षणिक सुख को सुख मानना कैसी भूल-भुलैया के फंदे ने फसाना है।''[70]

बालकृष्ण भट्टकी धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि सहवास बिल की तरह बालविवाह पर सरकार द्वारा कानून बनने पर फलदाई परिणाम निकलेंगे यह विषय उनके मन मस्तिष्क पर इस तरह सवार था कि अनेक समस्याओं का कारण उन्हें बाल विवाह ही लगता था। आत्मनिर्भर जैसे श्रेष्ठ गुण के अभाव का प्रथम कारण बाल विवाह मानते हैं, तो जनसंख्या की वृद्धि का भी यही कारण है, यह सोचकर वे सहवास बिल के लिए सरकार से कानून की अपेक्षा करने लगे थे : ''गवर्नमेंट यदि शुद्ध भाव से हिंदुस्तान का उपकार सोचती हो तो सहवास बिल के समान बाल्य विवाह को जुर्म में दाखिल कर पूरे सिन पर आने के पहले जो अपने कन्या या पुत्र का विवाह करें उसके लिए कोई भारी सजा या जुर्माना कायम कर दे तब कदाचित यह बुराई हम लोगों में से दूर ही (हो) नहीं तो सीधी तरह से यह कभी राह पर नहीं आने वाले हैं।''[71]

बालकृष्ण भट्ट अंग्रेजी राज्य की कृपा से शिक्षित हुए नए स्वप्न देखने वाले भारतीय युवा वर्ग और घर में रूढ़िचुस्त संस्कारों में बद्ध पत्नी के बीच के अंतर को भी उघाड़ते हैं। 'हमारी ललनाओं की शोचनीय दशा' लेख में उनके व्यंग्य की तेज धार है: ''बाबू साहब छंदान तोड़ विलायत की राह सुधारने के लिए कदम उठाए हैं, बबुआइन घर बैठी गोबर ही पाथती रहीं। बाबू साहब, लाला साहब मिस्टर सो एंड सो कहे जाने की उमंग में फूले नहीं समाते। ललाइन कौआ हकनी ही रही आईं। बाबू साहब आर्य समाजी, और ब्रह्म समाजी हैं, थियोसोफी में अपना अव्वल दर्जा कायम करते हैं, घर में बहू जी भूतपूजनी समाज की प्रेसिडेंट है। बाहर पंडित जी साहब विधवा विवाह, बाल-विवाह,समाज-संशोधन पर जोश खरोश से भरे नए-नए लेक्चर झाड़ा करते हैं, घर में पंडित जी साहब के 5 वर्ष की एक कन्या है। पंडिताइन को पानी नहीं पचता। कन्या 5 वर्ष की हो गई सगाई कहीं पक्की अब तक न हुई। जब तक हमारी मूढ़ ललनाओं के

मन में यह बात धंसी हुई है कि कन्या 8 वर्ष की बिनब्याही बैठी रहेगी तो सात पुरखे नरक में जाएँगे अथवा शीतला भवानी को न पूजेगी तो लड़कों को शीतला भख लेंगी।''[72] वे किसी भावात्मक जोश में सामाजिक कुरीतियों को चिन्हित नहीं कर रहे थे बल्कि इसके साथ जड़ जमाई हुई इन कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध कलम चला रहे थे। शिक्षित समाज का ढुलमुलपन समाजहित के लिए तत्परता में कमी को बड़ी सजगता से देख–परख रहे थे। उनकी दृष्टि में ब्रह्मसमाज और आर्य समाज के सुधारों का प्रभाव भी था। ऐसी स्थिति में व्यंग्य ही वह माध्यम था जो इस दौर की रचनाकार उपयोग में ले रहे थे। कभी खीझकर अपने कार्य को बकबक कहते हैं, लेकिन उनका निरीक्षण उपयुक्त था। समाज द्वारा नई–नई बातों की ग्रहणशीलता की मंद गति और संशोधकों (सुधारकों) के दिखावे से भी वे दुखी थे। हमारे सुधार चाहने वालों का जवान जमा खर्च (1890), सोशल रिफॉर्म (1889) सोशल रिफॉर्म अथवा समाज संशोधन (1889) जैसे लेखों में पुराने मनीषियों के सुधारों और उनकी समाजबद्धता को स्पष्ट करते हैं। नए विचारों के सुधारक भारतीय धर्म ग्रंथों की निंदा करते हैं तो हमारे धर्मबद्ध समाज में स्वीकार नहीं हो पाते और उनका प्रभाव नहीं पड़ता। 'चाहे कोई बात धर्मांकुल ही भी क्यों न हो पर सर्वसाधारण के मन पर यही असर होता है कि यह बनावट है। कारण यह है कि जब जब बड़े–बड़े लेक्चर होते हैं तो प्राय श्रुति, स्मृति, पुराण वर्णाश्रम आदि की निंदा बड़े जोर शोर से सुन पड़ती है और अपनी–अपनी युक्त ही को धर्म ग्रंथ ठहरने की कोशिश करते हैं। इस रीति से कोई अपने को प्रसिद्ध करना ही उनका मतलब रहता है। देश हित का एक बहाना मात्र होता है इनकी देखा देखी और विद्वान भी इनकी चाल पर चलकर विद्वान बन चाहते हैं।[73] लेखक का यह निरीक्षण तत्कालीन समाज में सुधारकों के प्रभावीहीन होने की वजह स्पष्ट करता है।

बालकृष्ण भट्ट समाज की प्रकृत धर्मबद्धता को जानते हुए भी उनके बीच शिक्षित समाज के मानसिक परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील रहे। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि विवेकपरक और यथार्थ पर आधारित थी। वे धार्मिक पाखंडों एवं सामाजिक कुरीतियों पर इतनी निर्भीकता से लिख सके, उसमें उनका भारतीय संस्कृति के अध्ययन अनुशीलन कारणभूत था। अगस्त 1887 में हिंदी प्रदीप में रुकमाबाई पर उनकी संक्षिप्त टिप्पणी छपी। रुकमाबाई अपने बाल विवाह से सहमत न होकर पति से स्वतंत्र होने के लिए अदालत जाती है। वे इसे 'स्त्रीत्व स्वरूप निर्मल

चंद्रमा के ग्रास करने को राहु रूप' कहते हैं। उनकी टिप्पणी है : ''अब यह दशा है कि स्त्रियाँ अदालत में खुला खुली अपने पति के विरुद्ध मुकद्दमा दायर करती हैं और मुक्तकंठ होकर कहती हैं कि यह हमारा पति नहीं है।''[74] लेखक के ये उद्‌गार परंपरा पोषक हैं। इस प्रसंग को आधार बनाकर वीर भारत तलवार सामान्यीकारण करके हिंदी नवजागरण से जुड़े लेखक-संपादकों को परंपरागत धर्म की किसी भी प्रथा को बदलने का विरोध कर रहे थे, कह देते हैं।[75] एक प्रसंग को आधार बनाकर सभी हिंदी लेखकों को कटघरे में खड़े कर देना एक अलग तरह का अतिरेक है। आश्चर्य है कि इस पर भट्ट जी ने दोबारा कुछ नहीं लिखा और लिखा हो तो संग्रहित न होकर नष्ट हो गया। ऐसा भट्ट जी की प्रकृति देखकर नहीं लगता कि ऐसे ज्वलंत मुद्दे पर उन्होंने फिर ना लिखा हो क्योंकि वे बाल विवाह के विरोध में निरंतर लिखते रहे और इस दूषण में कन्याओं की आहुतियाँ की करुण प्रसंग मिलते हैं। वहेरामजी मालबारी के बाल विवाह और सहवास बिल का समर्थन करते हैं और पारंपरिक समाज की विपरीत सरकार द्वारा कानून बनाने का समर्थन भी करते हैं, जो मालबारी रुकमाबाई डिफेंस फंड स्थापित कर रहे थे। यहाँ रुकमाबाई के निर्णय के विरोध के बचाव पक्ष में कोई तर्क देना उचित नहीं है, लेकिन लेखक के परिवर्तित विचारों के संकेत उनके परवर्ती निबंधों में मिलते हैं। यतोधर्मस्ततोजय निबंध हिंदी प्रदीप के जून-जुलाई (1899) अंक में प्रकाशित हुआ था। इसमें भी स्त्रियों के ऐसे दारुण शोषित जीवन से मुक्त होने का परोक्ष समर्थन करते हैं:

''जरा ध्यान तो दीजिए कि जिसे आप अपना धर्म मान बैठे हो वह केवल स्वार्थ है, उसी ने उनको निपंग करके उनकी क्या-क्या दुर्दशा की और कराई है। हठधर्मी से आप अब और भी अधिक कर और करा रहे हैं। पर्दे के पीछे घृणित खराबियाँ हुआ करें परंतु असंतुष्ट जोड़े अलग ना होवे, धींगा धींगीरात दिन होती रहे। पुरुष मंडियों में और चकलों में यात्रा किया करें, स्त्रियाँ वैसे ही अपने मन की करती रहें। इससे धर्म स्थित है। राजाओं के महलों से डोले पर डोले दिल्ली, आगरा और हैदराबाद पहुँचते थे। तब धर्म नहीं गया। स्त्रियों की गली-गली लूट होती है तब धर्म नहीं गया। यदि कोई स्त्री अपने माँ-बाप की मूर्खता जो रात दिन देखने में आती है यदि पति की लंपट्ट कमरबाजी और करवमार से बचने के वास्ते अपनी जान बचाई ना चाहे और कारागर में जाकर सजा न भोगे तो बस धर्म गया। ऐसे धर्म को तो दूर से ही नमस्कार है।''[76] यह

निर्दिष्ट करने वाला लेखक अंध परंपरावादी नहीं हो सकता। उक्त दोनों निबंध एक ही लेखक के हैं। इसलिए लेखक के विचारों में मान्यताओं में परिवर्तन होने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

प्रताप नारायण मिश्र

प्रताप नारायण मिश्र के निबंधों में मनोरंजन के बाहुल्य के साथ पाठक के प्रति आत्मीयता अन्य निबंधकारों से अधिक है। इस समय के लेखक अपने समय के तथाकथित शिक्षित समाज को चौंकाने के लिए नहीं, उसको सहारा देकर संस्कारित कर रहे थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस विशेषता को रेखांकित किया है : ''परंतु भारतेंदु युग के अन्य किसी लेखक ने अपनी लेखनी को जीव की तरह इतना नहीं चलाया; अन्य किसी लेखक ने पाठक से इतनी आत्मीयता से और इतनी ज्यादा बातचीत नहीं की। और कोई भी लेखक अपनी भाषा को इतनी सरपट नहीं दौड़ा सका जितना प्रताप नारायण मिश्र।''[77] बात-बात में बात निकालते हुए मिश्र जी ने पश्चिमोत्तर निवासियों की प्रकृति, आलसी वृत्ति पर व्यंग्य की मार की। कबीर की तरह कच्चे मटके के अंदर हाथ रखकर ऊपर से दुरस्त करने की शैली में :

''वाह जी, तुम्हारे मुँह में तो लगाम ही नहीं है, देखते नहीं हो बंगालियों ने विद्या की कैसी उन्नत की है? मुंबई वालों ने थोड़े दिनों में कारीगरी को कैसे बढ़ाया है, क्या यह बातें बिना हाथ पाँव हिलाए ही हो गई हैं? भला यहतो बताओ कि पश्चिमोत्तर देशियों ने क्या काट के कूड़ा किया? इनसे तो इतना भी न हुआ उन सच्चे देशभक्तों की कुछ सहायता करके उत्साह ही बढ़ाते। हाँ, जवानी जमा खर्च में पक्के हैं। आपस में झगड़ों में वीर हैं। जहाँ किसी महात्मा ने कोई देश हित की नई बात निकाली। जो तो आप कुछ उसे न समझे तो बस झट उसे नास्तिक किरिस्तान या दयानंदी का खिताब दे दिया। और जो कहीं जी में आ गया कि नहीं, अच्छा कहता है तो कुछ दिन तो ऐसा सत चढ़ा कि कोई जाने कि अभी धरती उल्टाये देते हैं, अभी सतयुग बुलाते हैं, आप कुछ दुख-दरिद्र हरे लेते हैं, पीछे से कुछ नहीं फिश। हाथ पर हाथ धर बैठ के बैठ रहे। करम में लिखा है सो आप हो रहेगा। सो करम में यह लिखा है, बल बुद्धि विद्या धन धर्म सबको तिलांजलि दे के पूरे संठ बैठो, झूरे झन्नाया करो और होना क्या है?''[78]

इस उद्धरण में आलस, संतोष, उमंग, उन्माद, अकर्मण्यता, भाग्यवाद आदि

दुर्गुणों को बताते हुए भी व्यंग्य की मार तीखी नहीं करते। प्रताप नारायण मिश्र कुरीतियों का विरोध तो करते हैं, लेकिन साथ ही धर्मशास्त्रों का आदर भी करते हुए उनमें मिला दिए गए पाखंडों को सामने रख देते हैं। 'बालविवाह विषयक एक चोज', और 'बाल विवाह निबंध में शीघ्रबोध' के श्लोकों को काशीनाथ भट्टाचार्य द्वारा संपादित करने को 'नई रोशनी वालों द्वारा' उस परिप्रेक्ष्य को समझे बिना टीका करने का विरोध करते हैं। यद्यपि 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी और नववर्षा च रोहिणी' की व्याख्या में अतिरेक है, भले ही धार्मिक दृष्टि से सुधारने की बात हो परंतु इस व्याख्या से भ्रांति को बढ़ने की संभावना है फिर भले ही पुरोहित को दोषित बताते हैं। यह व्याख्या भ्रम तोड़ने में सहायक नहीं होती। ''बरंच हमारी लीजिए तो पुरोहित जी, क्योंकि पढ़ न समझे, अपने भ्रम में बिचारे यजमान से पाप करावैं और बर-कन्या का जन्म नशावैं! 'ते सर्वे नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलां। अब कहो श्री काशीनाथ भट्टाचार्य का दोष है कि गप्पूनाथ भ्रष्टाचार्य हिंदुस्तानियों का गदहापन।''[79] यहाँ वे श्लोक को नहीं श्लोक के अर्थ के विश्लेषण में पुरोहित वर्ग की भूमिका और उसके स्वार्थ का दोष निकलते हैं। वे बालविवाह को दूषण मानते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि 16-17 वर्ष की लड़की-लड़के को सांसारिक अनुभव में पूर्ण दक्षता प्राप्त नहीं हो सकती, जबकि माता-पिता में यह अधिक होती है, इसलिए माता-पिता की इच्छा को श्रेष्ठ मानते हैं: 'अपनी संतति के भविष्यत हिताहित का ज्ञान जितना वृद्ध माता-पिता को हो सकता है उतना उनके युवा लड़का-लड़की को होना कठिन है। अत: बर-कन्या की इच्छा की अपेक्षा उनके जनक-जननी की इच्छा अधिक श्रेष्ठ है।' [80] वे तर्क भी देते हैं कि शास्त्र में 8 वर्ष पर विवाह और गौनासात वर्ष में हो तो 15 वर्ष की कन्या हो जाएगी। यदि माता-पिता जल्दी गौना कर देते हैं तो शास्त्र दोषी नहीं है। यदि शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बाधा उत्पन्न होती है तो छोटी आयु के समागम से होती है न कि विवाह मात्र से।[81] शास्त्र के नियमों का दोष न मानकर कलुषित बुद्धि बालों को दोषी मानते हैं। ''सो उस (स्वल्पायु सहवास) की शास्त्र में कहीं आज्ञा ही नहीं है, केवल कन्यादान के लिए अनुशासन है। उससे और सहवास से वर्षों का अंतर पड़ जाता है। फिर बतलाइए शास्त्रानुमोदित बाल्यविवाह दूषित है अथवा हमारी वैवाहिक रीति से निंदकों की बुद्धि कलुषित है और उन मूर्ख की समझ धिक्कार योग्य है जो आर्य संतान कहलाकर शास्त्र के आज्ञा पलक बनकर करते अपने मन का है किंतु नाम शास्त्र का बदनाम करते हैं।''[82]

प्रश्न शास्त्र के नियमों के उचित अनुचित का नहीं होता, यदि उसका आधार लेकर धार्मिक क्षेत्र में वर्चस्व रखनेवाला वर्ग और धर्मभीरु माता-पिता निर्णय लेते हैं तो उसका समाधान कैसे निकाला जाए। यहाँ मिश्र जी धार्मिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा करते प्रतीत होते हैं जबकि समाज में उनके द्वारा ही दूषणों की वृद्धि हुई है। विवाह में आदमी की सामर्थ्य से अधिक व्यय को भावना से जोड़ते हैं। मौखिक उपदेशों का समाज पर प्रभाव नहीं होता। मिश्र जी के यह विचार व्यावहारिक दृष्टि से उचित हों परंतु जब समाज में कुरीतियों का महाजाल फैला हो, ऐसे में यह दृष्टि परंपरावादी अधिक लगती है। हिंदू प्रजा के धार्मिक संस्कारों पर कुठाराघात होने के कारण सहवास बिल का विरोध करते हैं। कानून बनने पर बहू-बेटियों का डॉक्टर के पास अपमानित और कोर्ट कचहरी में लज्जाजनक स्थिति का सामना करने की आशंका है। यहाँ भी देश भाइयों को लड़के-लड़कियों के ब्याह को गुड़े-गुड़ियों का ब्याह न समझने के लिए चेताते हैं।

'सोशल कॉन्फ्रेंस' और श्री भारत धर्म महामंडल लेखों में संबंधित सुधार का विश्लेषण है। हिंदू जाति के सभी सुधार धर्म के मूल पर स्थित हैं। मिश्र जी मानते हैं कि आर्य समाज, ब्रह्म समाज, धर्म सभा आदि द्वारा इस ओर कार्य हुआ है लेकिन वह पर्याप्त नहीं है और ना उसे एक बड़े जनसमूह का समर्थन मिल पाया। इन दो कारणों से यह समाज जैसा चाहिए वैसा कृत कार्य न हो सका। इनका उद्देश्य यद्यपि अनेकांश में उत्तम है पर धर्म प्रचार के साथ ही मत मतांतर खंडन मंडन, प्रतिमा पुराणादि की हठपूर्वक निंदा स्तुति और जातिभेद, भक्ष्याभक्ष्य, विधवाविवाहादि विषयक आग्रह निग्रह के कारण देश की जनता इन पर यथोचित श्रद्धा ना कर सकी।[83] प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में अपने धर्म शास्त्र, पूर्वजों के कार्य, आचार-विचार और समाज व्यवस्था पर अनन्य आस्था प्रकट होती है जो कुछ पाखंड और कुरीतियों हैं, उन्हें वह अपेक्षाकृत कम आँकते हैं। दूसरी ओर शिक्षा, परिवार समाज के आचार-नियम, मनुष्यों की नियति में कपटता आदि में विघटन के तत्वों को देखते हैं। 'बालशिक्षा' निबंध में पुस्तकों की कमी उसके उपाय के लिए सक्रियता का उल्लेख करते हुए बालकों की संपूर्ण शिक्षा माता-पिता और गुरु पर निर्भर मानते हैं लेकिन माता ही अशिक्षित हो तो पिता को ध्यान देने को कहते हैं। पिता भी दबा के न रखें। नौकर पर ना छोड़े तो पहले उसकी परीक्षा ले लें। गुरु के चाल-चलन की परीक्षा लेने को कहते हैं। मिशनरी शिक्षा के विरोधी हैं तो क्रोधी गुरु से डर के शिष्य के सुधारने को योग्य मानते

हैं।[84] उनके इस तरह परस्पर विरोधी विचार चौंकाने वाले अवश्य हैं पर उनकी धर्म पर अटल आस्था के सूचक है।

सती के प्रति गौरव, पति पर पूर्ण आसक्ति रखने वाली स्त्रियों की संख्या समाज में कम मानने वाली उनकी दृष्टि सुधारवादियों से भिन्न प्रकार की है। भले ही उन्होंने धार्मिक पाखंडों और कान्यकुब्ज ब्राह्मणों पर तीखे व्यंग्य किये हों। प्रारंभ में बाल विवाह का दृढ़ता से विरोध करते हैं। 'ब्राह्मण' के प्रवेशांक का कथन है: ''उत्तम तो यह था कि ऐसे ऐसे कामों को सहाय देते जिनसे सचमुच की सुर्खई होती, बाल्य विवाह की कुरीति उठाई होती। ब्रह्मचर्य की फिर से प्रथा चलाई होती तो देखें कैसा रंग आता है।''[85]

'भलमंसी' निबंध में वे 'पुरानी लकीर' के विरोध में खड़े दिखाई पड़ते हैं। बालविवाह, व्यर्थ खर्च, अनमेल विवाह, विधवा विवाह का समर्थन, और विलायत यात्रा करने वाले को जाति से बहिष्कृत करने का विरोध करते हैं। ''यदि भलमंसी यही है कि नाना भाँति के क्लेश और हानि सहना और पुरानी लकीर के बाहर एक अंगुल भी बाहर न होना, बिरादरी में दो दिन की वाह वाह के लिए ऋण काढ़ के सैंकड़ों की आतिशबाजी छिन भर में फूंक कर संतान के माथे कर्ज मढ़ जाना, केवल नाई और पुरोहित की प्रसन्नता के लिए साठ बरस और आठ बरस के बर कन्या की जोड़ी मिलाना तथा दोनों का जन्म नशाना। पाँच बरस की विधवा का यौवनकाल में व्यभिचार एवं भ्रूण हत्या टुकुर-टुकुर देखते रहना, बंरच छिपाने का यत्न करना पर विधवा विवाह का नाम लेने वाले वालों से मुँह बिचकाना।.......पर विद्या पढ़ने और गुण सीखने के लिए विलायत हो आवैं तो उन्हें जाति में न मिलाना। क्यों? रीति नहीं है। ऐसा कहने से नाम धरा जायगा। पुरखों की नाक कटेगी, भलमंसी पर बट्टा लगेगा।...... एक कल्पित शब्द के पीछे बुद्धि की आँखों पर पट्टी बाँधना, अपने हाथों पाँवों में कुल्हाड़ी मारना, देख सुन के, सोच समझकर जानबूझकर अनर्थ करना और दुख पर दुख सहते जाना, सहते जाना ही यदि भलमंसी है तो ऐसी भलमंसी को दूर ही से नमस्कार है।''[86]

यह संभव है कि उत्तर काल में मिश्र जी के विचारों में परिवर्तन आया हो। जिसमें वे बाल विवाह का शास्त्रगत समर्थन करते हैं। इसी तरह विदेश यात्रा को सिर्फ अंग्रेजी शिक्षा और नौकरी पाने के लोग से जोड़ते हैं। वे उस परिवेश पर मनन नहीं करते जिससे भारतीयों की सोचने समझने की शक्ति का विकास

होता है। संभवतः 'विलायत यात्रा' निबंध परवर्ती है जिसमें विदेश यात्रा के पक्ष में अन्य साहित्यकारों-सुधारकों ने भारतीय शास्त्रों के प्रमाण देकर उचित ठहराया है। वे अपने कथन को 'ब्राह्मण की बकबक' कहते हैं : "न जाने क्या दुर्दशा आई है कि लोगों को सब विलायती पदार्थ ही अच्छे लगते हैं कदाचित इसका कारण पश्चिमी शिक्षा हो। लोग बाल्यावस्था में ही उन स्कूलों में भेज दिए जाते हैं, जहाँ वही अंग्रेजी गिटपिट से काम पड़े।...... हमें तो केवल यह दिखाना है कि काल के परिवर्तन से जो लोग विलायत गमन के लिए कहीं वेद से लेकर पुराण, कुरान आदि के श्लोक व आयत छांट-छांट कर छाप दें, कहो सहस्त्र युक्तियाँ निकाल के यह सिद्ध कर दें कि वहाँ की-सी जलवायु कहीं नहीं है, वहाँ की रहन-सहन, बोलचाल, शिष्टता-मिष्टता कहीं नहीं। वहाँ हमारे पूर्वज तो सब जाते थे। बिना वहाँ के खादाच्छादन किये हमारी ब्लेकनेस (श्यामता) जा सकती है, न गौरांग देवों की भी पूजार्चा मिल सकती है। अरे भाई एक ब्राह्मण चाहे सो बके पर तुम्हारी समझ में नहीं आएगा।"[87]

मिश्र जी के विचारों में धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के बारे में बदलाव के स्वर अवश्य सुनाई देते है। लेकिन लेखक के विचारों में आए परिवर्तन के कारणों पर ध्यान भी देना होगा। निरंतर हिंदुओं के धार्मिक-सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप, सरकार का मुसलमानों के प्रति पक्षपात, गौ रक्षा के लिए आंदोलन आदि घटनाएँ हैं, जिन्होंने उनके विचारों को प्रभावित किया हो, ऐसा लगता है। उनके काव्य में सामाजिक रूढ़ियों, बालविवाह, बालविधवा, मद्यपान, गणिका गमन, कान्यकुब्ज ब्राह्मण की कन्याओं का वृद्ध से विवाह की करुण वेदना प्रकट हुई है। अधिकतर काव्य साधारण हैं:

"मद्यपान गणिका गमन, बाल ब्याहि की रीति।
बल करि रोकी जाति नहिं, औरहु दुःखद कुरीति।[88]
कौन करे जो नहिं कसकत सुनि बिपत बाल विधवन की है।
तातैं बढ़ि कै क्रंदना कान्यकुब्ज कन्यन की है॥[89]

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी ने 1895 में अपना संक्षिप्त परिचय पुस्तिका रूप में प्रकाशित किया था। उनके पिता वृंदावन के राधा रमण मंदिर के गोस्वामी और वैष्णव संप्रदाय के आचार्य थे। फर्रुखाबाद में एक अनुभव से अंग्रेजी सीखने

की ललक लगी। लेकिन मंदिर के आचार्य के पुत्र होने के कारण पंथ के लोगों ने स्कूल से नाम 'कटवा दिया'। भारतेंदु की हरिश्चंद्र मैगजीन और कविवचन सुधा से 'देशोपकार' की भावना जगी। उन्होंने स्वयं अपनी धारणाओं के बारे में लिखा है:

1. मैं एक ऑर्थोडॉक्स कुल में उत्पन्न हुआ हूँ परंतु देशोपकार के सब कामों में उदार हूँ।
2. मैं कट्टर वैष्णव कट्टर हिंदू हूँ। अन्य धर्म अथवा समाज के लोगों से वृथा विरोध करना उचित नहीं समझता।
3. कपट, दंभ, छल से भरे हुए किसी कार्यों में सहानुभूति नहीं रखता। इसी से दो एक आडंबरप्रिय सभा और उनके सभासदों से नहीं बनती।
4. किसी धन आदि के लोभ अथवा अनुरोध से अपने हृदय की स्वतंत्रता और अपने मंतव्य को छोड़ देना मेरी प्रकृति के विरुद्ध है।
5. देशोंनती नेशनल कांग्रेस समाज संशोधन स्त्री स्वातंर्त्य, यह मेरी प्राण प्रिय वस्तु है।[90]

एक रूढ़िवादी कुल में जन्मे राधाचरण गोस्वामी कट्टर हिंदू वैष्णव होते हुए भी देशोन्नति, समाज संशोधन और स्त्री स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। 19वीं सदी के हिंदी साहित्यकारों में वे अकेले ऐसे हैं जिन्होंने विधवा विवाह को सभी सामाजिक समस्याओं में अग्रिमता प्रदान की। इसके लिए विशेष प्रयास किए। बालविधवाओं को समस्या के कारणों में परंपरावादियों का मूल समर्थन और लाचारी, दोषियों को उघाड़ने में निर्भीकता एवं साहस दिखाया। उन्होंने 1909 ई. की गणना के अनुसार हिंदू बालविधवाओं की संख्या 3,21,470 हो गई थी। उनके पक्ष में पुनर्विवाह के लिए अभियान चलाया। विधवाविवाह विवरण पुस्तिका प्रकाशित की। इस पुस्तिका में तत्कालीन समय में बालविधवाओं के जीवन की करुणाता धार्मिक क्षेत्र में वर्चस्वशाली वर्ग रूढ़िवादी सोच, धर्म शास्त्रों में विधवाविवाह के प्रमाण विधवाविवाह के अवरोध में दिए जाने वाले कारणों विधवाविवाह से समाज को होने वाले लाभ के बारे में गंभीर विचार किया है। रूढ़िवादियों द्वारा विधवा विवाह के विरोध में 'पराशर स्मृति' को भी प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक मानने में संकोच नहीं' किया गया।[91] उन्होंने स्वार्थी धार्मिकों की धन लालसा के बारे में लिखा। आज यदि कोई राजा महाराजा किसी विधवा कन्या से पुनर्विवाह करना चाहे तो राजान्न पोषित सब पंडित व्यवस्था कर देंगे

कि विधवाविवाह शास्त्र सम्मत है परंतु इन दुखियाओं को कौन पूछता है ? बरंच पंडितों ने विधवाविवाह का खंडन अपनी जीविका का हेतु बना रखा है।[92] विधवाओं की समस्याओं को जानने के लिए उन्होंने कई वृद्ध और बाल विधवाओं से बात की। लज्जा, भय और बड़े संकोच से विधवाओं ने कहा हमसे क्या पूछते हो, हमसे इस विषय पर पूछना वृथा है, हम कुछ मुँह से नहीं कह सकती। यदि कहें तो बे मौत मारी जाएँ। हमारी वह दशा है कि जैसा कोई मनुष्य फाँसी दिया जाएगा और उसके लिए यह भी हुकुम हो कि अपने फाँसी दिए जाने के वास्ते रो भी ना सके और किसी की मदद भी ना ले सके।[93] ऐसी कातरता सुनकर उन्होंने विधवा विवाह के लिए आंदोलन प्रारंभ किया, लेकिन अपना स्वर संतुलित रखा। ''मैं विधवा विवाह शास्त्रोक्त समझता हूँ। इसी से विधवाविवाह का पक्ष मुझे अभिमत है यदि विधवा विवाह को अशास्त्रोक्त कोई महाशय सिद्ध कर दें,तो मैं इसको शास्त्रोक्त ना कहूँगा केवल लौकिक मानूँगा। यदि इसको लोक से भी निषिद्ध कर दें तो फिर इसका आंदोलन छोड़ दूँ। यहाँ आग्रह की बात नहीं है।[94] इस तरह उन्होंने यह पहल प्रारंभ की और विचार करने पर उन्हें अनुभूति हुई कि वह बाल विधवाओं के दुख के निमित्त कारणों में प्रथम कारण माता-पिता और द्वितीय कारण समाज के चालक व पंडित लोग हैं। उन्होंने नवजात कन्या को मार देने जैसी कुप्रथा का भी विरोध किया। बाल विवाह में वर कन्या गुड़िया गुड्डे की तरह होते हैं उनकी अबोधता इस संस्कार के प्रति बालोचित होती है। गोस्वामीजी विधवाओं को ब्रह्मचर्य पालन करने की अपेक्षा का भी विरोध करते हैं। वह उन वृद्धाओं से ब्रह्मचर्य पालन की बात स्वीकारते हैं जिनके दो चार पुत्र हो अथवा प्रौढ़ हो वह ब्रह्मचर्य पालन कर सकती हैं बालिकाओं को नहीं। इस बारे में उनके विचार बहुत सुलझे हुए थे।

'क्या इस विवाह से यह समझा जाएगा कि यह विवाह वर-कन्या ने अपने आप किया। या यह कहा जाएगा इस अज्ञान अवस्था में जो विवाह के मंत्र पुरोहितों ने अपने आप पढ़ दिए, उनकी पाबंदी इन बालकों पर हो गई! या जो जोड़ी माँ-बाप ने आप पसंद करके या जन्मपत्री मिलाकर मिला दी या बालकों के गले बाँध दी वह बँध गई ? न शास्त्र में इसकी विधि है, न कानून और न न्याय में ऐसा कोई माँ-बाप का हक है। हाँ अंधपरंपरा की दूसरी बात है। जब ऐसा कच्चा, आधा, अनुचित विवाह हो गया और उसके 5-6 महीने या वर्ष दिन पीछे कन्या विधवा हो गई तो इसका दंड क्या कन्या को होना चाहिए ? इसका दंड

कन्या को कभी नहीं हो सकता।[95] उन्होंने वैष्णव आचार्य होते हुए भी निर्भीकता से कहा कि–"यदि हम हिन्दू लोगों को न्याय में कन्या को दण्ड देना ही उचित है, तो कन्या के साथ उसके माता–पिता, सास–ससुर दोनों कुल के पुरोहितों को भी काला पानी होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं सबने मिलकर उसे आजन्म दु:ख में डाला।"[96] इस संदर्भ में उन्होंने आक्रोश और क्रोध में जन्मपत्री मिलाने वाले, और उसके फलादेश का अंजाम मृत्यु आता है तो ऐसों को 'कैरोसीन ओइल' डालकर फूंक देना चाहिए। उन्होंने परंपरावादियों को विधवा को ब्रह्मचारिणी रखने के 'पुण्य' की भी कटु आलोचना की।

"उसमें जो दुख के उच्छ्वास उठते हैं, वह भारतवर्ष को भस्म करने को कम नहीं है। सारी रात उसे तारे गिनते और रोते–पीटते बीतती है, उस समय न कुल की लज्जा सहायता करती है, न माता–पिता की प्रतिष्ठा उसको समझाती है, न ब्रह्मचर्य के व्रत का अदृष्ट फल उसे सहारा देता है।" काम के आवेग को सतयुग के बद्ध ऋषि–मुनि नहीं संभाल पाते तो इन पर यह बोझ डालना उचित है? "भला जो ऋषि मुनि वर्षों तक तप करते रहे, वन में कंदमूल या पवन भक्षण कर जीवन धारण करते थे, एकान्त में समाधि में लीन थे, वह वृद्ध होकर सतयुग में भी काम को अपनी विद्या, बुद्धि, विवेक से केवल रोक न सके, तब बिचारी निरक्षर, घर में कैद, काम के नित्य नवीन वेगों से आक्रांत होकर युवती विधवा में कलयुग में काम दमन कर सकती है?[97] इस तरह एक मंदिर के आचार्य होते हुए भी उन्होंने भारतीय समाज की इस बुराई के निवारण के लिए हर संभव प्रयास किए। विधवा विवाह के बारे में हमारे धर्म–शास्त्र में दिए गए विधानों को पुस्तिका के द्वितीय भाग में विस्तार से प्रमाण दिए हैं। इस कुरीति के दुष्परिणामों को उन्होंने अपने वृंदावन के अनुभवों से भी बताने और सुधारने का प्रयास किया। तीर्थों में विधवाओं के निवास, आश्रम से व्यभिचार भी पनपता है। 'हजारो व्यभिचारी तीर्थ सेवन' करते हैं।

"जो हमारी बात में किसी को संदेह हो तो वह थोड़ा श्रम स्वीकार करें, वृंदावन, मथुरा, काशी,प्रयाग, अयोध्या आदि में विधवाओं का जोर जाकर देख लें। जैसा कि मैं वृंदावन में तमाम बंगाल, राजपूताना आदि की हजारों विधवाओं का उदाहरण देता हूँ कि ये घर छोड़ छोड़ कर यहाँ आकर रहती हैं और सर्वसाधारण व्यभिचारी भी जो यहाँ किसी निमित्त से वास करते हैं, परस्पर अपना प्रेम कर देते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि बड़े–बड़े मंदिर, महात्माओं की कुटी,

मनोहर तीर्थ स्थान केवल कोई व्यभिचार से खाली नहीं मिलते और प्रतिदिन भ्रूण हत्या होती है। ऐसी ही काशी आदि की दशा है। हमारे लिए यह बड़ा भाग भयंकर परिणाम नहीं है? क्या हम लोगों को ऐसे प्रसंगों से लज्जा नहीं होनी चाहिए? क्या तीर्थों की शुद्धि नहीं करनी चाहिए? यदि विधवाओं का विवाह हुआ करे, तो यह तीर्थ जो व्यभिचार से गंदले हो रहे हैं, सिर्फ ही शीघ्र ही निर्मल हो जावें।''[98]

कर्मेन्दु शिशिर ने राधाचरण गोस्वामी की प्रकाशित पुस्तकों और निबंधों की सूची दी है। अब तक ऐसे महत्त्वपूर्ण रचनाकारों का साहित्य धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है, यह हिन्दी जगत का दुर्भाग्य है। भारतेन्दु की पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण और भारतेन्दु एवं उस समय की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में प्रकाशित रचनाओं का यदि प्रकाशन संस्थाओं या सरकार द्वारा हो जाता तो पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध की रचनाशीलता की तेजस्विता के भारतीय नवजागरण के अध्येताओं के लिए अप्रत्याशित प्रमाण मिलने की संभावना है। एक शतक बाद राधाचरण गोस्वामी की रचनाओं का एक संकलन हमारी उदासीनता और स्रोतों तक पहुँचने की दुर्गमता का भी संकेत है। इस संकलन में उन्होंने गोस्वामी जी के विधवा विवाह के अतिरिक्त विदेश यात्रा के बारे में गंभीर अध्ययन और शास्त्रगत तथ्यों के द्वारा इसके पक्ष में दिए गए विचार समाज हित और देशहित के दायित्व को व्यक्त करते है। धर्म के विरोध की नहीं, धर्म के पक्ष में रहकर भी दृष्टि का कोण बदलने की आवश्यकता है। पश्चिमोत्तर प्रांत में विदेश प्रवास के बारे में रूढ़िचुस्तता को बताते हुए लेखक इसके स्पष्ट कारणों का संकेत देता है:

''बहुत अनुसंधान किया, तो मालूम हुआ कि हमें विदेश यात्रा से रोकने वाले प्रथम ब्राह्मण पंडित, द्वितीय जाति के मुखिया लोग, तृतीय आचार-विचार हैं। शास्त्र की कोई आज्ञा नहीं कि विदेश मत जाओ। सो आचार-विचार का प्रबंध तो हो सकता है, पर ब्राह्मण, पंडित और जाति के पुराने बुड्ढे अंध परंपरा के आगे ब्रह्मा की भी नहीं मानते।''[99] इस संयमित शब्दों के साथ वे सात्विक क्रोध भी प्रकट करते हुए उनकी तुलना 'रोम के पोप लोगों' से करते हैं।

''हम उन ब्राह्मणों को हजारों प्रणाम करते हैं, जो देश की, समाज की, दुर्दशा के दमन करने में लगे हुए हैं और हम उन सत्य वक्ता ऋषि लोगों के वाक्यों की श्रद्धा करते हैं, जो समयानुरूप समाज की सुव्यवस्था करते रहे, परंतु हम

मिथ्याडम्बर, चतुर, दुराग्रही ब्राह्मणों की एक बात को भी नहीं मानेंगे और न इनके कुटिल कटाक्ष वानरास्फालन से डरेंगे, क्योंकि देश और समाज की उन्नति ही अपने जीवन का व्रत है।''[100]

'जैसा काम वैसा परिणाम' (1878) प्रहसन पतिव्रता मालती पर अत्याचार गुजारते अमीर रसिकलाल की वैश्या आसक्ति और मोहभंग पर आधारित है। तीन दिन बाद घर आया रसिकलाल खाने में सुरुवा न मिलने पर पत्नी को हरामजादी, लुच्चिन कहता है,और उसे धक्का देकर मोहिनी के पास चला जाता है। मालती पड़ोसी मंगला के सामने अपराधबोध में पति के चले जाने से स्वयं को कोसती है, तो नाउन के पैर की धूल माथे पर चढ़ना चाहती है जो अपने पति का प्रेम पाती है: ''ठकुराइन! तेरे समान सुखी पृथ्वी में कोई न होगी। गहना, कपड़ा, सोना, चांदी का काम कौन है। दूध, मलाई ना भी मिला तो क्या, सांझ के बाद दो दिन में जो साग-पात भी खाने को मिलै और महल दुमहिला छोड़ पेड़ के तले जो सोना मयस्सर हो सो अच्छा, पर जो अपना मालिक अपने कहे में ना हो तो। अपना आदमी जो तन दे तो तिरिया जात को और चाही का। उसके समान भाग्यवान और कौन होगा।''[101] मालती नाउन से अपना दुख कहती है, दूसरी ओर रसिकलाल वेश्या मोहनी के दरवाजे पहुँचता है जो धन इसका उड़ाती है और उसके मित्र राधा बल्लभ दास पर आसक्त है। भेद खुलने पर वह स्वयं को देखकर आता है और भूल सुधारने का मन बनता है। हाँ अब मेरा किस तरह निस्तार होगा निसंदेह उसे सती को कष्ट पहुँचाने के कारण मेरी आज यह दुर्दशा हुई अब तो जैसे हो उसे सती को प्रसन्न करने ही में मेरा कल्याण है। सच है जिसका जैसा काम होता है उसका वैसा ही परिणाम मिलता है।[102] इस समस्या मूलक प्रहसन में ठोकर खाकर सुधरने की प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को केंद्र में रखा है।यह विश्वास भी प्रकट किया है कि कुलवती नारी अपने सदाचार के बल पर कुमार्गी पति को सुमार्ग पर ला सकती है।

पंडित गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) सामाजिक उपन्यास है इसमें नारी शिक्षा को केंद्रीयता मिली है। छोटी बहू के शिक्षित होने से परिवार को हो रहे लाभ पर उपन्यासकार का फोकस है। मेरठ के वैश्य परिवार के रीति-रिवाज, संस्कारों एवं बोली वानी का विनियोग करके सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। बाल विवाह, विधवा विवाह विवाह में फिजूल खर्ची, स्त्रियों की आभूषणप्रियता की वृद्धि, परिवार में अलग्योछा की समस्या को बड़ी कुशलता

से गूँथा गया है। छोटी बहू सुखदेई शिक्षित है, वह मोहल्ले की लड़कियों को काढ़ना-बुनना और पढ़ना-लिखना सिखाती है। लेखक का उद्देश्य बनियों के घर परिवार की जीवन शैली से परिचित कराना है। उन्होंने लिखा है: ''इस देश में बनिये जन्म मरण विवाह में क्या-क्या करते हैं, पढ़ी-लिखी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या-क्या अंतर है, बालकों का पालन पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए। स्त्रियों का समय किस-किस काम में व्यतीत होता है और क्यों कर होना उचित है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम करती है उससे क्या-क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब इस काम को करती है, तो उसे क्या-क्या लाभ होता है। स्त्रियों की वह बातें जो आज तक नहीं लिखी गई, मैंने खोज कर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक-ठाक वही लिखा है, जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है''[103]

हरदेई देवरानी और ज्ञानो जेठानी के कार्य व्यवहार, सोच और स्वभाव के अंतर को दर्शाया गया है। उपन्यास में विधवा समस्या और बाल विवाह की कुरीतियों से संबंधित दो प्रसंग है। हरदोई के मामा की बेटी का 9 वर्ष की आयु में विवाह हो गया था। एक दिन पति छत पर पतंग उड़ाते समय गिरकर मर जाता है। 10 वर्ष की लड़की को कठिन वैधव्य भोगना पड़ता है:

''क्या इसका जी नहीं चाहता होगा। सात फेरों की गुनहगार है। पत्थर तो हमारी जाति में पड़े हैं मुसलमान और सब लोगों में दूसरा विवाह हो जाए है, और अब तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गुर्जर, नाई, धोबी, कहार, अहीर आदमियों में तो दूसरे विवाह की कुछ रोक-टोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से संभाषण नहीं हुआ हो और विवाह के पीछे पति का देहांत हो जाए तो वहाँ पुनर्विवाह योग्य है अर्थात उस स्त्री को दूसरा विवाह कर देने से कुछ दोष नहीं।''[104] इस विचार के बाद भी समाज के बंधन न तोड़ने की विवशता व्यक्त की गई है। बाल विवाह के दुष्परिणामों से परिचित कराता लेखक शिक्षित हरदोई के पुत्र मोहन की सगाई 7 वर्ष में नहीं करवाना चाहता। उसके माता-पिता 15-16 वर्ष से पहले विवाह सगाई नहीं करना चाहते थे परंतु अपने पिता की दबाव में बेटे की सगाई करने को विवश हो जाते हैं।[105] इसमें शिक्षित और अशिक्षित के अंतर को बताते हुए बड़े-बड़े समाज की कुरीतियों, अंधविश्वासों और बाह्यचारों को अभिव्यक्त मिली है।

लाला श्रीनिवास दास के परीक्षा गुरु (1882) में भी बनियों की रीति नीति

और जीवन शैली का वर्णन है। दिल्ली का रईस मनमोहन प्रमुख पात्र है। यह कथा प्रधान न होकर उद्देश्य प्रधान है। 41 प्रकरणों में विभाजित यह उपन्यास लाला मनमोहन के मोह भंग को प्रकट करता है, जो कसौटियों से गुजर कर ही यथार्थ को जान पाता है। उसके मित्र ब्रजकिशोर जो एक आदर्श पात्र है, उसे कठिन समय में मदद करता है। ठोकर खाकर मनमोहन सोचता है: ''हे परमेश्वर यह क्या भेद है मेरी दशा बदलते ही सब संसार के विचार कैसे बदल गए और जिसे मेरा किसी तरह का संबंध न था वह भी मुझे अकारण क्यों तुच्छ समझने लगे ? जिन लोगों को मेरी योग्यता और सावधानी के सिवाय अब तक कुछ नहीं दिखाई देता था उनको अब क्यों मेरे दोष दृश्य आने लगे ?''[106] लाला ब्रजकिशोर को वह अपनी दुविधा बताता है, तो ब्रजकिशोर कहता है, जो लोग स्वार्थवश प्रीति करते हैं उनका कलाई ऐसे अवसर पर खुल जाती है।[107] परीक्षा से सीख लेने और सुधारने का उद्देश्य पूर्ण होता है: ''जो सच्चा सुख, सुख मिलने की मृगतृष्णा से मदन मोहन को अब तक स्वप्न में भी नहीं मिला था वही सच्चा सुख ब्रजकिशोर की बुद्धिमानी से परीक्षागुरु के कारण प्रमाणिक भाव से रहने में मदन मोहन को मिल गया!!!''[108]

श्रद्धाराम फुल्लौरी का भाग्यवती (रचना 1877, प्रथम प्रकाशन 1887) भी उद्देश्य प्रधान उपन्यास है। पंडित उमादत और वासुदेव शास्त्री के परिवार शिक्षित और खुले विचारों के हैं। प्रचलित सामाजिक कुरीतियों पर विवेकपूर्ण निर्णय लेकर अपने बच्चों को पढ़ाते हैं। शिक्षित होने के कारण भाग्यवती की व्यवहार बुद्धि अन्यों से अलग है। इस चरित्र प्रधान उपन्यास में भाग्यवती की विभिन्न घटनाओं में कसौटी होती है। लेकिन वह अपनी दृढ़ता, विचार शक्ति और व्यवहार कुशलता से उन समस्याओं से उबर जाती है। जिठानी, नन्द के द्वारा छल से उसका घर से निष्कासन होता है। शिक्षित पति भी साथ नहीं देता लेकिन वह पिता के यहाँ न जाकर अपने आप संकटों में मार्ग निकलती है। टोने-टोटके, भूत-चुड़ैल, साधु-संतों के प्रति अकारण और अतार्किक श्रद्धा और विश्वास का भाव इन सब चीजों को साहसपूर्वक निरस्त करके एक वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि के विकास का उद्यम यहाँ स्पष्ट है।[109] यद्यपि भाग्यवती के पात्र में घटनाओं के उतार-चढ़ाव नहीं आते, उसकी दुविधा, द्वंद का चित्रण यहाँ नहीं है। उपन्यास का सारा जोर ऐसे शिक्षित पात्र के निर्माण पर रहा है जो दृढ़ता से समस्याओं में मार्ग निकाल लेता है। 19वीं सदी का यह रोचक उपन्यास है और भाग्यवती उत्तम शिक्षित आदर्श बहू।

सीमान्तनी उपदेश (एक अज्ञात हिंदू औरत की रचना)

डॉ. धर्मवीर ने 1888 में इसका संपादन किया था। हिंदी पाठकों के समक्ष एक स्त्री की दृष्टि से तत्कालीन समाज के सामाजिक विकारों को देखने समझने और अनुभव करते हुए इसने पिछड़ी हुई स्त्री चेतना को झिझोंड़ दिया था।[110] शायद फारसी लिपि में लिखी इस पुस्तक का लिपियातंरण ऋषिराम गौड़ ने किया था।[111] सीमान्तनी उपदेश प्रारंभ में खुदा की स्तुति और फरियाद को काव्य (गजल) में प्रस्तुत करने के बाद गद्य में प्रार्थना करती है। हे जगत पिता, क्या तूने हमको पैदा नहीं किया, क्या हमारा पैदा करने वाला कोई और खुदा है। लोगों ने तेरा नाम मर्द करार दिया इसलिए तू भी हिंदियों की तरह बेरहम बन गया है। अगर तुझको हमारी यही हालत मंजूर थी तो हमारी पैदाइश किसी और तरह से करता। जिससे हमको भी तसल्ली होती और मजयूलों की फरियाद तो दुनिया की अदालत में भी सुनी जाती है, क्या तूने हम मजमुलों के लश्कर को देखकर अपनी अदालत का दरवाजा बंद कर लिया है।[112] स्पष्ट है कि यह प्रार्थना एक युक्ति है। अपनी समस्याओं को प्रकट करने के लिए इसका आधार लिया गया है। मजमुलों का लश्कर देखकर अदालत के दरवाजे बंद कर लेने का प्रश्न उठाकर अपने जैसों के दुख पीड़ा और संकट की गंभीरता का संकेत किया गया है। यह कृति भारतीय समाज में स्त्री पुरुष में असमानता, स्त्री को इंसान के रूप में समझने वालों की सौ पचास ही संख्या होना, अपने शोषण के लिए समाज द्वारा परंपरा का अनुसरण करने का कहकर बचाव को निर्दिष्ट करती है। इस रचना विधान में वह हिंदी बहनों के धर्म और सामाजिक रीति रिवाज के नाम पर पराधीनता, शोषण और अत्याचार के उदाहरण प्रस्तुत करती है। जेवर का शौक भारतीय स्त्रियों की कमजोरी है। चार प्रकारों में विभक्त करके जेवर के लिए सहन किए गए अत्याचारों का विस्तार से वर्णन दिया है। विभिन्न जेवरों से शरीर की तकलीफों को बताते हुए सजग करती है: ''अगर कहो कि हमारे बाप दादा की रस्म है, नहीं, यह बेड़ियाँ आपकी ही इजाद की हैं, खूब याद रखो जब तक खुद इन बेड़ियों को न उतारेंगी चाहे हिंदुस्तानी विलायत में तालीम पावें कभी शायस्ता नहीं बन सकते..... तुमने इस तरह अपने बदन में सुहाग को जगह–जगह छुपाया मगर अफसोस फिर भी एक खाविंद के मरने से सारी उम्र रोना पड़ौ। बस अब इन जेवरों से निकाल कर सुहाग को दिल में जगह दो ताकि सुहाग दूसरी जगह

ना जावे।''[113] सीमांतनी उपदेश में विधवा समस्या और पतिव्रत धर्म पर व्यक्त विचार तत्कालीन समय से बहुत आगे के हैं। एक स्त्री की दृष्टि और प्रबुद्ध विधवा के अनुभव अनुशीलन के कारण इसका विशेष महत्त्व है। लेखिका तथ्यों द्वारा यह प्रमाणित करती है कि विधवाओं पर भ्रष्ट होने का आरोप, भ्रूण हत्या आदि के लिए विधवा नहीं समाज और उसके रीति रिवाज जिम्मेदार हैं, दोषी हैं। एक निहायत दर्दनाक विधवा औरत का हाल प्रकरण में 5 वर्ष की एक अमीर लड़की पार्वती का प्रसंग वर्णित है। माँ के मरने पर पिता उसकी अमीर घर के लड़के से शादी करता है, वह दो महीने में चेचक से मर जाता है। पार्वती 18 वर्ष तक अपना धर्म संभाले रहती है। पिता चौथी शादी करता है। पार्वती के एक नौकर से खराब होने पर स्वयं पर संयम न रखने वाला और चार–चार विवाह करने वाला पिता उसे जहर देकर उसका हैजे से मरने का प्रचार करता है।[114]

यह रचना एक पत्नी के मरने पर तुरंत दूसरी शादी और विधवा को विवाह न करने की छद्म नियमों और इंद्री संयम दमन का विरोध करती है। इसी तरह पतिव्रता रूप में स्त्री की मर्यादाएँ और पुरुषों की स्वच्छंदता को भी समाज और धर्म के अंतर्विरोध को रेखांकित किया गया है। वह विरोध के स्वर में कहती है: ''एक गरीब भोली हिंदिनियो, इस खुद मतलबियों की कहने को हरगिज़ मत मानो। तुमको पतिव्रता महात्म्य सुनाते हैं और तुम्हारे खाबिंदों को कोकशास्त्र और नायिका भेद और बाहर ऐश और निशा की पोतिया सुनाया कर कहते हैं। इस दुनिया में जिसने दो चार, 10 20 कन्याओं से संग नहीं किया उसका पैदा होना ही निष्फल है।.... मैं यह नहीं कहती कि धर्म को ही छोड़ दो बल्कि सच्चे दिल से इस धर्म को करो। सच्चे दिल से धर्म तब हो सकता है जो तुम्हारे खविंद तुम्हारा ख्याल करें। यह ख्याल तब कर सकते हैं जब जनाकारी से बाज आएँ।''[115]

19वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधारों के परिप्रेक्ष्य में इस रचना को देखें तो सीमान्तनी उपदेश एक मील का पत्थर प्रमाणित होती है। भारतीय समाज में धर्म और सामाजिक रिवाजों में घुस गए पाखंडों को सुधारकों के प्रयासों के बीच भारतीय समाज की प्रमादता पर यह एक विधवा स्त्री की कलम से खुले विद्रोह को अभिव्यक्त मिली है।

संदर्भ

1. महीपतराम ग्रंथावली खंड 1, पृष्ठ 224
2. मारी हकीकत, पृष्ठ 70–71
3. वही, पृष्ठ 85
4. वही, पृष्ठ 85
5. नर्मगद्य 2 पृष्ठ 274
6. नर्मगद्य 2, पृष्ठ 276
7. वही, पृष्ठ 280
8. वही, पृष्ठ 281
9. वही, पृष्ठ 282
10. जूनूं नर्मगद्य, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, बोम्बे, पृष्ठ 284
11. संपादकीय, रमेश म. शुक्ल, नर्म कविता खंड 2
12. रा. वि. पाठक, नर्मद : अर्वाचीन गद्य–पद्यनो आद्यप्रणेता, पृष्ठ ष्ठ 63
13. नर्म कविता खंड 2, पृष्ठ 62–63
14. नर्मः नाट्यो अपने संवादो, सं रमेश म शुक्ल, पृष्ठ 50
15. निबंधमाला, यूनियन प्रेस मुंबई, पृष्ठ 8
16. कुटुंबमित्र (1867), यूनियन प्रेस, पृष्ठ 67–69
17. वही, पृष्ठ 16–17
18. वही, पृष्ठ 184–186
19. कुटुंबमित्र, पृष्ठ 2
20. सत्यप्रकाश, अंक 12 मार्च 1860, पृष्ठ 141–142
21. महीपतराम ग्रंथावली खंड–1, पृष्ठ 56
22. नवलग्रंथावलि खंड 1, सं. रमेश म. शुक्ल, पृष्ठ 357
23. वही, पृष्ठ 192
24. वही, पृष्ठ 350
25. वही, पृष्ठ 353
26. वही, पृष्ठ 372
27. वही, पृष्ठ 372
28. वही, पृष्ठ 374
29. नवलराम, रमेश म. शुक्ल, पृष्ठ 50
30. बाल द्रोहनुं महापाप, नवलराम खंड 1, पृष्ठ 269
31. नवलराम खंड–1, पृष्ठ 273
32. नवलराम खंड 2, पृष्ठ 27

33. म.न.द्विवेदी साहित्य श्रेणी-6, पृष्ठ 163
34. वही, पृष्ठ 62
35. वही, पृष्ठ 41-42
36. वही, पृष्ठ 44
37. वही, पृष्ठ 133-134
38. धीरूभाई ठाकर, मणिलाल द्विवेदी (अनुवाद लाभशंकर पुरोहित) गुजराती साहित्य परिषद 2003, पृष्ठ 48
39. वही,उद्धृत, पृष्ठ 48-49
40. ललितादु:खदर्शक, पृष्ठ 169
41. गुजराती नाटक, सतीश व्याससे उद्धृत, पृष्ठ 34
42. वही, पृष्ठ 35
43. सरस्वतीचंद्र, खंड 2, पृष्ठ 139
44. सरस्वतीचंद्र खंड 4, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ 159
45. सरस्वतीचंद्र खंड 1, पृष्ठ 77
46. वही, पृष्ठ 303
47. सरस्वतीचंद्र खंड 4 उत्तरार्द्ध, पृष्ठ 74
48. सरस्वतीचंद्र खंड 4 पूर्वार्द्ध, पृष्ठ 306
49. भारतेंदु रचनावली 6, पृष्ठ 30
50. वही, पृष्ठ 29
51. रस्साकशी, पृष्ठ 180
52. वही, पृष्ठ 181
53. भारतेंदु रचनावली 6, पृष्ठ 93
54. वही, पृष्ठ 98
55. वही, पृष्ठ 98
56. भारतेंदु रचनावली-एक, पृष्ठ 55
57. वही, पृष्ठ 70
58. वही, पृष्ठ 118-119
59. भारतेंदु रचनावली-6, पृष्ठ 7
60. समीर कुमार पाठक, भूमिका, बालकृष्ण रचनावली दो, पृष्ठ 23
61. बालकृष्ण भट्ट रचनावली-2, पृष्ठ 217
62. वही, पृष्ठ 304
63. वही, पृष्ठ 362
64. वही, पृष्ठ 55-56

65. वही, पृष्ठ 61
66. वही, पृष्ठ 83–84
67. वही, पृष्ठ 157
68. वही, पृष्ठ 158
69. वही, पृष्ठ 134
70. वही, पृष्ठ 135
71. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–एक, पृष्ठ 348
72. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–दो, पृष्ठ 281–182
73. वही, पृष्ठ 126
74. वही, पृष्ठ 109
75. रस्साकशी, पृष्ठ 166
76. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–पृष्ठ
77. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, पृष्ठ 82
78. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली–तीन, पृष्ठ
79. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली–तीन, पृष्ठ 15
80. वही पृष्ठ 42
81. वही पृष्ठ 43
82. वही पृष्ठ 43
83. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली दो, पृष्ठ 190
84. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली दो, पृष्ठ 72–73
85. नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र से उद्धृत, पृष्ठ 222
86. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली– तीन, पृष्ठ 24
87. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली– तीन, पृष्ठ 217
88. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली एक, पृ 102
89. वही, पृष्ठ 106
90. हिंदी नवजागरण राधाचरण गोस्वामी, पृष्ठ 37–38
91. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली एक, पृष्ठ 206
92. वही, पृष्ठ 206
93. वही, पृष्ठ 208
94. वही, पृष्ठ 209
95. वही, पृष्ठ 213
96. वही, पृष्ठ 213।
97. वही पृष्ठ 217–219

98. वही, पृष्ठ 229
99. वही, पृष्ठ 255-256
100. वही, पृष्ठ 258
101. बालकृष्ण भट्ट रचनावली: 4, पृष्ठ 229
102. वही, पृष्ठ 2-42
103. भूमिका, 'देवरानी जेठानी की कहानी' पृष्ठ 23
104. वही, पृष्ठ 48
105. वही, पृष्ठ 47
106. परीक्षागुरु, पृष्ठ 146-147
107. वही, पृष्ठ 147
108. वही, पृष्ठ 177
109. मधुरेश, भूमिका, परीक्षागुरू, पृष्ठ 18
110. रस्साकशी, पृष्ठ 199
111. डा. धर्मवीर, भूमिका-एक, पृष्ठ 30
112. सीमांतनी उपदेश, पृष्ठ 42
113. वही, पृष्ठ 52-53
114. वही, पृष्ठ 80-83
115. वही, पृष्ठ 112-113 महीपतराम ग्रंथावली खंड 1, पृष्ठ 224

अध्याय-चार

स्वत्व की पहचान और शिक्षा

परतंत्रता की पीड़ा और स्वत्व की पहचान की प्रबल अभिव्यक्ति सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम में हुई। इस महाआख्यान के अनेक आयाम हैं जिन्हें इतिहासकारों ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषित किया है। राजाओं, सामंतों के अतिरिक्त उसमें साधारण प्रजा का भी योगदान था जो समय-समय पर छोटी-छोटी घटनाओं से अपना प्रतिरोध प्रकट करती रही। पंकज राग स्वाधीनता संग्राम में लोक के स्रोतों का विश्लेषण करते हैं: ‘‘1857 के विद्रोह ने लोगों को एक ऐसा मौका दिया जिसमें अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में अंग्रेजों की सत्ता और अधिकार की अवहेलना कर सकते थे। ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिसमें किसी भिश्ती ने अंग्रेजों को पानी देने से मना कर दिया, खानसामे जानबूझकर मेहमानों के सामने अधनंगे खड़े हो गए और संदेश वाहक लड़कों ने आदेशों के प्रति धृष्टता दिखाई।’’[1] इसी के साथ उन्होंने विद्रोहियों एवं अन्यों की धारणा को भी रेखांकित किया।‘‘विद्रोहियों की सबसे प्रबल आकांक्षा और चिंता, अपनी खोई हुई शक्ति और प्रतिष्ठा को वापस करना था जिसे ब्रिटिश हुकूमत और इसकी हस्तियों की नीतियों ने समाप्त कर दिया था। व्यापक और सामान्य वैचारिक धरातल पर अनेक लोगों के लिए इसका अर्थ था मुगल सल्तनत और क्षेत्रीय राजवंशों की वापसी; जबकि अनेक अधिकार च्युत जमीनदारों और स्थानीय स्तर पर जमीन के मालिकों के लिए इसका सीधा अर्थ था नीलाम खरीददारों का निष्कासन तथा अपनी जमीन और संपन्नता वापस पाना।’’[2] हितेंद्र पटेल 19 वीं सदी के इतिहास की दो समस्याओं की चर्चा करते हैं। एक, ‘‘जो राष्ट्रवादी विचारधारा का निर्माण कर रहे थे, वे एक साथ अपनी जाति और धर्म के लिए भी काम कर रहे थे। उनके लिए हिंदू धर्म, जाति धर्म और राष्ट्रीय धर्म एक साथ चलते थे। दूसरी बड़ी समस्या औपनिवेशिक शासन की नीतियों से भारतीय समाज पर पड़ने वाले दबावों और परिणामस्वरूप

आए वैचारिक बदलावों को नवजागरण से जुड़े बौद्धिक को समझने का आग्रह करना।''[3] वस्तुत विद्रोह अंग्रेजों के प्रति व्यापक घृणा का परिणाम था लेकिन अंग्रेज पुनः सत्ता पर आरूढ़ हो गए। सत्ता प्राप्त करने के बाद रानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र के बावजूद अंग्रेज हुकूमत की कथनी और करनी में अंतर रहा। बौद्धिक वर्ग कुछ समय आशान्वित रहा लेकिन धीरे-धीरे वास्तविकता से परिचित होता गया। नामवर सिंह जी ने परवर्ती जागरूकता को रेखांकित किया है: ''यह कम मूल्यवान नहीं है कि राजनीतिक मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध पाकर नवजागरण के उन्नायक हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ नहीं गए, बल्कि उन्होंने स्वत्व रक्षा के अन्य मोर्चों पर संघर्ष जारी रखा। वह संघर्ष था सांस्कृतिक मोर्चे का-सांस्कृतिक मोर्चे पर औपनिवेशिक मानसिकता और दिमागी गुलामी के खिलाफ संघर्ष कम कठिन न था। उपनिवेशवाद की छाया में भारतीय संस्कृति के लोप का खतरा था। इसलिए अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न स्वत्व रक्षा का प्रश्न बन गया था।''[4] उन्होंने भारतीय नवजागरण के धार्मिक रूप लेने के कारणों पर विचार किया है। मार्क्स म्यूलर के हवाले से धार्मिक दमन के आँकड़े दिए। 1885 तक भारत में 38 ईसाई मिशन समाज काम कर रहे थे जिनके विदेशी सदस्यों की संख्या 887 थी और देसी प्रचारक 751 थे तथा गैर ईसाई सहायक 2856 थे। 'ये ईसाई मिशन अन्य साधनों के अतिरिक्त स्कूलों और अस्पतालों के जरिए भी धर्म परिवर्तन करवा रहे थे। ऐसे वातावरण में स्वत्व का प्रश्न धर्म का प्रश्न बन गया था।'[5] अपने 'हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' लेख में नामवर सिंह ने प्राच्यविद्या (ओरिएंटलिज्म) को बड़ा खतरा माना, जिसने पश्चिम से भिन्न पूर्व का मिथक गढ़ा। इस प्राच्यविद्यावाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए भारतीय नवजागरण ने इतिहास की प्रतिदृष्टि विकसित की।[6] यही कारण है कि भारतीय भाषाओं के लेखकों ने अपने अतीत के प्रति गौरव और इतिहास का अनुशीलन किया। गुजरात के नर्मद और हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भारतीय इतिहास के प्रासंगिक प्रसंगों पर लेख लिखे। नर्मद ने 1874 ई. में राज्यरंग भाग 1 का प्रकाशन किया जिसमें प्रारंभ से 776 ई तक और भाग 2 में पाँचवीं सदी से 1858 तक के समय के इतिहास को अपने ढंग से विश्लेषित किया। इनमें विशेष रूप से राजकीय परिस्थितियाँ केंद्र में हैं, उसी के अनुषंग में तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति के मुख्य मुख्य लक्षण समाहित किए हैं।[7] इस इतिहास दर्शन ने साहित्यकारों को व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया। नर्मद ने गुजराती भाषा का शब्दकोश तैयार किया,

इस तरह वे अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों की तरह निजभाषा गुजराती के विकास के लिए कार्य कर रहे थे। उन्होंने गुजराती व्याकरण का भी निर्माण किया। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थलों, प्रसंगों, घटनाओं और पात्रों पर लेख लिखे। मणिकर्णिका, काशी, शिवपुरी का द्रोपदी कुंड, कन्नौज के राजा का दान पत्र, सारनाथ आदि लेख, महाराष्ट्र देश का इतिहास, दिल्ली दर्पण दरबार, बूंदी का राजवंश, हर्षदेव,रामायण का समय, मुसलमान राजत्व का संक्षिप्त इतिहास जैसे लेख पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होते रहते थे।

19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय प्रजा एवं उपनिवेशक शासकों के बीच कानूनों, नीतियों और व्यावहारिक धरातल पर घृणा और उपेक्षा के अनुभवों के कारण एक द्वंद्व और संघर्ष की भावना आकार लेने लगी थी। नई शिक्षा में दीक्षित अधिकांश वर्ग सरकारी नौकरी पाने की आशा में चाटुकारिता एवं शासक वर्ग की हाँ में हाँ मिलाने लगा था, तो राजे–महाराजे, सामंत और व्यापारी वर्ग भी नीतियों के मौन स्वीकार करने की स्थिति में थे। शिक्षकों का एक वर्ग ऐसा भी था जो भारतीय समाज, संस्कृति का संतुलित और विवेक सम्मत विश्लेषण करते हुए उसकी उदातत्ता और औदार्य के सकारात्मक पक्ष को समझने लगा था। इस नई चेतना का कारण तत्कालीन स्थिति–परिस्थितियाँ, ब्रह्म समाज, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद का आर्य समाज और ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ थीं, जिन्होंने शिक्षित वर्ग को सोचने पर विवश किया। इस प्रबुद्ध वर्ग ने एक ओर सरकारी नीतियों, कानूनों का तथ्यपूर्ण, तार्किक विश्लेषण करते हुए भारतीयों की करुण स्थिति को उद्घाटित करने का साहस दिखाया, दूसरी ओर इस कार्य से पराधीनता का बोध गहरा हुआ। इसकी अभिव्यति समाचार पत्रों, साप्ताहिकों और साहित्य में होने लगी। 1857 का महासंग्राम, आर्थिक नीतियाँ, प्रेस एक्ट, फ्री ट्रेड, इल्बर्ट बिल, गोरे काले का भेद, अभिव्यक्त की स्वतंत्रता का हनन जैसे मुद्दों पर मुखरता से लिखा जाने लगा। इससे जहाँ पर अधीनता का बोध गहराता जा रहा था। वहीं स्वत्व की पहचान की बेचैनी बढ़ रही थी। इसी समय एक धर्म, एक भाषा और एक जाति पर विचार विमर्श होने लगा।

नर्मद

नर्मद में प्रखर राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना थी। इतिहास की घटनाओं में वे 'अय्याशी मुगलों और लुटेरे मराठाओं' की कटु आलोचना करते हैं। रानी

विक्टोरिया के घोषणा पत्र की अपेक्षाओं के पूर्ण न होने के बारे में भी अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हैं। 'संघ (मंडली,सभा) बनाने के लाभ' उनका पहला साहित्यिक निबंध है जिसे 1851 ईस्वी में बुद्धिवर्धक सभा, मुंबई में पढ़ा था। इस निबंध का ऐतिहासिक महत्व है। चिंतन की प्रौढ़ता, इतिहास, संस्कृति पर गर्व और एक्य के महत्व पर तार्किक रूप से विश्लेषण करते हैं। सामुदायिक कार्य होने पर ही समाज को उसका फल मिलता है, अकेले व्यक्ति के यशस्वी होने से नहीं। मतैक्य की शक्ति न होने को भारत की दुर्दशा का कारण मानते हैं। ''कुछ लोग यह कहेंगे कि हमारी क्या दुर्दशा हुई है? तो देखिए-अपना राज चला गया, अपनी सत्ता चली गई, अपना शौर्य चला गया, अपना मान-सम्मान चला गया, अपना धन और सुख-चैन चला गया। हम मूर्ख, कायर, उद्यमहीन, व्यसनी और दरिद्र होते जा रहे हैं। हम इतने आलसी और विचारशून्य हो गए हैं कि हमें उद्यम करना रुचता ही नहीं है। गली-मोहल्ले में इसकी उसकी निंदा करने में तथा खाने और खिलाने की बातें करने में हमारा मन लगता है, ऐसी दशा है हमारी। जिस तरह से पशु अपना ही पेट भरता है, जिस तरह से अफ्रीका के नीग्रो तथा उत्तर अमेरिका के रेड इंडियन अपना जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे ही हम भी अपने दिन बिताते रहेंगे।''[8] नर्मद गौरवशाली अतीत का स्मरण करते हुए मुग्ध नहीं होते बल्कि उसके परिप्रेक्ष्य में वर्तमान स्थिति के प्रति गहरा क्षोभ प्रकट करते हैं। इसी लेख में अंग्रेजों की प्राचीन जंगली अवस्था का निर्देश करते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार वे सामूहिक विचार विमर्श से कार्य करने पर समृद्धशाली बने और विश्व के बड़े भूभाग के शासक बन गए।[9] यह तुलना उनकी देश चिंता और तत्कालीन भारत की स्थिति के प्रति उनके दुख को प्रकट करती है। गुजरात में उन्होंने सबसे पहले स्वदेशाभिमान पर विचार किया। यह निबंध उनकी देश निष्ठा, विवेक, बुद्धि और तार्किकता के साथ स्पष्ट वक्ता जैसे गुणों को प्रकट करता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि हमारे यहाँ परिवार और जाति के संदर्भ में जिस मात्रा में गौरव का भाव दिखाई पड़ता है, उस अनुपात में देश के संदर्भ में नहीं है।[10] देश के कल्याण, उत्थान में व्यवधान, ईर्ष्या, आपसी कलह, लड़ाई-झगड़ा, ऊँच-नीच के साथ एकता का भाव नहीं है। उन्होंने देशाभिमान को परिभाषित किया: ''स्वदेश प्रेमी कहलाने वाले तो बहुत है, किंतु जब देश के लिए कुछ करने का समय आता है तो कोने में खिसक जाते हैं। मात्र देशप्रेमी कहलाने के लिए बहुत लोग मेहनत करते हैं; किंतु सच्चे अर्थों में वे देश हितैषी

नहीं होते। मनुष्य अपनी प्रसिद्धि के लिए विद्या अध्ययन, व्यापार, धर्म, ज्ञान आदि में सिद्ध प्राप्त करता है, वह अपने परिवार में, अपनी जाति में, अपनी नगर में, यहाँ तक अपने देश में उसका नाम भले हो जाए, फिर भी उसे देश हितैषी तब तक नहीं कहा जा सकता, जब तक वह अपने परिवार, जाति के भरण-पोषण के लिए शहरी और ग्रामीण लोगों के स्थाई हित के लिए कुछ नहीं करता।''[11] उनकी देशाभिमानी की श्रेणी में अरण्यवासी ब्राह्मण भी आता है, जो एकांत कुटिया में बैठकर अपने कल्याणकारी विचारों को पेड़ की छाल पर लिखकर समाज को अर्पित करता है। स्वत्व की रक्षा करते हुए परमार्थी होना सच्चे देशाभिमानी का कर्म और धर्म है।''[12] अतीत की यात्रा वर्तमान की निराशाजनक स्थिति से उबरने के लिए है। उनकी निगाह से वर्तमान कभी ओझल नहीं होता। ''शौर्य तो बिल्कुल नहीं है; लाहौर के राजा जयपाल की बेईमानी तथा दौलताबाद के राजा की कायरता के कारण उत्तर और दक्षिण हिंदुस्तान जब से शक्तिशाली और विकराल सुल्तान महमूद और अलाउद्दीन खिलजी के नजर में आया, तब से हमारे राजा दहशत में आ गए। दो-चार को छोड़कर कौन से राजा मुसलमान के सामने युद्ध भूमि में पराक्रमपूर्वक टिके रहे। 'क्षत्रिय' नामधारी राजा औरतों की गोद की शरण लेकर मादक कसुंबा की पिनाक में नामर्द हो गए, यह शर्म की बात हुई है। एक राजवंश लड़ने के लिए जाता तो उसी का सगा दूसरा राजवंश उसके विरुद्ध मुसलमान के साथ मिलकर लड़ता। विचार नहीं करते कि आखिर वे विदेशी हैं; इसलिए उनसे डरना। अलग प्रांतों के अलग-अलग राजा बन गए और इस तरह बहुत सारे राज्य बनाकर आपसी कलह के कारण देश को तोड़ डाला।''[13] इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के बाद वे उन भाट-चारणों पर प्रहार करते हैं जो झूठी प्रशस्ति गाकर राजाओं को 'यश के ताड़' पर चढ़ा देते हैं। ''तुम लोग राजाओं के दोषों को उनके गुण कहकर उनका बखान करते हो? नीतिमान लोगों के प्रतिनिधि बनकर राजाओं को चेतावनी दो कि राजन! हम आपके प्रशस्ति गायक कहलाते हैं, किंतु आप में प्रशंसा योग्य कुछ तो है ही नहीं। इसलिए दोषों को छोड़कर गुणों को धारण करो और सच्चे अर्थों में हमें अपना प्रशस्ति गान करने दो। नहीं तो कुछ ही दिनों में आपको कंगाल होना पड़ेगा।''[14] नर्मद कवियों से पुरस्कार एवं प्रसिद्धि की चिंता किए बिना उनके आलस, प्रमाद और मूर्खता पर निंदा युक्त कविता लिखने के लिए प्रेरित करते हैं जिससे उनके मन में परिताप हो और अपने गिरे हुए कुल-गौरव को फिर

से प्राप्त कर सकें। विचारशून्यता के स्थान पर देशहित और देशप्रेम पर विचार करने का आह्वान करते हैं।[15] 1856 में लिखे इस निबंध में वे इतने व्यापक फलक पर देशहित के बारे में सोचते हैं और उसके लिए धर्म, समाज, कृषि ज्ञान, शिक्षा का विकास करने और उनके सार्वजनिक उपयोग पर बल देते हैं। वे संस्कृत की गौरवशाली परंपरा का स्वीकार करते हैं लेकिन उसमें निहित ज्ञान को लोक भाषाओं में रुपांतरित करने का आह्वान भी करते हैं।[16]

आधुनिक भाषाओं में भारतीय ज्ञान परंपरा के रूपांतरण का विचार 19 वीं शताब्दी के इस इतिहास पुरुष को आता है और वे उसे देशाभिमान से जोड़ते हैं, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं जब परंपरावादी भारतीय ज्ञान परंपरा को जस की तस रखने पर जोर दे रहे थे। नर्मद यह क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत करते हैं कि 'मनुष्य धर्म के लिए नहीं है, धर्म मनुष्य के लिए है।' इस तरह विभिन्न मतवादियों के हठाग्रह को त्याग कर सच्चे धर्म के बारे में सोचने का आग्रह करते हैं। 'विभिन्न मतवादियों की हठाग्रहों को आप लोग धर्म मानते हो, किंतु सच्चा धर्म क्या है, इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। इसलिए कड़ाही में आग में तपाए गए घी के समान शुद्ध धर्मतत्व की खोज में रहो।'[17]

नर्मद अंग्रेज शासन के शिक्षा संबंधित कार्यों के प्रशंसक थे लेकिन उसे सार्वजनिक करने के पक्ष में थे। इसलिए दूर–दराज की पिछड़ी जातियों के प्रति सरकार की शिक्षा के प्रति उपेक्षा का विरोध करते हैं। अपनी पत्रिका 'डांडियो' में उन्होंने स्पष्ट लिखा: ''या तो सरकार की यह प्रकृति है या वह जानबूझकर ऐसा कर रही है अथवा वह अज्ञानी है। चिकली, बालोद, बगवाड़ा जैसे क्षेत्रों में ढोडिया नामक जाति है जो सरकारी जमीन को जोतते हैं। वे जंगली स्थिति में हैं, उन्हें एक तरह से पशु कह सकते हैं। ऐसे लोगों को शिक्षित करने के लिए सरकार की ओर से क्यों प्रयत्न नहीं होना चाहिए? क्या वे मनुष्य नहीं है? वे भी मनुष्य हैं। ताबेदार प्रजा हैं इसलिए उनकी हालत सुधारने के लिए सरकार को सहायता करनी चाहिए।''[18] नर्मद निरंतर निडरता से वस्तुस्थिति पर अपने विचार प्रकट करते थे, जिनमें अंग्रेजी शासन की आलोचना होती थी। उन्होंने सरकारी नीतियों का विरोध किया। नर्मद के गुजराती अध्येता रा.वि. पाठक ने ऐसे अंशों को उद्धृत किया है जिनको पुस्तक सरकार द्वारा पुन: प्रकाशित करने के लिए संपादक महीपतराम रूपराम नीलकंठ ने सरकार की आलोचना करने वाले अंशों को हटा दिया था।

‘‘हम परराज्य (दूसरे देश) की डरपोक प्रजा हैं, हमसे परदेसियों का यथार्थ मोह दूर हो गया है।’’[19] ‘‘राज्य संबंधी विषय में जनता की समझ इतनी बढ़ेगी कि वे सत्ताधारियों के कानून और अमलदारों के कार्यों पर निगाह रखने लगेंगे।’’[20] इस तरह राज्य, कानून, धर्म से संबंधित विचारों में आए परिवर्तन को नर्मगद्य से हटाने का कारण सरकारी खर्च से पुस्तक प्रकाशन था। रा. वि. पाठक उनकी दृष्टि और श्रद्धा के परिवर्तन को सजगता और देशनिष्ठा का प्रमाण मानते हैं। ‘‘इस परिवर्तन में क्या-क्या बदला, वह देखते हैं। प्रथम तो यह परिवर्तन किसी तथ्य या मात्र साधन या कार्यक्रम का नहीं परंतु समग्र दृष्टि या श्रद्धा का परिवर्तन है। इस परिवर्तन में हमने पहले देखा, उस तरह देशाभिमान की ऐहिक सुखों के लिए उग्र प्रवृत्ति की दृष्टि ही इष्ट नहीं है, धर्म ही परम पुरुषार्थ है और धर्म मार्ग पर चलते हुए अन्य शुभ अपने आप मिल जाएँगे, यह आस्था निहित है।’’[21]

नर्मद की कविता में पराधीनता का भाव बहुत तीखा है, जबकि निबंधों में समाज सुधार और धर्म विषयक चर्चा विशेष है। कविताओं में देशप्रीति और वर्तमान के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट हुआ है। उन्होंने शौर्योद्बोधन और देशाभिमान पर अनेक काव्य लिखे। समाज के बहेम को दूर करने वाली कविताएँ परोक्ष रूप से देशप्रीति की कविताएँ हैं। इन पंक्तियों में एक संवेदनशील व्यक्ति के अपराधबोध का संकेत करते हुए देश की पराधीनता के दुख को व्यक्त किया गया है:

‘‘उसकी देश को बहुत आवश्यकता है इसलिए वह लज्जित है। वह बाजरा (रोटी) और भाजी खाता है और कांजी पीता है। देश रूपी यजमान कैदी है, इंसाफ करने वाला पाजी परदेसी (अंग्रेज) काजी बना है। वह देश (यजमान) को कुछ नहीं समझता। मेघ गरज कर वृष्टि कर रहे हैं। नई सृष्टि (नव पल्लव-परिवर्तन) विकसित होगी। यदि वह देशाभिमान के साथ उद्यम करेगा तो नर्मद का मन बहुत प्रसन्न होगा:

‘‘गरज छे देशने झाझी। रह्यो छे तेथी ते राजी,
खाय छे बाजरी भाजी, पीये छे ओलड़े कांजी,
केदि यजमान ते हाझी, परोणों थे थयो काजी।
हवे ए केह छे पाजी, अरे कोई शूर दील दाजी,
मेघनी पेर खूब गाजी,आणि दे संमृद्धि ताजी,

करो जो तबियत साजी, तो ज नर्मद मन बहु राजी॥[22]

एक अन्य काव्य में युद्ध में धैर्य और धैर्यवान का महत्व प्रतिपादित करते हैं। पराधीनता के विरुद्ध इस युद्ध में उतावले कार्य करने वाला कायर होगा। धीर-वीर ही संकट का सामना कर सकता है। वही, युद्ध में पहाड़ के समान अडिग रहेगा, तनिक भी विचलित नहीं होगा। अनेक शूरवीर साहसिक कार्यों का अवसर खोजते रहते हैं:

''रण तो धीरानूं धीरानूं, नहिं उतावला कायरनूं.
धीर वीर जे होय ते ज खुबसंकट सांमो थाये
पहाड पठे रणमाँ रेह ऊभो, लेश नहिं गबराये.
धीर वीर को प्रसंग शोधे, स्हेवाकष्टो भारे
झाणि जोईने अफत होरे, राजी घा ले त्यारे।''[23]

नवलराम

नवलराम नर्मद की तरह देशाभिमान या स्वत्वके बारे में मुखर नहीं हैं लेकिन वे पूरी तरह सजग थे। 1875 में उनका 'खरो देशाभिमान' (सच्चा देशाभिमान) निबंध प्रकाशित हुआ था। नर्मद के पुरोगामीनवलराम के विचारों में तारतम्यता, तथ्यपरकता और तार्किकता अधिक है।''देशाभिमान एक बड़ा सद्‌गुण माना जाता है। इसके बिना मनुष्य के सारे गुण व्यर्थ माने जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सारे सद्‌गुण देशाभिमान से ही चमक उठते हैं और देशाभिमान के बिना बड़े से बड़ा गुण धुंधला दिखाई देता है।''[24] वे देशाभिमान को एकता का मुख्य साधन मानते हैं। इस उपयोगी गुण के कारण मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर देशप्रीति की ओर उन्मुख होता है। ''देशप्रेम में अपना हित किस तरह निहित है, यह जब अच्छी तरह से समझ में आ जाता है, तब इसका सुपरिणाम अर्थात देश का उत्कर्ष सबके देखने में आता है और जब यह गुण निरंतर अभ्यास से बद्धमूल हो जाता है तब अन्य सारे प्रेम बंधन शिथिल हो जाते हैं और देश प्रेम का भाव पूरी तीव्रता के साथ प्रकट होता है। देशप्रेमी मनुष्य खून-पसीने के संचित धन को देश के लिए पल भर में खुशी-खुशी खर्च कर देता है। अपने अन्य संबंधों की ममता को छोड़कर देश सेवा में एकनिष्ठ भाव से तत्पर रहता है और जरूरत पड़ने पर देशहित में प्राणों पर भी हँसते-हँसते खेल जाता है।''[25] उपयोगी

और स्वाभाविक होते हुए भी अधिकतर लोग देशाभिमान का ठीक अर्थ नहीं समझते और उसका उपयोग यथोचित रूप से करना नहीं जानते। देश के प्रति प्रेम रखने तथा देश प्रेम का मिथ्याभिमान करना इन दोनों में बहुत फर्क है। विश्व के बहुत से लोग अपने देश की झूठी तारीफ करने में तथा दूसरे के प्रेम की निंदा करने में ही देश प्रेम का भाव निहित है, ऐसा मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। ''ऐसे लोगों की यह साधारण मान्यता होती है कि अपने देश का जो है सब अच्छा तथा परदेश का जो कुछ है सब बुरा। इस धारणा के कारण ही वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ बात–बात में लड़ पड़ते हैं और समय–समय पर मारपीट पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी समस्या आँख रहते हुए अंधे होकर घूमते हैं तथा रात को दिन कहते हुए जरा भी संकोच नहीं करते। हमें भी ऐसा मिथ्याभिमान बहुत अधिक दिखाई पड़ता है।''[26] वे मानते हैं कि मिथ्याभिमान से देश का कुछ भी भला नहीं हो सकता। देशाभिमानी में विवेकशीलता, सजगता, संयम और वस्तुस्थिति की सही पहचान की गुणों का समावेश अनिवार्य मानते हैं। ''जिस व्यक्ति में सच्चा देशाभिमान होता है, उसकी समझ तथा उसका व्यवहार बहुत भिन्न होता है। वो बड़प्पन के लिए अपने देश की झूठी बड़ाई नहीं करता। अपने देश के दोषों को नजरअंदाज करने के बदले वह उन्हें समूल नष्ट करता है। परदेसियों के ताने उसे बहुत चोट पहुँचाते हैं; किंतु उनके साथ इसके लिए वाग्युद्ध करने के बदले वो अपने मन में यह सोचता है कि इस ताने का कोई वास्तविक कारण है या नहीं और यदि कोई उचित कारण दिखाई पड़ता है तो वह दोष निकालने वाले उस व्यक्ति के साथ व्यर्थ में तू–तू मैं–मैं करने के बजायउस दोष को दूर करने का उपाय सोचने में सदा तत्पर रहता है।''[27] वे मनीषी पूर्वजों को इसी श्रेणी में रखते हैं जो अपने सभी स्वार्थों छोड़कर देश के उत्कर्ष में लगे रहते थे। ''देश में धर्म, अर्थ और काम का उत्कर्ष कैसे हो इसी विचार में सदा निमग्न रहते थे, वे अपने शरीर अथवा परिजनों के किसी भी सुख की कामना नहीं करते थे। वे वन में जाकर रहते थे, बल्कल पहनते थे और अत्यंत सादे भोजन पर अपना जीवन निर्वाह करते थे। वे देश के सुख में अपना सुख मानते थे। इस तरह आश्रम में बैठे–बैठे जिस समय वे सांसारिक सुख की आधारशिला रखने में समर्थ थे, उस समय उनके हृदय की गहराई में आनंद की जो बाढ़ उठती थी, उसकी कल्पना भी आज का स्वार्थी और संकीर्ण दृष्टि वाला हिंदू नहीं कर सकता।.......यदि कोई अधर्मी राजा शास्त्रों का उल्लंघन करके गरीब प्रजा को

दुख देने वाला मालूम पड़ता था तो वे एकांतवास में से देव की तरह बाहर आकर अपने नाम के प्रभाव से उस असुर को पदच्युत करते थे और उसकी जगह पर किसी धार्मिक राजपुत्र को बैठाकर मात्र निर्लोभ भाव से अदृश्य हो जाते थे।''[28] नवलराम ने देशप्रीति को सामूहिक हित से जोड़ा और भारत के गौरवशाली अतीत की समृद्धि, विद्या, कला और संगीत की प्रसिद्धि को देश–विदेश में होने का यही कारण मानते हैं।''यहाँ के व्यापार और समृद्धि ने एक समय तो सारी दुनिया को पागल कर दिया था। दूर देश के लोग हिंदुस्तान में आना और समृद्धशाली बनना एक ही समझते थे; नहीं तो हिंदुस्तान को जीतने में विदेशियों का क्या आग्रह हो सकता है। हिंदुस्तान जाने के लिए जल मार्ग की खोज करने के लिए कितनी मेहनत, कितना आग्रह? और खोज लेने के बाद उसको अपने हाथ में रखने के लिए कितनी कोशिशें और मारामारी?''[29] नवलराम ने बार–बार छल पूर्ण व्यवहार, दोषों को छिपाकर अपनी प्रशंसा को देशद्रोह कहा। निरंतर आत्ममंथन, आत्मनिरीक्षण, आत्मलोचना से तप कर देशाभिमान की परीक्षा करने के लिए मापदंड स्थापित करते हैं। ''यदि हममें सच्चा देशाभिमान या देशप्रेम है तो उस देशप्रेम को प्रकट करने के लिए हमने तन, मन और धन से अब तक क्या किया है? दिन में कितना समय हम जनहित के काम का विचार करने में निकालते हैं? हर रोज शरीर से हम कितनी देर सेवा करते हैं? इस काम के लिए जिंदगी में कितना पैसा खर्च किया है? दिखावा करने में तथा जाति–बिरादरी को दावत देने में हम अधिक पैसा खर्च करते हैं या सुधार कार्य में? जिसकी बात हम हर घड़ी करते रहते हैं, ऐसे ही बहुत सारे प्रश्नों पर हमें अपने मन में विचार करना चाहिए। इसमें से भी एक दूसरा हिसाब किताब हमें करना है। तन, मन और धन से अपने देशहित के लिए हमने जो कुछ किया है, उसमें से कितना आत्म सम्मान के लिए किया है और कितना शुद्ध प्रेम की भावना से किया है? इस तरह लेखा–जोखा करने के बाद जो हाथ लगे उसे सच्चा देशाभिमान समझना चाहिए।''[30] पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित नवलराम के हृदय में देशप्रीति और धर्मनिष्ठा आंतरिक स्तर पर विद्यमान थी। सरकारी नौकरी में होते हुए भी वे सरकार की शोषणपरक नीतियों और प्रजा की परेशानियों को पूरी संजीदगी से समझ रहे थे। अंग्रेजों ने भारत के आत्मनिर्भर समाज व्यवस्था को नष्ट कर दिया। आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय, विदेशी माल और सुविधाओं पर निर्भर होता गया। ''आज हमारी दैनंदिन उपयोग की चीज–वस्तुएँ विदेश से तैयार होकर आती हैं। वह देश जो

एक जमाने में सारी दुनिया का तन ढकता था, आज उसे अपना तन ढकने के लिए मैनचेस्टर की ओर टकटकी लगाकर देखना पड़ता है। स्थित यहाँ तक पहुँच चुकी है कि यदि एक दो महीने के लिए यूरोप से कार्य व्यवहार बंद हो जाए तो शायद हमें यह नहीं सूझ सकेगा कि हम क्या पहने और क्या ओढ़े? छोटी से छोटी चीज से लेकर बड़ी-बड़ी चीजों के लिए हमें यूरोप पर निर्भर रहना पड़ता है।''[31] लेकिन वे इस वस्तुस्थिति पर आरोप-प्रत्यारोप करके रुक नहीं जाते। देशप्रीत की भावना से ओतप्रोत लेखक देसी शिल्पकारों को उस हुनर को सीखने का आह्वान करते हैं जिसके कारण यूरोपीय देश उन्नति करते गए। इसके लिए आलस-प्रमाद को त्यागने और नई तकनीक को अपनाने की आवश्यकता बताते हैं। यह विचार भावुकतासभर नहीं हैं, बल्कि इसके पीछे पर्याप्त चिंतन है। वे मानते हैं कि यूरोपीय हुनरों, कला-शिल्पों को सीखकर देश में उनको प्रविष्ट करने-कराने के साथ विदेशी माल का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा लेनी होगी। वे इस कार्य की दुष्करता से भी अपरिचित नहीं थे। इस विचार पर सभी देश हितेषियों को विचार विमर्श करने का आह्वान करते हैं। ''समुचित देसी उद्योग को फिर से जीवंत करना अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। इस भगीरथ काम में देश के विद्वानों, श्रीमंतों, राजकीय अधिकारियों को एक हो जाने तथा दूरदृष्टि से काम करने की अपेक्षा है। सूझबूझ के साथ, काम की मजबूत बुनियाद रखकर यदि आगे बढ़ा जाएगा तो सफलता जरूर मिलेगी तथा हमारा देसी शिल्प फिर से सजीव उठेगा। ऐसे में, सभी देश प्रेमियों का कर्तव्य हो जाता है कि वे इस दिशा में सब को अधिकाधिक रूप से जागरूक बनाएँ। यही कार्य आधी मंजिल तय करने बराबर होगा।''[32]

स्वत्व की पहचान का एक मार्ग निजभाषा की विकास से होकर जाता है। उन्नीसवीं सदी के साहित्यकार इस बारे में सजग थे। नवलराम अंग्रेजी शिक्षा को विशेष अहमियत देते हैं, लेकिन गुजराती के पठन-पाठन के विकास में भी निरंतर सक्रिय रहे। गुजरात शालापत्र का 10 वर्ष संपादन करके गुजराती के विकास में अग्रणी भूमिका निभाई। उनका दृढ़ विचार था कि 'भारतीयों का पुन: संस्कार देसी भाषा के जरिये ही हो सकता है।' इसलिए विश्वविद्यालय की परीक्षा में से गुजराती को हटा देने पर विरोध किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'असली दोष तो विश्वविद्यालय की असहज, असंगत शिक्षा पद्धति का ही है।'[33] वे निरंतर इस बारे में सजग और सक्रिय थे। 1872 में भी उन्होंने दृढ़ता से अपने मत को

प्रस्तुत किया था : ''देश का इतना सारा पैसा खर्च करके सरकार जिन लोगों को पढ़ाती–लिखाती है। पढ़–लिखकर यदि वे अपने भारतीय भाइयों को लाभान्वित नहीं कर सकते तो हमें मान लेना चाहिए कि मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर वह पैसा देश के किसी काम नहीं आया। जब तक विश्वविद्यालय से देसी भाषा के सुज्ञ विद्वान नहीं निकलते, तब तक उस संस्था का देशहित में कोई योगदान नहीं माना जा सकता।''[34] वे विदेशी भाषा को निष्कासित करने के पक्ष में नहीं थे और न वह उचित था। परंतु वे निज भाषा को शिक्षा में उचित स्थान मिलने के सदैव पक्षपाती रहे। इसी तरह उन्होंने देशहित और देशोत्थान के लिए एक धर्म, एक भाषा और एक लिपि पर गंभीर विचार विमर्श किया। 'हिंदुस्तान में एक भाषा' निबंध में उन्होंने भारत के इतिहास का दिग्दर्शन करते हुए, एक भाषा की परंपरा को रेखांकित किया है। सम्राट अशोक के समय समस्त उत्तर भारत में एक ही भाषा बोली जाती थी। ब्रजभाषा, छावनी की भाषा उर्दू, कर्मकांड की भाषा संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि हिंदी–उर्दू के मेल से बनी'हिंदुस्तानी' को भारत के सभी हिस्सों में समझा जाता था। स्वाभाविक है कि वे उत्तर भारत के तत्कालीन 'हिंदी उर्दू विवाद' से परिचित नहीं हों या यहाँ उन्हें यह चर्चा अवांतर लगी हो लेकिन वह ऐसा मानते थे कि 'हिंदुस्तानी' जन भाषा न भी कही जाए तो भी देश में उसकी स्थिति प्रायः वही है जो स्थिति यूरोप में फिलहाल फ्रेंच भाषा की है।'[35] लेकिन वे दूसरे पक्ष के विश्वास का दृढ़ता से खंडन करते हैं कि अंग्रेजी देश भाषा बन जाएगी। यह एक सुलझे हुए भारतीय चिंतक की तत्कालीन समस्याओं पर गहरी पकड़ का प्रमाण है। वे अलग–अलग भाषाओं में विभाजित राज्यों को देश की एकता की कमी आने का कारण मानते हैं। स्वतंत्रता के बाद भाषावार प्रांतों की रचना से जिन समस्याओं से भारतीय प्रजा जूझ रही है, नवलराम उस समय इसके संकेत देते हैं। नवलराम का पूर्वाग्रहमुक्त विचार विमर्श उन्हें भारतीय स्वत्व की पहचान का सजक प्रहरी ही नहीं बनाता, उनके देश प्रेम का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। उनका हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि को समर्थन उनकी दूरदर्शिता का द्योतक है। गांधी जी ने इसे दशकों के बाद अपनाया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

डॉ. रामविलास शर्मा ने राधाकृष्णदास के हवाले से कविवचन सुधा में

प्रकाशित पद्यांश उद्धृत किया है, जिसकी दूसरी पंक्ति 'उपधर्म छूटैं,स्वत्व निज भारत गहे, कर दुख बहै' है और तीसरी पंक्ति में 'नारिनर सम होहिं' आता है। उन्होंने 'उपधर्म छूटैं' को छोड़ दिया जो भारतेंदु की धार्मिक भावना को व्यक्त करता है, यहाँ उसकी चर्चा अवांतर होगी, आगे का विश्लेषण इस प्रकार है–

''भारत निज स्वत्व गहै–इसका अर्थ क्या है? हरिश्चंद्र के मन में साहित्य की उन्नति देश और समाज का उन्नति से जुड़ी हुई थी। सामाजिक उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र था नारि नर सम होहि, यह बात रूढ़िवादियों को वैसे ही पसंद न थी, जैसे भारत के निज स्वत्व प्राप्त करने की बात अंग्रेजों को। हरिश्चंद्र दोनों के ही कोप भाजन हुए। राधाकृष्ण दास ने इस प्रसंग में उचित ही उनकी वीरता की प्रशंसा करते हुए लिखा है, ''जैसा ही अंग्रेज हाकिमों को 'स्वत्व निज भारत गहे, कर (टैक्स) दुख बहै' कहना कर्ण कटु था, उससे अधिक नारि नर सम होहि कहना हिंदुस्तानी भद्र समाज को चिढ़ाना था। परंतु वीर हरिश्चंद्र ने जो जी में ठाना उसे कर ही डाला और जो कहा, उसे आजन्म निबाहा भी।''[36] यह काव्यांश 'भारतेंदु समग्र' या 'भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली 1–6 किसी में संकलित नहीं है। उस युग की पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्यकारों की रचनाएँ यदि कालक्रम के अनुसार संकलित होतीं तो कई भ्रांतियां का निवारण संभव था। उस युग की पत्रिकाओं में विविध विषयों, समस्याओं पर प्रकाशित लेखों के संकलनों से 19 वीं सदी के अनेक प्रश्नों के तथ्य–तर्कपूर्ण समाधान हो सकते थे। लेकिन दुर्भाग्य से महत्त्वपूर्ण रचनाकारों का भी समग्र साहित्य दुर्लभ है। वसुधा डालमिया भारतेंदु युग की पत्र–पत्रिकाओं के उद्धरणों (उनमें भी अनेक लेख संकलन में नहीं हैं) के आधार पर भारतेंदु को धार्मिक नेता के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। यह उचित भी है, क्योंकि 19वीं सदी के सभी लेखकों ने धर्म की केंद्रीयता को स्वीकारा था। इसे यदि अंतर्विरोध कहेंगे तो यह उस युग का अंतर्विरोध था जिसका समाधान उस समय के रचनाकारों ने अपने–अपने ढंग से किया। उनके मन में अपने समाज और देश का हित सर्वोच्च था। वीरभारत तलवार भारतेंदु के धार्मिक संस्थाओं के सदस्य होने की टीका करते हैं जबकि उनके सदस्य रहते हुए भारतेंदु उनकी कटु आलोचना भी करते हैं। कविवचन सुधा के 5 जुलाई 1872के अंक में 'पश्चिमोत्तर देश की कमेटियाँ' लेख प्रकाशित हुआ था, इसमें अंग्रेज हाकिमों की चाटुकारिता पर व्यंग्य और कटुक्तियाँ हैं। म्युनिसिपल कमेटी के सेक्रेटरी ने उन सड़कों को बनवाया, उन पर लालटेन लगवाए, जहाँ साहब लोगों की

बग्गी दौड़ती थीं, 'नगर के भीतर की कहो या वहाँ के निज निवासियों की कहो, तो उनसे मुझे काम भाड़ में पड़ें चाहे चूल्हे में पड़ै' हाकिमों के विरुद्ध न बोलने और उनके समर्थन में बोलने के वाक्य को उद्धृत करते हैं: ''साहब क्या कोई फर्क की बात कहेंगे?.....जो साहब की राय सो हमारी राय, साहब से ज्यादा कौन समझदार है? जो कहते सब ठीक है।'' इन युक्तियों और क्रियाकलापों पर भारतेन्दु टिप्पणी करते हैं: ''अरे भाइयों इतना क्यों उड़ते हो, बस चोंच बंद करो, इस व्यर्थ के पर फड़फड़ाने से क्या फल मिलेगा। निश्चय रखो कि तुम्हारे इस आचरण पर सच्चे लोग कभी तुम्हें हाँ जी हाँ जी नहीं वरन सर्वदा निकम्मे, उपरी और अकिंचन ही कहेंगे।''[37] यहाँ भारतेंदु के मन में न कोई द्वंद है और न संशय है। इसी तरह उन्होंने कमेटियों के दो निर्णय-धर्म संबंधी बातें नहीं होंगी, दूसरे,'गवर्नमेंट की किसी आज्ञा पर कुछ विचार ना होगा पर भी व्यंग्य किया है और उन्हें थोथी कहा है, ''वाह-वाह यह कैसी हँसी की बात है जो इन्हीं बातों पर विचार ना होगा' क्या, लोक-परलोक दोनों के हेतु यही दो बातें बहुत बड़ी हैं, उन्हें हमने पहले ही छोड़ दिया। फिर हम प्रवृत्त क्यों हुए, क्या गवर्नमेंट कोई ऐसा एक्ट प्रचलित करना चाहे कि जिसमें हमारे सर्व प्रकार की हानि है तो उस समय कुछ न बोलना यही बुद्धिमानी है? इन्हीं लक्षणों से तो यह दशा है।''[38] स्पष्ट है कि भारतेंदु कमेटियों के कार्यकलापों को पसंद नहीं करते थे। फिर दूसरे प्रांत की कमेटियों-मुंबई प्रेसिडेंसी के-कार्यों की प्रशंसा करते हैं, तो इसके पीछे पश्चिमोत्तर प्रांत के समाज और लोगों के उत्थान की भावना है। लाहौर यूनिवर्सिटी की सहायता से 'विद्योदय' पत्र के प्रकाशित होने और उसमें शिक्षा, प्राचीन एवं नवीन काव्य, ज्ञान वार्ता के प्रकाशन पर उसके चिरंजीव होने की कामना करते हैं और पश्चिमोत्तर प्रांत की दशा पर दुख व्यक्त करते हैं। इन कटु शब्दों में व्यक्त देश चिंता को विश्लेषित करने की आवश्यकता नहीं है: ''हा ! पश्चिमोत्तर देश! तू ऐसे घुड़दौड़ के समय में जिसमें सब आगे बढ़ा चाहते हैं, पीछे क्यों पड़ा जाता है। हे पश्चिमोत्तर देश के निवासियों (और देश को छोड़कर) हिंदुस्तान के अन्य प्रदेशों की अवस्था देखो और यदि पुरुष हो तो उद्यम करो और उनसे भी बढ़ो और जो कापुरुष हो तो चुल्लू भर पानी में डूब कर मर जाओ, फिर मुख मत दिखाओ!''[39] इससे 2 वर्ष पहले 1870 में 'लेवी प्राण लेवी' लेख प्रकाशित हुआ था। जिन बनारस के महाराजा से उनके आत्मीय संबंध थे, अंग्रेज हाकिमों के साथ संबंधों को संभालने के बारे में भारतेंदु को 'कुशल' कहा जाता था,

लॉर्ड म्यो के आगमन की प्रतीक्षा में लेवी के दरबार का चाटुकारी पोषित रसूखदारों की विवशता के दृश्य को प्रस्तुत करते हैं। भारतेंदु प्रतिष्ठित वर्ग की भीरुता पर व्यंग्य करते हैं, जिसमें मुंशी बद्रीनाथ 'पुराने दादुर की भाँति इधर–उधर उछलते फिरते' थे और बाबू भी वैसे ही 'छोटे तेंदुए बने' गरज रहे थे। बंगाली बाबू का रईसों के नाम लेकर खड़ा करना, लार्ड के आने में देर होने पर रायनारायण दास के 'सिट डौन' कहने पर सबका मुँह के बल बैठ जाना। स्टैंड अप कहने पर खड़ा होना। अंग्रेज गवर्नर के सामने भारतीय साहूकारों, राजाओं की स्थिति को उद्घाटित करता है। यह 20 वर्ष के युवा हरिश्चंद्र की सुलझी दृष्टि का परिचायक है और यह दृश्य और धारणा निरंतर बनी रहती है। 'लेवी प्राण लेवी' का अंत इन पंक्तियों में होता है: ''जब सब लोगों की हाजिरी हो चुकी, श्रीयुत लार्ड साहब कोठी पधारे और सब लोग इस बंदीग्रह से छूट छूट कर अपने–अपने घर आए, रईसों के नंबर की यही दशा थी कि आगे के पीछे और पीछे के आगे अंधेर नगरी हो रही थी। बनारस वालों को इस बात का न कभी ध्यान रहा है और ना रहेगा। ये विचारे तो मोम की नाक है चाहे जिधर फेर दो। हाय–पश्चिमोत्तर देशवासी कब कायरपन छोड़ोगे और कब उनकी उन्नति होगी और कब इनको परमेश्वर वह सभ्यता देगा जो हिंदुस्तान के और खंडवासियों ने पाई है।''[40]

डॉ रामविलास शर्मा कविवचन सुधा में प्रकाशित दीपदान संबंधित टिप्पणी और कार्य को भारतेंदु की सोच का परिणाम मानते हैं। वे राधाकृष्ण दास के वर्णन को उद्धृत करते हैं, 'जिस समय सर विलियम म्यूर के स्वागत में गंगा तट पर रोशनी हुई थी, उसे समय इन्होंने एक नाव पर Oh tax और दूसरी नाव पर–

स्वागत स्वागत धन्य प्रभु, श्री सर विलियम म्योर।
टिकस छुड़ावहु सबन को, विनय करत कर जोर॥

रोशनी में लिखवाया था।''[41] डॉ. शर्मा ने कविवचन सुधा की एक और टिप्पणी को उद्धृत किया है जिसमें हिंदुस्तानियों की दैनिक स्थिति के साथ गोरों के हुड़दंग का जिक्र है। उनके अपराध को कोई देखता नहीं, तीन गोरों ने मदिरापान कर चौखंबे पर आकर उपद्रव किया। कूंजड़ियों की डालियाँ उलट दीं, पौसरों के घड़े फोड़ डालें। लोगों को मारा, थूका, गाली दिया पर कोई चूं ना बोला।' भारतेंदु उद्गार व्यक्त करते हैं: हाय! हिंदुस्तान! तेरी ऐसी दशा हो गई, तू अपने निवासियों का ऐसा अपमान देखकर फट भी नहीं जाता। अरे तू फिर कब अपने को संभालेगा और हम लोगों की इस दीन दशा को सोचेगा!!!''[42]

इस दौर में हिंदू–मुसलमान के बीच दूरियां बढ़ने लगी थीं। भारतेंदु की उर्दू बीवी, बंदर सभा जैसी रचनाओं की यही पृष्ठभूमि है। इसके अतिरिक्त उर्दू के समर्थकों के सरकार के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध ने भी इस मानसिकता के विकास में भूमिका निभाई। बादशाह दर्पण की भूमिका और मुसलमान साम्राज्य का संक्षिप्त इतिहास (1884) में भारतेंदु ने लिखा: ''इस ग्रंथ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्होंने हम लोगों को गुलाम बनाना आरंभ किया। इसमें उन मस्त हाथियों के छोटे–छोटे चित्र हैं, जिन्होंने भारत के लहराते हुए कमल–वन को उजाड़ कर पैरों से कुचलकर छिन्न–भिन्न कर दिया। इसी भूमिका में वह मुसलमान के साथ अंग्रेजों का स्मरण करना नहीं भूलते। दोनों की तुलना भी करते हैं। मुसलमानों के दो गुण गिनाते हैं। एक, उन्होंने अपना घर इस देश को बनाया। यहाँ की लक्ष्मी यहीं रही। दूसरे, कभी–कभी मुसलमान राजा के समय हिंदुओं को वीरता का संस्कार जग जाता था। लेकिन वे मुसलमान के राज्य को 'हैजे का रोग' और अंग्रेजी राज्य को 'क्षयी का रोग' कहते हैं। 'इनकी शासन प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति–पक्षपात, मुसलमान पर विशेष दृष्टि आदि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है।''[43] मुसलमानों के इतिहास में यदि अंग्रेजों का स्मरण हो रहा है, तो यह अंग्रेजों की कूटनीति के प्रति उनकी सजगता का प्रमाण है। देश प्रीति और देशहित की यह भी अपने तरह की अभिव्यक्ति है।

भारत दुर्दशा (1876) नाटक में भारत दुर्दैव बलशाली और प्रभावशाली है। जिसका वेष 'आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी' है। क्रूर 'भारत दुर्दैव' हाथ में नंगी तलवार लिए है। नाटक में कमिटी मेंबर्स को पकड़ने डिसलॉयल्टी आती है। सभापति पूछता है कि किस कानून से ऐसा कर रही हो। उसका उत्तर है– ''इंग्लिश पॉलिसी नामक एक्ट के हाकिमोच्छा नामक दफा से।''[44]

भारतेंदु की देश प्रीति और देशहित इस बात में भी प्रकट होता है, जब वे स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विलायती कपड़ों को न पहनने की शपथ लेने को कहते हैं।[45] भारतीय राजनीति में गांधीजी से पहले स्वदेशी आंदोलन 19वीं सदी के साहित्यकारों ने प्रारंभ करके अपने राष्ट्र प्रेम का परिचय दिया था। इसी से जुड़ा दूसरा कार्य निज भाषा का था। जैसा आगे निर्दिष्ट किया है कि भारतेंदु ने अनेक संस्कृत ग्रंथों का हिंदी में भाष्य किया, व्रत–उपवास एवं पवित्र मास के महत्व पर विस्तार से लिखकर धार्मिक प्रजा को सद्मार्ग और सत्कर्म से जोड़ा।

हिंदी भाषा आंदोलन भी देश प्रेम की अभिव्यक्ति है। हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान में निज भाषा के महत्व का प्रतिपादन तो है ही, देश और प्रजा की दीन–हीन स्थित का भी उल्लेख है:

''कछु तो वेतन कछुक राज कर माँहि।
बाकी सब व्यहार में गयो रह्यो कछु नाहिं॥
निरधन दिनदिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुद्धि–बल कांति॥
फूट बैर को दूर करि बाँधि कमर मजबूत।
भारतमाता के बनो भ्राता पूत सपूत॥
परदेशन की बुद्धि अरु वत्तुन का करि आस।
पर बस हवै कबलौ रहिहो, तुम हवै दास॥[46]

डॉ. रामविलास शर्मा ने बनारस अखबार के संपादक की पुलिस की नुक्ताचीनी के अपराध में जेल भेजने के प्रसंग और उस पर कविवचन सुधा की टिप्पणी का उल्लेख किया है। 'यह काल तो केवल मिथ्या भाषण का है धन्य है वे लोग जो अपने देश के हित के लिए कारागार जाते हैं।'[47] अंग्रेज भक्त और उनके सहयोगवाले व्यापारी वर्ग में जन्मे भारतेंदु के लेखन और उत्तरोत्तर विकसित होती दृष्टि उनके देशहित और देशप्रेम के प्रमाण प्रस्तुत करती है, तथाकथित राजभक्ति के बावजूद।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट के लेखन में पराधीनता का बोध अधिक गहरा है। प्रखर राजनैतिक और सामाजिक चेतना के 'वे ऐसे जागृत प्रतीक हैं, जिसमें कर्म और वाणी दोनों स्तरों पर कहीं से राजभक्ति की गंध नहीं मिलती।'[48] उनका 'हिंदी प्रदीप' धार्मिक पाखंडों, सामाजिक कुरीतियों पर कटु प्रहार तो करता ही है, अंग्रेज सरकार की भारतीय प्रजा के प्रति छुपी घात को भी तथ्यों और तार्किक रूप से प्रस्तुत करताथा। इस कार्य में वे अंग्रेजों की कूटनीति के साथ भारतीयों की प्रमाद वृत्ति पर व्यंग किए बिना नहीं रहते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके महत्व को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है: ''नूतन पुरातन का यह संघर्ष काल था जिसमें भट्ट जी को चिढ़ाने की विशेष सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल उन्होंने बद्ध विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति अनुकूल नए विचारों

को जमाने उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी।''[49]

समय के प्रतिकूल बद्ध विचारों को उखाड़ने के कारण उनके लेखन में पुनरुत्थान के तत्व कम मिलते हैं लेकिन उन्हें गौरवशाली अतीत पर कम गर्व नहीं था। वे मानते थे कि ''हमारे ऋषि-मुनि सर्वजन हितेच्छा और लोकोपचार के गुण के कारण और अच्छे समझे गए और जिस 'मोरालिटी' चरित्र शोध शिक्षा का अंग्रेजी भाषा की अग्रण्य मंडली बड़ा अभिमान रखती और मानती है कि 'मॉरल प्रीचिंग' केवल अंग्रेजी ही में गिरो है, उसके यह विमल मन उदार चित्त ऋषिजन परमाचार्य थे जिनके लेख से यही बोध होता है कि वे लोग केवल हिंदुस्तान ही नहीं, वरन् विश्व के सार्वजनिक हित, चरित्र शोधन का ठेका ले उतरे थे।''[50] उद्धरण में अंग्रेजी भाषा की अग्रणी मंडली के सामने, परमाचार्य ऋषियों के विश्व के सार्वजनिक हित की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के प्रति उनका अहोभाव प्रकट करती है। इस तरह के प्रसंगोनचित लेख उनके यहाँ हैं, फिर भी उनकी दृष्टि वर्तमान पर विशेष रहती थी। जहाँ प्रमाद और अज्ञान में पड़े भारतीयों के शोषण को प्रकट करते हैं, वहीं विदेशी शासन की कृपणता को भी उजागर करते हैं। मुल्क की तरक्की पर उनकी टिप्पणी प्रखर राजनीतिक चेतना का परिणाम है।'यह सब तरक्की अंग्रेजी हिकमत और तालीम की बदौलत हुई। इससे इसका सच्चा फायदा भी उन्हीं को है, हमारे हाथ तो वही खाक उड़ावे चेले।'[51] वे भारतीय विद्या और कला पर गौरव लेते हैं लेकिन भारतीयों का उनकी बारीकियों को जानने के लिए पश्चिम की ओर ताकने की आलोचना करते हैं। ऐसी पश्चिम भक्ति उन्हें पसंद नहीं थी। ''विदेशी वस्तुओं की दिन-रात प्रगति तरक्की देखते जाना और अपने यहाँ की कला, विद्या और हुनर का एक के बाद एक नष्ट होते देखते जाना तो मानो हमारे लिए परंपरा प्राप्त धर्म हो गया है।''[52] लेकिन सामाजिक सजगता के कारण वह यह भी देख सके कि भारतीय समाज में एक वर्ग ऐसा है, जो बिना किसी प्रोत्साहन और सहायता के विकास करता जा रहा है। ''सच्चा देश का अनुराग, सच्चे देश की भलाई, सच्चा और स्वच्छ बर्ताव इनका सिद्धांत है। इसी समूह में कुछ लोग अलबत्ता पाए जाएँगे जो अपने लोगों के कल्याण निमित्त तन-मन-धन सर्वस्व अर्पण करने में अपना सौभाग्य समझते हैं।''[53] इस तरह भारतीय समाज की विसंगतियों पर प्रहार और उद्यमशीलता, एकता और साहस की प्रशंसा करते हुए भी उसे संस्कारित करते रहे।'स्वत्वपरिज्ञान' लेख में उन्होंने लिखा, ''तुम्हारे देश की आबोहवा में जो जहर समा रहा है, उसे

साफ करने को अभी सैकड़ो वर्ष चाहिए। तब तक आपका कई जन्म हो चुकेगा और इस जहर से अपना छुटकारा तब मानिएगा जब आपके देश के छोटे-छोटे मनुष्य भी इनके उच्छिष्ट महाप्रसाद को लात मार कर अपने निज के बाहुबल का भरोसा रख आगे बढ़ने का मन करेंगे।''[54] उन्होंने हिंदी जाति की गुलामी का कारण जातीयता का अभाव माना। जातीयता के गुण पर विचार करते हुए, प्राकृतिक और व्यावहारिक कर्म का विश्लेषण करते हुए सहानुभूति और विश्वास को जातीयता की नदी के दो किनारे बताते हैं। बार-बार एकता, सहयोग, सहानुभूति और विश्वास पर बल देते हैं। जातीयता बिना सहानुभूति के अकेली भाषा, अकेला धर्म व मत से कभी नहीं होगी, वरन् यह अलग-अलग तीनों जातीयता की विरोधी हैं।[55]

एक ओर एकता, विश्वास की भावना के विकास के लिए निरंतर प्रयास, दूसरी ओर, अंग्रेजी शासन की नीतियों की आलोचना का वे कोई अवसर नहीं चूकते। इन्कम टैक्स ,प्रेस एक्ट, कॉपीराइट बिल, हिंदू-मुसलमान के प्रति अलग-अलग व्यवहार, फ्री ट्रेड जैसे मुद्दों की उन्होंने निर्भय होकर कटु आलोचना की। इसी तरह सिविलियन और सिविल सर्विस कमीशन में हिंदुओं को स्थान न मिलने की नीति, लॉर्ड डफरिन, लॉर्ड लिटन के क्रियाकलापों पर लिखने का साहस बालकृष्ण भट्ट के देशप्रेम का प्रमाण है। ''सिविलियन क्या है (1885) लेख में सिविलियन अंग्रेज को श्वेत दीप निवासी हंस, नहीं-नहीं बगुले या सफेद रंग के जहाजी कौवे कहते हैं, जो शवतुल्य दुर्भिक्ष कर पीड़ित जनता को अंतर्मज्जा नोंच-नोंच कर खाने के लिए सब और कांव कांव कर रहे हैं।'' वे सिविलियों की प्रकृति, अभिमान, व्यवहार को देखकर रोष और घृणा प्रकट करते हैं यह 'निडर हो न्याय-अन्याय के विचार को गड्ढे में फेंक अपनी मनमानी विलायत के छोकड़े सिविलियन के घमंड में फूल हम पर करते हैं, वैसा करने की तो कदाचित हम कभी भी साहस न कर सकेंगे।'[56]

बालकृष्ण भट्ट ने लॉर्ड डफरिन की नीतियों और कार्य प्रणाली की आलोचना की और लॉर्ड रिपन से तुलना करते हुए लिखा कि 'लॉर्ड रिपन हमारे लिए आम है तो लॉर्ड डफरिन इमली है।'[57] उनके छोटी-छोटी रियासतों के दौरों को व्यर्थ का खर्च माना और नए-नए टैक्स लगाने का विरोध किया। सरकार का नोन का कर, अफीम का कर कानून का कर, कानून के जाल में फसाना, बात-बात में स्टांप का कर आदि से पेट न भरा, लाइसेंस का टैक्स लगाया। जिससे उन

लोगों को जो किसी तरह व्यापार करते हैं, अपनी–अपनी दशा के अनुसार 500 तक सालाना देना पड़ा। सरकार प्रजा की पीड़ा की चिंता किए बिना, अपने खर्चों पर अंकुश नहीं लगाती। वे स्पष्ट लिखते हैं कि अधिक लज्जा की और क्या दूसरी बात होगी कि प्रजा का प्राण और नस–नस के लोहू के समान धन इस समय अनेक टैक्सों के द्वारा सरकार उगाहती है और घोर से घोर फजूल खर्ची पर फूंकती है।[58] इस तरह के आरोप लेखक की निडरता और साहस के प्रमाण तो हैं ही, वे लॉर्ड डफरिन के गरीब हिंदुस्तानी प्रजा पर इस तरह के टैक्स के परिणाम भुगतने की चेतावनी तक दे देते हैं: "जो हो हाड़–माँस तक चाब लिया गया, अब यह देश इस लायक न रहा कि ऐसे ऐसे टैक्सों का बोझ संभाल सके। इसका होनहार परिणाम बहुत बुरा है। आगे सरकार की इच्छा।"[59] पश्चिमोत्तर और अवध के लेफ्टिनेंट गवर्नर पद पर सर ऑकलैंड कॉलिंन की नियुक्ति पर, अशिक्षित प्रजा से उनके मिलने में परहेज को विष भरी शिक्षा का कारण बताते हैं और फ्री ट्रेड को लागू करने पर लिखते हैं: "यह फ्री ट्रेड हमारी शिक्षा गुरु अंग्रेज महानुभावों की एक बानी है बड़े–बड़े पॉलिटिकल विचारों का सारांश है राजनीति का लब है गुदा है।"[60] वर्तमान में जब उदारीकरण पर बहस हो रही है, उसका प्रारंभिक रूप फ्री ट्रेड में देखा जा सकता है। महत्त्वपूर्ण है बालकृष्ण भट्ट की सुलझी हुई दृष्टि जो उस समय इस गुलामी का कारण बताती है: "यह इसी फ्री ट्रेड की महिमा है कि हम दाने–दाने को तरस रहे हैं। जिस देश में कारीगरी की तरक्की है और जो देश आपस की उतरा चढ़ी (कंपटीशन) में पार पा सकता है, उसके लिए स्वतंत्र वाणिज्य बड़ी बरकत है। लेकिन जो कृषि प्रधान देश है, जो सिर्फ कच्चा बाना (रो मटेरियल) पैदा करता है उसके लिए यह फ्री ट्रेड जहर है। हिंदुस्तान जो कच्चा बाना पैदा कर इंग्लैंड के बड़े–बड़े कारखाने और मिल को मुहैया करता है, सब भाँति घाटे में रहता है। रुई, सन, पटुआ आज कच्चे बानों को साफ कर उनके कारखाने की चटकीली चमचमाती चीजों पर मोहित हो, उसको ईजाद करने वालों को 10 गुना मुनाफा देकर हम उन्हें खरीदने हैं और विलायत के लोगों को मालामाल किए देते हैं।"[61]

डॉ. रामविलास शर्मा ने उनके राजनीतिक और सामाजिक विषयक लेखों की निपट सत्यवादिता की प्रशंसा की। जिसके कारण उनमें हास–परिहास नहीं मिलता।[62] बालकृष्ण भट्ट रचनावली के संपादक समीर कुमार पाठक का कथन

सही है कि अंग्रेजी राज्य के खिलाफ खौलते गुस्से को सही आकार देने वाले क्रांतिकारी नेतृत्व का अभाव था लेकिन उस खौलते खुदबुदाते गुस्से का अपना महत्व है।[63] लेकिन इस खौलते गुस्से को बालकृष्ण भट्ट ने सही समय अपनी शक्ति-सामर्थ के साथ निडर होकर शब्दबद्ध किया और देश के प्रति अपने दायित्व को निभाया।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र सभी कार्यों की कसौटी देशोन्नति मानते हैं, परंतु इस पर उन्होंने भारतेंदु और बालकृष्ण भट्ट की तरह खुलकर नहीं लिखा। उनके निबंधों के विषय धर्म और धार्मिकता पर अधिक केंद्रित हैं। हास्य रस, कहावतों के प्रयोग आदि में अतिरिक्त रुचि के कारण विषय पर केंद्रीयता नहीं रह पाती। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा ने कड़वे और तीखे विचारों के समाहित होने के बारे में शक्कर चढ़ी कुनैन की उपमा दी है। यद्यपि कुनैन पर शक्कर की परत अधिक है।[64] 'देसी कपड़ा' निबंध में विलायती कपड़े के स्थान पर देसी कपड़े को प्रोत्साहन देने को कहते हैं, अंग्रेजी फैशन के कपड़े से देसी कपड़े के गुण को बताते हैं। फिर देसी कपड़े पहनने में परहेज करने पर देश का दुर्भाग्य मानते हैं। अंत में कोमल स्वर में सलाह देते हैं: ''आखिर कपड़ा पहनोगे ही,एक बेर हमारे कहने से एक-एक जोड़ा देसी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देसी लक्ष्मी और देसी शिल्प के उद्धार का फल सेंत-मेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा भकुआ कौन? नहीं नहीं हम सबसे अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं।''[65] इसी तरह 'भौं' निबंध में संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी में भौंह का पर्याय बताते हैं। मुख पर भौंह का महत्व प्रतिपादित करते हैं। रसिकों के भ्रू संचालन के उदाहरण देते हैं, अंत में उसे देशहित से जोड़ते हैं। यद्यपि यहाँ देशहित के लिए प्रोत्साहित करने का संदेश स्पष्ट है, लेकिन समग्र निबंध संगठन में इसके पहले संकेत नहीं मिलते:

''यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा, इतिहास सभी निर्जीव से हो रहे हैं, तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात-बात पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबंध हो के वीरता से भौंहे तान के देशहित में सन्नद्ध हो जाएँ। अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का अपने

पूर्व पुरुषों के रुजगार का और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उसके सहज भृकुटि विलास में अनंत कोटि ब्रह्मांड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।''[66] स्पष्ट है कि वीरता से भौंहें तानकर देशहित में सन्नद्ध हो जाने के आगे पीछे इतना माया जाल फैला दिया है कि संदेश का प्रभाव क्षीण होता जाता है। इन्कम टैक्स निबंध की भी प्रकृति इसी तरह की है। खेती, व्यापार, नौकरीपेशा वर्ग और उनकी असहाय स्थिति के बारे में विस्तार है। लोकोक्ति का उपयोग करके उत्तम भिक्षा वृत्ति द्वारा व्यंग्य किया गया है। लेकिन यहाँ भी स्वर में प्रबलता नहीं है:

''उत्तम भिक्षावृत्ति है फिर बाबुआइ जान,
अधम बनिज बैपार है खेती कोटि निदान।

पर नहीं, अब यह विचार होता है कि कृषक, व्यापारी अथवा सेवकों की यही गति रही तो कहाँ से किसी को कुछ दे सकेंगे ? बस अब हमारा यह सिद्धांत सत्य होने में किसी को कुछ संदेह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमान के सात सौ वर्षों के प्रचंड शासन द्वारा न फैला था, उतना बरंचउससे अत्यधिक इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है।''[67] उपाधि' निबंध में अंग्रेज सरकार द्वारा दी जाने वाली सी. एस. आई. अथवा ए. बी. सी. जैसी उपाधि के पीछे की कूटनीति और हमारे संपन्न वर्ग एवं प्रबुद्ध वर्ग की सत्ता प्रियता पर व्यंग अवश्य प्रभावक है: ''कभी आपके नाम में भी सी.एस. आइ. अथवा ए.बी.सी. से किसी अक्षर का पुछल्ला लग जाएगा अथवा राजा, राय बहादुर, खान बहादुर अथवा महामहोपाध्याय की उपाधि लग जाएगी। पर यह न समझिए कि राजा कहलाने के साथ कहीं गद्दी भी मिल जाएगी अथवा सचमुच के राजा भी आपको कुछ गनै गूँथेंगे। हाँ, मन में समझते रहिए कि हम भी कुछ हैं, पर उपाधि की रक्षा के लिए कपड़ा-लत्ता, चेहरा, मोहरा, सवारी, शिकारी, हुजूर की खातिरदारी के लिए धान पयार में मिलाने पड़ेंगे। अपने धर्म, कर्म, जाति, देश, जाति आदि से फिरंट रहना पड़ेगा, क्योंकि अब तो आपके पीछे उपाधि लग गई है। इसी से कहते हैं उपाधि का नाम बुरा, उपाधि पाना अच्छा है सही, पर ऐसा ही अच्छा है जैसे बैकुंठ जाना पर गधे पर चढ़ कै।''[68]

मिश्र जी धार्मिक प्रकृति के थे। गौरक्षा और हिंदी आंदोलन में सक्रियता व्यापक अर्थ में, उनके देशहित से जुड़ती है। उनके काव्य में देशहित और देश

की स्वतंत्रता की चाह विशेष रूप से प्रकट हुई है। 'सबै सहायक सबल के' निबंध में अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति घृणा, क्रूरता और अहंकार के प्रति रोष में देश प्रेम का स्वर प्रबल है। इसका आगे विश्लेषण करेंगे।

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी में अपने समय के प्रति सजगता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। इसलिए समसामयिक स्थिति, परिस्थितियों पर उनकी तीखी प्रतिक्रिया मिलती है। उनमें पाठकों के प्रति मनुहार नहीं है। वे संतुलित दिशा निर्देश करते हैं। आर्थिक स्थिति, प्रमाद, समाज सुधार के प्रयत्नों में सफलता, टैक्स की बढ़ोतरी, प्रेस एक्ट, शिक्षा, हिंदी की प्रतिष्ठा और गोवध जैसे विषयों पर तार्किक ढंग से उन्होंने लिखा है। 'तुम्हें क्या' व्यंग्य निबंध में उपयुक्त देश में से अधिकांश को संभावित समाहित कर लिया है। पर 'तुम्हें क्या' की पुनरुक्ति में उनके देश प्रीति का दृढ़ स्वर छिपा नहीं रहता।

''हमने अपनी उन्नति का कुछ उपाय नहीं किया, केवल आलस्य को चरितार्थ करने में समय व्यतीत किया। अपना परंपरागत धन-धान्य सब नष्ट कर दिया। अब हमारी बड़ी दुर्दशा है, यहाँ तक कि भोजनाच्छादन तक का संकोच है। पर तुम्हें क्या ? तुमसे तो एक वराटिक नहीं माँगते, तुम्हारे तो एक चावल के प्रत्याशी नहीं।

हम हिंदू हैं अनेक कुसंस्कराविष्ट हैं, धर्म के भाग से जगह-जगह भटकते हैं, पर तुम्हें क्या ? तुम्हारी तरह कपट तो नहीं करते, तुमसे सुखान्वेशी तो नहीं। तुम सरीखे शुष्क हृदय ईश्वर के भक्ति-रस शून्य तो नहीं। हमारे रोम-रोम में ईश्वर की भक्ति तो है।

''हम हिंदुस्तानी हैं, तुम्हारी अपेक्षाबुद्धि-बल में बहुत कम हैं। तुमसे अत्यंत ही पराजित हैं, तुम हमारे ऊपर अन्याय करते हो, पर तुम्हें क्या ? क्या तुम्हारी इससे भद्र समाज में प्रतिष्ठा है ? क्या तुम्हें इसका प्रतिफल नहीं भोगना पड़ता। हम देसी पत्र संपादक हैं, हमारा सत्य कहना तुम्हें बुरा लगा। हमसे खुशामद कराने के लिए प्रेस एक्ट की घुड़की दिखाई, हमारे ऊपर अपना आधिपत्य जतलाया। पर तुम्हें क्या हम झूठ तो नहीं बोलते, तुम्हारी वृथा खुशामद तो नहीं करते।''[69] इस व्यंग्य लेख में हम और तुम के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए अपनी कमजोरी, अभाव, पराजित भाव को स्वीकार करते हुए, तुम के चरित्र के कपट,

क्रूरता दमनवृत्ति को उजागर किया है। 19वीं सदी में इतना सदा व्यंग्य हिंदी साहित्य की सामर्थ्य और प्रौढ़ता का प्रमाण है। 'अपने उग्र विचारों को प्रकट करने के लिए नए-नए ढंग खोज निकालने की प्रतिभा उनमें थी।'[70]

राधाचरण गोस्वामी ने हिंदुओं का धर्म परिवर्तन करने वाली मिशनरियों के छल-छद्मों को भी उघाड़ा। धर्म परिवर्तन का वास्तविक कारण अपने धर्म में अविश्वास होता है। जबकि मिशनरी रोटी का लालच देकर धर्म परिवर्तन कराती हैं। उन्होंने कहा कि 'हम निष्पक्षपात अनुमति अपने बंधु मिशनरी लोगों को देते हैं जो तबियत से हो, उसे क्रिश्चियन करें। रोटी का लालच किसी को ना दें।'[71] इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए उन्होंने एक फंड बनाने का प्रस्ताव दिया: ''धर्म परिवर्तन रोकने का भाव भी हिंदू हित एवं देश प्रेम से जुड़ता है। आज हम हिंदू लोग एक दूसरा फंड खोलें जो नेटिव क्रिश्चियन हमारे मिशन में आएँ उसे आजीवन जीविका मिलेगी। कल ही हजारों नेटिव क्रिश्चियन हिंदू हो जाएँ। इन लोगों का मजहब रोटी है।''[72] अंग्रेज शासकों द्वारा विविध टैक्स लगाने पर दुर्भाग्यी भारत का क्षोभ इन शब्दों में प्रकट होता है, टैक्स पर टैक्स, अकाल पर अकाल और मरी पर मरी यही देखी जाती है। नित्य नए आहनों से बेधा जाता है और नित्य नई स्पीचों से नॉन छिड़का जाता है। आगे अपने पश्चिमोत्तर भारत के लोगों की दयनीय स्थिति को प्रकट करते हैं, जिनको सुख का लेश मात्र नहीं है।[73] एक सजग और दायित्वशील पत्रकार की तरह वे वर्नाकुलर प्रेस एक्ट का विरोध ही नहीं करते, ब्रिटिश संसद में अपील करने की प्रक्रिया और मिली असफलता से देश की जनता को अवगत कराते हैं। हमारी गवर्नमेंट ने प्रेस एक्ट का प्रचार करके समाचारपत्रों की स्वाधीनता हर ली। विलायत तक अपील करने पर भी वह नहीं फेरी गई। देशी भाषाओं के समाचार पत्र उसके बिना अत:शून्य हो रहे हैं।[74]

शिक्षा और स्त्री शिक्षा

नर्मद

नर्मद में विशेष रूप से हिंदुओं को संबोधित किया। वे मानते थे कि हिंदुस्तान की अधिकांश संख्या हिंदुओं की है। पर उन्होंने समग्र जनता को संबोधित किया और देश के कल्याण के लिए हिंदुओं का सहयोग करने को कहा। वे मुगलों से अंग्रेजों के आगमन को भी अच्छा मानते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में परोक्ष रूप से

उनके प्रदान को सराहते हैं। भारतीयों के बुद्धि–विवेक के विकास में शिक्षा को अप्रतिम मानते हैं। शिक्षा का महत्व निबंध में देश के सुख और यश की वृद्धि में विद्याभ्यास को मुख्य साधन कहा। 'अनुभव से ज्ञान शक्ति अर्जित की जाती है, लेकिन स्कूल पाठशाला से ज्ञान शक्ति का विकास अधिक उपयोगी होता है। पढ़ना–लिखना और गिनना सीख जाना, ज्ञान शक्ति की कली खिलने का प्रथम सोपान है। साधारण विषय पढ़ना, लिखना और महत्त्वपूर्ण विषय पढ़ना–लिखना ये दोनों अलग–अलग बात हैं। साधारण विषय से नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण विषयों के अभ्यास से ज्ञान शक्ति विकसित होती है।'[75] स्पष्ट है कि वे स्कूली शिक्षा से प्राप्त कौशल की ओर संकेत कर रहे हैं। विकसित बुद्धि से तुलनात्मक और वाद विवाद शक्ति का विकास होता है। वे संस्कारित शिक्षित को परिभाषित करते हैं: ''नए ज्ञान से नया अनुभव और नए अनुभव से फिर नया ज्ञान, इस प्रकार हमारा मन संस्कारित, विकसित होता रहता है और बड़े एवं विचित्र असाध्य कार्य सरलता से कर लेता है। जब मनुष्य अपने आप स्वयं को प्राप्त जानकारी का जब अवसरोचित उपयोग कर सके, कार्याकार्य की तुलना कर सके, लाभालाभ समझ सके। युक्तियों को काम में लगा सके, तभी उसे संस्कारित, शिक्षित कहा जाएगा।''[76] ऐसे शिक्षित मनुष्य में विचार, तर्कशक्ति में वृद्धि के साथ नीति वृत्ति भी विकसित होती है। वे योग्य शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित करते हैं : ''दुख में धीरज, पुण्य और परमार्थ कार्य करने में तत्परता, सत्य के लिए शौर्य और हिम्मत, सगे–संबंधियों पर प्रेम, जीव–दया, देशभक्ति, त्याग, सद्‌गुण भी शिक्षण से दृढ़ होते हैं और संसार में प्रसिद्धि पाते हैं। महापुरुषों के चरित्र, इतिहास और कविता के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। इससे मनुष्य जाति के अनेक प्राकृतिक गुणों को जाना जा सकता है और दुर्गुणी को अंत में दुख और सद्‌गुणी को विजय मिलती है। यह जानकर दुर्गुण पर धिक्कार और सद्‌गुण से प्रीति होती है। मनुष्य मात्र में सद्‌गुण के बीज होते हैं परंतु योग और सुंदर शिक्षा के बिना सद्‌गुण सुंदर वृक्ष के रूप में पल्लवित और सुशोभित नहीं हो पाते।''[77] बीज–वृक्ष के रूपक द्वारा नर्मद जीवन में शिक्षा की अनिवार्यता, आवश्यकता को रेखांकित करते हैं वे गुजराती गद्य के आद्य प्रणेता थे इसलिए उनके विचारों में पुनरुक्ति दिखाई देती है। लेकिन उस समय शिक्षा के महत्व से गुजराती समाज को परिचित कराने वाले वे प्रथम साहित्यकार थे। शिक्षा मनुष्य के विचारों और कार्यों को व्यवस्थित और अनुशासित करती है। इस ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट

किया, इसे सुघड़ता कहा: ''कहाँ, कितनी मर्यादा में और कितने विवेक से बोलना, वेशभूषा कैसी रखना, मित्र और शत्रु के साथ किस प्रकार व्यवहार करना इस बारे में जानकारी आवश्यक है। उसका प्रसंगानुसार किस प्रकार उपयोग करना तथा उसमें यह अच्छा है, यह खराब है। इसलिए इस प्रकार ही रहना और रखना, करना और कराना, इसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है। ....सुघड़ता के बिना उच्च मनुष्य का शौर्य खतरनाक तथा शिक्षा चपलता में परिवर्तित हो जाती है तथा उसका हास्य विनोद भड़ैती समझा जाता है। विवेक, सभ्यता, नम्रता से मित्र की प्राप्ति होती है और सांसारिक कार्यों में सफलता मिलती है। विवेक, कुलीनता, विद्या पद को शोभायमान करने वाला है, उद्धताई नहीं। जितनी जिसमें सुघड़ता होती है, उतना उसको मान मिलता है और उसी प्रकार उसे प्रेम मिलता है।''[78]

नर्मद शिक्षा के इस उदात्त रूप को मनुष्य जाति के लिए अत्यंत उपयोगी मानते थे। शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं, इसे हस्तगत करने के लिए मार्ग भी निर्दिष्ट करते हैं। स्पष्ट है कि यह नई शिक्षा अकेली नहीं है। इसके माध्यम से अपने गुणों को संस्कारित करते हुए, विवेक-बुद्धि विकसित होने की प्रक्रिया में भारतीय मूल्यों का समावेश हो जाता है, जो भारतीय प्रजा के संस्कारों में पड़ा है लेकिन इसे अंग्रेजों की शिक्षा से सिद्ध होना नहीं मानते। वे इस शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित करते हैं परंतु इसके कुप्रभावों से भी अनभिज्ञ नहीं है। देशाभिमान निबंध में एक देशाभिमानी दक्षिण भारतीय वृद्ध के निरीक्षण को उद्धृत करते हैं जिसके माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा के दुर्गुणों पर प्रकाश पड़ता है: ''देशाभिमान कहीं नहीं है, न कलकत्ता और न और कहीं, हमारे लोगों में कुछ हैं, पर बड़बड़ ज्यादा, एक्य नहीं। दूसरा समाज अंग्रेजी पढ़ता है तो केवल नौकरी पाने के हेतु से ही। अंग्रेजी राज्य के कारण हुई जान-माल की सुरक्षा की छूट का यह लोग बखान करते हैं। बस कार्य भार के कारण दुखी हैं।....शिक्षा प्राप्त बंगाली लोग विवेकी हुए हैं, पर यूरोपियन लोगों की खुशामद करने वाले हैं तथा उनके रीति-भाँति पर बहुत अधिक अनुसरण करते हैं।[79] ''स्त्री शिक्षा निबंध में भी वे स्त्री और पुरुष को समान मानते हैं। मनुष्य शब्द में पुरुष और स्त्री दोनों समाविष्ट हैं। आकार, स्वभाव, भावना और समझदारी में दोनों लगभग एक समान हैं। समग्र रूप से पुरुष की अपेक्षा स्त्री 'मनुष्य' संज्ञा के लिए कुछ कम अधिकारिणि नहीं

है।''[80] पारंपरिक मान्यताओं में बद्ध समाज के बीच नर्मद समानता के मूल्य को प्रतिस्थापित करते हैं और उसे अशक्तिमान और पुरुष से कम बुद्धि नहीं मानते। यदि पुरुष की तरह स्त्री को स्वतंत्रता दी जाए तो वह भी यश प्राप्त कर सकती है। इसके लिए वे यूरोप,अमेरिका की स्त्रियों के साथ गार्गी, भांमगी, मंडल मिश्र की पत्नी सरस्वती, कुंती के कार्यों का उल्लेख कर लिखते हैं: ''सर्वप्रथम स्त्रियों पर श्रम और ध्यान देकर उनको तालीम दी जाए तथा उनको स्वतंत्रता दी जाए, बाद में देखा जाए कि वे पुरुष की तरह यश प्राप्त कर सकती हैं या नहीं। वे ब्रह्मचारी साधुओं और उन विद्वानों के पूर्वाग्रह या अंध विचारों की आलोचना करते हैं, जो स्त्री को नरक का कुआं, विष बेल, दुख का दरिया, पाप की पुतली, लोभी, नीच, हठी आदि मानते हैं। जहाँ स्त्रियों की पढ़ाई नहीं हुई है, जहाँ अच्छी संगति नहीं मिली, जहाँ इनका बाल विवाह हुआ है, जहाँ भी वैधव्य के कारागार में कैद है और जहाँ इनको स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ भी अपने अनपढ़ दुराचारी पुरुषों के सहवास में दुराचारी कैसे ना हों, लेकिन अफसोस की बात है कि उनका स्वाभाविक दोष न होते हुए भी साधुओं ने अपने को सांसारिक सुख न मिलने की कुढ़न का दोष उन पर निकाला है।''[81] वे स्त्री को नीचा मानने वालों और ज्ञान प्राप्ति की सामर्थ्य न होने तथा पढ़-लिखकर बिगड़ जाने की मान्यता के खंडन में तर्क देते हैं। शिक्षा तो दुर्गुणों से निकालने वाली है, शिक्षा से यदि बिगाड़ होता तो उसे पुरुषों को भी नहीं लेनी चाहिए। कोई कहेगा कि शिक्षा में दोष नहीं है, स्त्री जाति के स्वभाव में दोष है, जिससे उस पर शिक्षा का असर नहीं होता है। स्वभाव भी शिक्षा की संगत से अच्छा होता है, अरे इतना अच्छा होता है कि बाल्यावस्था और पूर्ण अवस्था के स्वभाव में जमीन आसमान का अंतर हो जाता है। यदि जन्म से ही उनका स्वभाव बुरा है तो भी शिक्षा तथा सद् संगति द्वारा उसमें सुधार संभवित है। मैं तो कहता हूँ कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री का मन अधिक कोमल है, इसलिए बाल्यकाल से उस पर शिक्षा और नीति की छाप पड़ेगी तो वह कदापि दूर नहीं होगी।''[82]

परंपरित मान्यताओं के बीच नर्मद के स्त्री और स्त्री शिक्षा से संबंधित यह विचार सुधारक वृत्ति के ही नहीं, उस भारतीय परिपक्व दृष्टि के परिचायक हैं, जो पश्चिमी विचारों से पोषित होकर पुष्ट हुए हैं। संस्कृत सुभाषित के अनुसार पत्नी के गुण के संकेत लेख में अवश्य हैं लेकिन नर्मद के विचारों में प्राचीन और नवीन का अद्‌भुत मिश्रण है। वे शिक्षा रहित स्त्री के बिना के संसार को

भयानक जंगल कहते हैं: ''शिक्षा प्राप्त स्त्री रत्न अपना तेज कदापि खोता नहीं है, जैसे-जैसे उसका उपयोग होता है,वैसे-वैसे वह अधिक प्रकाश देता है। दुनिया का छौर अपना घर और घर का छौर अपनी स्त्री, यह कहना गलत नहीं है। जिस तरह स्त्री के बिना संसार सूना है, वैसे शिक्षा रहित स्त्री के बिना यह संसार भयानक जंगल है, जिसमें शेर बाघ रहते हैं तथा शिक्षित स्त्री का संसार एक रमणीय उद्यान है।''[83]

करसनदास मूलजी

करसनदास मूलजी भी स्कूली शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा के पक्षधर थे। वे नर्मद की तरह स्त्री-पुरुष के समान अधिकार को मानते हैं। स्त्री शिक्षा (1950) औरस्त्रियों के अधिकार (1859) लेख में उन्होंने स्त्री शिक्षा से परिवार और लड़की के संस्कारों पर पड़ने वाले प्रभाव को दर्शाया है। जो माता-पिता लड़की को कन्या पाठशाला में नहीं भेजते, वे अपने धर्म का पालन नहीं करते:

''प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वह अपनी पुत्री को अच्छी पाठशाला में भेजें। शिक्षा लेने से मेरी पुत्री नीतिवान होगी और बड़ी होकर अपने बालकों को नीतिवान बनाएगी।'' शिक्षा लेने वाली लड़की दुराचरण को छोड़ देगी, यह विश्वास व्यक्त करते हैं।[84] करसनदास मुलजी गुजरात के समाज जीवन से जुड़े होने के कारण जानते थे कि बाल विवाह की कुरीति के कारण लड़की दो-तीन वर्ष में ही स्कूल छोड़ देती है। इससे स्त्री शिक्षा का लाभ गुजराती समाज को नहीं मिल पा रहा था। वे स्त्रियों को परिवार की स्थिति के अनुसार स्वतंत्रता देकर विभिन्न समितियां में भेज कर संस्कारित करने को कहते हैं:

''स्कूल में ही शिक्षा मिलती है, यह विचार भूलयुक्त है, देशवासियों के मन से यह धारणा निकल जानी चाहिए। सही बात है कि एक बड़े स्कूल या पाठशाला से जिस तरह शिक्षा मिलती है, वैसी अन्य स्थान पर नहीं मिल सकती। परंतु अधिकतर देखते हैं कि लड़कियाँ उचित समय पर शिक्षा नहीं ले पातीं। ऐसी स्थिति में वयस्क होने पर लड़कियों को अपने पति के साथ नीतिवान पुरुषों की मंडली में जाना चाहिए परंतु बचपन में दो-चार वर्ष पाठशाला जाने से और बाद में घर के कोने में समा जाने और अपनी जैसी अज्ञानी स्त्रियों के समूह में बैठकर एक-दूसरे परिवार की निंदा करने से निश्चित ही स्त्रियों की स्थिति नहीं सुधरने की।''[85] करसनदास मूलजी गुजरात के तत्कालीन भद्र समाज की

जड़ परंपराओं और विश्वासों का विरोध करते रहे, इस समाज का अंग होने के कारण वह कन्या शिक्षित हो, इसके व्यावहारिक उपाय खोजते हैं। यह अलग बात है कि वह उतने कारगर नहीं हो सके। बाल विवाह के कारण शिक्षा न ले पाई लड़की, अपने पति के साथ शिक्षित मंडली में कितना जा सकेगी, जबकि उसका पति भी अल्प शिक्षित होता है और जिस परिवार में उसका विवाह हुआ है, वह भी परंपरित सोच विचारवाला हो।

नवलराम

19 वीं सदी के गुजरात के शिक्षण जगत में नवलराम का स्थान इसलिए विशिष्ट है क्योंकि उन्होंने शिक्षा और शिक्षकों के बारे में पर्याप्त अध्ययन-अनुशीलन करके सिद्धांत और आदर्शों को प्रस्तुत किया था। शिक्षण शास्त्र के निरूपण में फाउलर और डेविड स्टोन के विचारों को तत्कालीन स्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहृत किया।[86] उन्होंने शिक्षक की समाज में घटती प्रतिष्ठा को समझ कर ऐसे आदर्श को प्रस्तुत किया, जिससे इस नाम और कार्य को आदर प्राप्त हो: ''महेता जी (शिक्षक) तू निश्चित मान कि तेरे कार्य (व्यवसाय) जैसा ऊँचा, वैसा ही पवित्र है। आगे के जमाने को सही रूप में बनाने वाला तू ही है। आगे का जमाना मूर्ख या विद्वान, धनी या निर्धन, धर्मी या अधर्मी, शूर या कायर बनेगा, महेता जी याद रखना कि यह तुझ पर ही आधार रखता है। यदि तेरे में परमार्थ या देशभक्ति का एक अंश भी होगा तो तुझे अपने काम में उमंग उत्साह से डुबाने के लिए बहुत है।''[87] उन्होंने शिक्षाशास्त्र की आवश्यकता, शाला का समय, शिक्षण पद्धति, अवलोकन शक्ति की शिक्षा जैसे तीसेक लेख लिखे हैं।[88] इनमें शिक्षा संबंधी चिंतन की विशेषता प्रकट हुई है। नई शिक्षा से पूरी तरह प्रभावित होते हुए भी, इन लेखों में भारतीय मूल्यों के प्रति अहोभाव भी झलकता है। लेकिन वे सुधारक युग के भी अकेले साहित्यकार-विवेचक हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से कहा: 'आधुनिक सुधार का आरंभ अंग्रेजी शिक्षा के साथ जुड़ा है।' भरत खंड को प्राचीन काल की तेजोमय उन्नति के मूल में भी शिक्षा थी। लेकिन अंग्रेजी नई शिक्षा ही वर्तमान सुधार की नींव है। इस संदर्भ में उनके विचार स्पष्ट हैं। सरकार, सभाएँ (समिति) और सुधारकों का प्रदान गौण है। वे व्यंग्य में कहते हैं ''मानो हमारा सुधार यूरोप से संचों में तैयार होकर आया हो और प्रवेश के लिए मैनचेस्टरियों के कपड़ों के साथ अवसर पाने की प्रतीक्षा कर रहा हो। हमारे

आचार-विचार, हमारे धर्म और हमारी स्थिति में परिवर्तन करने का रूप यूरोप किस प्रकार बना सकता है, वहाँ के विद्वान भी इस बारेमें अनजान थे और हम अभी छद्म या शोर कितना भी करें, परंतु उस समय वस्तु रूप में वे हमारे बारे में अनजान थे।''[89] नवलराम की इन धारणाओं में अतिरेक लग सकता है, परंतु वे अपने ढंग से अंग्रेजी सुधार के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

अंग्रेजी सुधार का प्रथम लाभ संसार का सामान्य ज्ञान है, दूसरा महाबल बुद्धिवाद (रेशनलिज्म) है। बुद्ध की कसौटी पर सत्य-असत्य का निर्णय होता है: ''इससे पहले हमारा देश प्रमादवादी था, यानी बुद्धि क्या कहती है, उससे आप्त पुरुष क्या कह गए हैं,हम इस पर अधिक विश्वास करते थे और कई बार बुद्धि को कुछ ना मानकर इस बारे में निर्णय के लिए हमारे प्राचीन ग्रंथों में क्या कहा गया है, यह खोजने लग जाते थे। जन सामान्य भाव (Equality of men) यह नई शिक्षा का केन्द्रीय भाव है। सभी मनुष्य समान है सब के समान अधिकार हैं कोई उच्च नीच नहीं है सभी को समान सुख और समान छूट मिलनी चाहिए। वे विश्लेषित करते हैं कि हमारे यहाँ जन विशेष भाव का प्रचलन थाा विषम का सहयोग ही हमारे संसार व्यवस्था की व्याख्या से यह भाव विपरीत है और इसी से स्वतंत्रता का भाव निष्पन हुआ है।''[90] स्त्री-पुरुष की समानता, स्वतंत्रता के अधिकार से हिंदुओं की प्राचीन समझ भिन्न थी। स्त्री को अर्धांगिनी मानते थे परंतु बाएं दाएं का भेद रखकर। व्यवहार में पति, स्वामी आदि शब्दों से स्थिति साफ हो जाती है। अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी रागवृत्ति को विकसित किया जो पहले से थी, परंतु उसमें विराग का बोध अधिक था। नवलराम अंग्रेजी शिक्षा का बड़ा प्रभाव उद्योग प्रतीति को मानते हैं: ''इस तरह नया ज्ञान, बुद्धि, भाव, वृत्ति और प्रतीति आदि हमारी पुरानी बातों से विपरीत है और इन्हें अमल में लाने के लिए तलवार (बलपूर्वक) लेकर खड़े हैं।''[91] इस तरह की स्पष्ट प्रतीति के कारण वे अंग्रेजी शिक्षा को सुधार का प्रबल कारण मानते हैं।

हिंदुस्तान में एक भाषा' निबंध में उन्होंने भारत के इतिहास का दिग्दर्शन करते हुए, एक भाषा की परंपरा को रेखांकित किया है। सम्राट अशोक के समय समस्त उत्तर भारत में एक ही भाषा बोली जाती थी। ब्रजभाषा, छावनी की भाषा उर्दू ,कर्मकांड की भाषा संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की चर्चा करते हुएवे लिखते हैं कि हिंदी-उर्दू के मेल से बनी' हिंदुस्तानी' को भारत के सभी हिस्सों में समझा जाता था। स्वाभाविक है कि वे उत्तर भारत के तत्कालीन 'हिंदी उर्दू विवाद' से

परिचित नहीं हों या यहाँ उन्हें यह चर्चा अवांतर लगी हो लेकिन वह ऐसा मानते थे कि 'हिंदुस्तानी जन भाषा न भी कही जाए तो भी देश में उसकी स्थिति प्राय: वही है जो स्थिति यूरोप में फिलहाल फ्रेंच भाषा की है।'[92] लेकिन वे दूसरे पक्ष के विश्वास का दृढ़ता से खंडन करते हैं कि अंग्रेजी देश भाषा बन जाएगी। यह एक सुलझे हुए भारतीय चिंतक की तत्कालीन स्थितियों पर गहरी पकड़ का प्रमाण है। वे अलग-अलग भाषाओं में विभाजित राज्यों में देश की एकता की कमी आने का कारण मानते हैं। स्वतंत्रता के बाद भाषावार प्रांतों की रचना से जिन समस्याओं से भारतीय प्रजा जूझ रही है, नवलराम उस समय इसके संकेत देते हैं। नवलराम के यह पूर्वाग्रहमुक्त विचार उन्हें भारतीय स्वत्व की पहचान का सजक प्रहरी ही नहीं बनाता, उनके देशप्रेम का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

मणिलाल द्विवेदी

मणिलाल द्विवेदी के शिक्षा संबंधी विचारों के केंद्र में धर्म विचार हैं।[93] इसलिए वे आग्रही थे कि उच्च शिक्षा स्वभाषा में हो।वे प्राचीन शिक्षा और नई शिक्षा के अंतर को स्पष्ट करते हैं: ''प्राचीन शिक्षा का मुख्य रूप यह था कि किसी एक विषय पर संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना। अभी की शिक्षा का सामान्य स्वरूप है सभी विषयों का कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त करना। इन दोनों में से कौन सा उचित है, यह समझना कठिन नहीं है।''[94] वे परिस्थितियों के अनुसार तत्कालीन शिक्षा पद्धति की सीमाओं को जानते हुए भी, उसको आवश्यक मानते हैं परंतु पिछले 50 वर्ष की नई शिक्षा के परिणाम से संतुष्ट नहीं थे। स्कूलों में जिन पुस्तकों को पढ़ाया जाता है, उनमें संसार-व्यवहार संबंधी ज्ञान दिखाई नहीं देता। धर्म के बारे में भी कोई विवेक नहीं है। मानो इन पुस्तकों को पढ़ने वाला स्कूल से निकलकर किसी संन्यासी के मठ में जाने वाला हो।''[95] शिक्षा से मनुष्य का सर्वांगी विकास मानने के कारण उन्होंने स्कूली शिक्षा की सीमाओं पर बार-बार लिखा। ''शिक्षा यानी मनुष्य का सब प्रकार का सुधार-ऐसा जिससे जो-जो कर्तव्य कर्म करने हों उनमें वह सफल हो, सुखी हो। मनुष्य की बुद्धि को ऐसे मार्ग की ओर दिशा निर्देश करें जिससे वह इस दुनिया में एवं दूसरी दुनिया में अपना कर्तव्य यथार्थ रूप से निभा सकें।''[96] यदि मणिलाल द्विवेदी पर हर्बर्ट स्पेंसर और थॉमस हक्सले का प्रभाव स्वीकार किया गया है। फिर भी वे पुरुष और स्त्री की शिक्षा को पाँचवी कक्षा से अलग करने के पक्ष में थे।[97] स्त्री शिक्षा के बारे में उनके विचार

परंपरावादियों की समीपता का संकेत देते हैं। स्त्रियों की शिक्षा की अधिकाधिक आवश्यकता है। परंतु इस समय जो शिक्षा दी जाती है ,उसकी तो उन्हें बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। वे स्त्री शिक्षा से कन्याओं को दूर रखने को कहते हैं, जो स्त्रीत्व के स्थान पर पुरुषत्व प्रदान करती है।[98] यह स्त्रीत्व के गुणों–क्षमा, दया, प्रेम और मृदुता के विकास में सहायक नहीं होती। यद्यपि वे स्कूल–कॉलेज में दी जाने वाली उच्च शिक्षा का समर्थन भी करते हैं जिसकी देश को अतिशय आवश्यकता है। जिसके कारण भारतीय ऊँची नौकरी में नियुक्त हो सकते हैं और उनका मानसिक विकास भी होता है। वे इसको अधिक विकसित करने के लिए सरकार से उसका बजट बढ़ाने के लिए कहते हैं। मणिलाल द्विवेदी के विचार मध्य मार्गी हैं। वे नई शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं लेकिन भारतीय ज्ञान परंपरा की क्षति उठाकर नहीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

शिक्षा और स्त्री शिक्षा के बारे में भारतेंदु जी के विचार हंटर कमीशन को दिए उनके उत्तर में स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं। श्री वीरभारत तलवार ने पूरी गंभीरता और तर्कपूर्ण ढंग से अपने ग्रंथ 'रस्साकशी' के प्रथम अध्याय में उन्हें विस्तार से प्रस्तुत किया है, तथ्यों को सही संदर्भ में रखा है। सरकार शिक्षा के क्षेत्र से अपने हाथ खींच लेना चाहती थी। चाहे परंपरागत स्कूलों को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग बनाने की बात हो, चाहे स्कूलों का प्रबंध नगरपालिकाओं को सौंपने का हो, चाहे उच्च शिक्षा के संस्थानों को प्राइवेट संस्था को अनुदान देकर सौंपने की बात हो, और चाहे शिक्षा में धार्मिक तटस्थता की बात हो; भारतेंदु सरकारी नियंत्रण और हस्तक्षेप को आवश्यक मानते थे, श्री तलवार को यह बात हैरत में डालती है कि 19 वीं सदी में नवजागरण की चेतना फैलाने में शिक्षा की सबसे बुनियादी भूमिका थी, उसे भारतेंदु पूरी तरह औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण में देने को कहते हैं।[99] यह भी तथ्य है कि यूरोपीय संपर्क से आधुनिक ज्ञान–विज्ञान को आत्मसात करके आत्मनिर्भर बनाने की कोशिशें भी कारगर नहीं रहीं। इसके कारण के बारे में स्वयं वीरभारत तलवार लिखते हैं: ''इस प्रदेश के हिंदुओं के बीच, हिंदी भाषी समाज में 19 वीं सदी में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हुआ ही नहीं। औपनिवेशिक शिक्षा तंत्र के बाहर शिक्षा के किसी की वैकल्पिक प्रबंध को और उसमें निजी प्रयत्नों की भूमिका को नहींदेख पाना भारतेंदु की सिर्फ

अपनी सीमा नहीं थी। यहउस वक्त के पश्चिमोत्तर प्रांत के हिंदी भाषा समाज की वास्तविक स्थिति को और उसके तथाकथित नवजागरण की कमजोरी को प्रकट कर देता है।''[100] आलोचक का यह निरीक्षण भारतेंदु के सरकारी नियंत्रण के समर्थन के विचार के पक्ष में जाता है। भारतेंदु व्यावहारिक रूप से पश्चिमोत्तर प्रांत के पिछड़ेपन और समस्याओं की संश्लिष्टता को समझ रहे थे इसलिए वे सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पर बल देते हैं। स्त्री शिक्षा और लड़के-लड़कियों की सहशिक्षा के विरोधी विचार पश्चिमोत्तर समाज की मानसिकता को प्रकट करते हैं। जो प्रांत इतना रूढ़िचुस्त हो, लड़की को स्कूल भेजने को तैयार नहीं हो, वहाँ सहशिक्षा के लिए तैयार होने की संभावना नहीं थी। वीरभारत तलवार ने स्वयं हंटर कमीशन की रिपोर्ट उद्धृत की है, जिसके अनुसार 1881-82 में जहाँ मद्रास और मुंबई प्रेसीडेंसी में प्रति 400 स्त्रियों में से एक स्त्री शिक्षित थी, बंगाल में हर 976 स्त्रियों में एक स्त्री शिक्षित थी, वहाँ पश्चिमोत्तर प्रांत में हर 2169 स्त्रियों में एक स्त्री शिक्षित थी।[101] भारतेंदु स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी, हिंदी भाषी समाज के पिछड़ेपन और अज्ञान को दूर करने के लिए सरकार से अपेक्षा करते हैं। स्पष्ट है कि युक्त प्रांत में परंपरावादी शक्तियाँ शक्तिशाली थीं। दूसरी ओर, बालविवाह के कारण बाल विधवाओं की संख्या आश्चर्य जनक रूप से अधिक थी। 1918 के आँकड़े हैं: ''1 वर्ष की उम्र वाली विधवाओं की संख्या 113 थी, 2 वर्ष की उम्र वाली विधवाएँ 70, दो से तीन साल के बीच की 151, तीन से चार साल के बीच की 603, चार से पाँच साल के बीच की 1131,पाँच से दस साल के बीच की 13069 और 10 से 15 साल के बीच की विधवाएँ 38849 थीं।''[102]

शिक्षा और स्त्री शिक्षा के लिए निजी संस्थाओं के द्वारा प्रयत्न हो रहे थे, उस सक्रियता के बावजूद उन्हें भी सफलता नहीं मिल रही थी। स्वामी दयानंद की प्रेरणा से 'कन्या गुरुकुल योजना' की पहल की गई थी, उनमें निजी प्रयत्नों से जालंधर में बना कन्या महाविद्यालय जिसे लाला देवराज ने 1890 में स्थापित किया था। इसे चलाने के लिए लाला देवराज को जो कठिन परिश्रम करना पड़ा, उसे उनके जीवनीकार के कथन को वीरभारत तलवार ने उद्धृत किया है: ''एक बूढ़ा पंडित पढ़ने के लिए आने वाली लड़कियों को वहाँ भेजने के लिए ,उनके माता-पिता से बहस करता हुआ, घर-घर घूमा करता था। श्री देवराज मिठाई, खिलौने आदि जेबों में भरकर बड़े सवेरे घर से निकल पड़ते थे और परिचित

बंधुओं की लड़कियों को लालच देकर विद्यालय आने के लिए उत्साहित करते हुए बहुत से घरों का चक्कर लगा आया करते थे। एक दिन जो लड़की आती, दूसरे दिन उसका कोई सगा संबंधी आता, उसे उठा ले जाता और श्री देवराज को दस–पाँच जली कटी सुना जाता। शहर में निकलने पर अपशब्दों के साथ आप पर रोड़े–पत्थर भी बरसाए जाते थे। जिस समाज में लड़कियों की शिक्षा का अर्थ उनको दुश्चरित्र बनाना और उसकी मर्यादा के विपरीत समझा जाता हो, उसमें उनकी शिक्षा के परिश्रम को सफल बनाना लोहे के चने चबाने से भी ज्यादा कठोर और दुष्कर कार्य था।''[103] एक समर्पित व्यक्ति के साथ ऐसे व्यवहार से भारतीय समाज की रूढ़िग्रस्त मानसिकता का पता तो चलता ही है, लेकिन ऐसे प्रयत्नों पर गौरव भी होता है। युक्त प्रांत और अवध के समाज में ऐसे समाज सुधारकों एवं संस्थाओं का अभाव था। इसे सुधारकों या सुधार की इच्छा रखने वालों का दोष समझना उचित नहीं होगा। भारतेंदु समाज हितैषी और देशहित की भावना रखने वाले साहित्यकार थे। वे साहित्य से प्रेरित तो कर सकते थे, पर अगली पंक्ति में खड़े रहने वाले सुधारक–आंदोलनकारी जैसा उनका व्यक्तित्व नहीं था। शायद इसीलिए वे शिक्षा में सरकारी नियंत्रण की स्थिति को आवश्यक मानते थे जिसे उपर्युक्त स्थिति में उनकी सजगता का परिचायक माना जा सकता है।

बालकृष्ण भट्ट

पश्चिमोत्तर प्रांत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बहुत धीमा था और प्रारंभ में मिशनरियों द्वारा प्रारंभ हुआ था। जिन स्कूलों में शिक्षा दी जा रही थी उनमें शिक्षा विभाग के अधिकारियों, डायरेक्टर और प्रिंसिपल के पूर्वाग्रह और उच्च अधिकारियों की कृपा पात्र बने रहने का भाव प्रचलित था। वे स्वयं शिक्षक रहे थे। बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से यह दृढ़ स्वर निकलता है कि अंग्रेज सरकार पश्चिमोत्तर प्रांत को अन्य प्रांतों से पिछड़ा रखना चाहती थी। उनके कथन में व्यंग्य के साथ पीड़ा का भाव भी प्रकट हुआ है: ''हम यह कभी नहीं समझे थे कि इनके संकीर्ण हृदय में हम लोगों की ओर से इतनी बुराई कभी हुई है कि यह हिंदुस्तानी कभी आगे न बढ़ने पावें। बंगाल आदि प्रांतों की अपेक्षा इस हिस्से के लोग शारीरिक बल में प्रबल हैं। अब उच्च शिक्षा के प्रभाव से मानसिक बातों में भी प्रबल हो गए तो अंग्रेजी राज्य की कुटिल नीति में बड़ा भारी धब्बा लग जाएगा और

हम अपने सिविलियन भाइयों के बीच कभी आदर न पाएँगे क्योंकि यह तो किसी तरह हो नहीं सकता कि जो हिंदुस्तानियों का शुभचिंतक हो। वह शुद्ध हृदय सिविलियन लोगों की मंडली में सुर्खरू रह जाय।''[104] इसी लेख में स्कूल फीस को दुगनी करने का विरोध करते हैं क्योंकि धनी वर्ग को शिक्षा के स्थान पर धन कमाना मुख्य उद्देश्य था, परंतु मध्यम वर्ग इतनी फीस का भार वहन नहीं कर सकता। वे अपना पेट काटकर बच्चों को पढ़ाते हैं। 'अंग्रेजी शिक्षा के गुण दोष' लेख में उस वर्ग पर व्यंग्य करते हैं जो अंग्रेजी से ही बुद्धि का विकास मानता है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा का संबंध नौकरी पाना, ''जो अंग्रेजी पढ़ने से नौकरी न मिलती होती तो विद्या पढ़ना निष्कारण धर्म मान कोई इसे न पढ़ता। परंतु हमारे बंग देशी अथवा अन्य प्रांत के लोग भी यही सिद्ध करते हैं कि बिना इसके मनुष्यता या इंसानियत आती ही नहीं। जिसका फल यह देखने में आता है कि संस्कृत विद्या या सनातन धर्म अथवा प्राचीन आचार-विचार पर कुल्हाड़े चल रहे हैं।''[105] वे विद्या के दो मुख्य फल-नौकरी पाना और ज्ञान वृद्धि एवं चरित्र संशोधन है-मानते हैं। अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजी पढ़े लिखे को नौकरी का लक्ष्य सिद्ध होता है परंतु योग्यता का आदर उसके बिना भी है। बालकृष्ण भट्ट अंग्रेजी शिक्षा की तत्कालीन समाज में उपादेयता के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हैं: ''जितने लोग अपने बालकों को अंग्रेजी पढ़ाते हैं, उनका वास्तव में यही तात्पर्य होता है कि इससे सरकारी नौकरी मिल जाएगी। लड़का हमारा दो सौ अड़ाई सौ तनख्वाह पावेगा, कुर्सी पर बैठेगा, बाबू साहब, वकील या डॉक्टर साहब कहलावेगा। यह कभी न सुना कि अमुक विद्वान ने केवल अपने साइंस के द्वारा कमाई की, कुछ युक्ति निकाली और उस से अपने को या अपने देश को कुछ लाभ पहुँचाया हो।''[106] इस सांसारिक लाभ के साथ वे मानसिक या पारमार्थिक लाभ पर विचार करते हुए 'पैट्रियाटिज्म' का विश्लेषण करते हैं, जिस पर सुशिक्षित विद्वान बड़ा अभिमान करते हैं। यह शब्द लैटिन के 'पेटर' से निकला है, जिसका अर्थ है पिता। जो भाँति भाँति के क्लेश उठाकर भी अपने कुटुंब का पालन पोषण करता है। पालन पोषण और रक्षा का मुख्य धर्म इसमें निहित है। देश पर अनुराग ही पैट्रियाटिज्म है। वे यह संदर्भ स्पष्ट करके सर सैयद अहमद के पैट्रियाटिज्म के नाम से मुसलमान के हित साधन की आलोचना करते हैं।[107] बालकृष्ण भट्ट 1907 में 'अंग्रेजी तालीम और जातीय शिक्षा' लेख में उत्तम नागरिकों के निर्माण हेतु जातीय शिक्षा के लिए जातीय विश्वविद्यालय स्थापित

करने का सुझाव देते हैं: ''जातीय विश्वविद्यालय हो जाने से हमारे और मुसलमान भाइयों के लड़के अपने मजहब और देश के प्राचीन महापुरुषों के चरित्र अपनी भाषा में पढ़ धर्म और समाज संबंधी कितनी ऐसी लाभदायक बातें सीख सकते हैं जो वर्तमान क्रम की अंग्रेजी तालीम में आना कभी संभव नहीं है। हमको विदेशियों की भाषा और उनके ग्रंथकारों से कोई द्वेष नहीं है वरन अंग्रेजी के जो ग्रंथ हमारे फायदे के हैं या जिनकी हमारे यहाँ कमी है उनका प्रचार या अनुवाद हमारा कर्तव्य होना चाहिए।''[108] भारतीय संस्कृति की उच्च परंपरा में दृढ़ विश्वास के कारण उन ब्राह्मणों की तेजस्विता का गौरव करते हैं जो भारतीय विद्या का अध्ययन करते हुए संतोष वृत्ति रखकर एकांत चिंतन कर धर्म दर्शन के क्षेत्र में शिखर पर पहुँचे। हरे-भरे ,जंगल पर्वत या नदी के पट में निवास करते हुए बड़े-बड़े राजा और सभ्य मनुष्यों के शिक्षा गुरु बने थे। वहीं से बैठे-बैठे बड़े-बड़े कानून गढ़ते थे, राजकाज में मुल्की इंतजाम की बारीक से बारीक सलाह देते थे और सभ्यता के ऐसे ऐसे सूत्र पात कर गए कि यूरोप की परम सभ्य जाति भी उन्हें समझ-समझ हैरान और दंग होती है।[109]

बालकृष्ण भट्ट स्त्री शिक्षा के समर्थक थे। वे भारतीय नारी का गौरव करते हैं जो विषम परिस्थितियों में भी अपने दायित्व का निर्वहन करती है। स्त्री गृहस्थाश्रम की आधार होती है। धर्म और दया की तो वे मूर्ति होती हैं। हमारा हिंदू धर्म जिससे सब लोग लचर कहकर धकियाते फिरते हैं इन अबलाओं ही की दशा के सहारे किंचित टिक रहा है। मुंतजिम ऐसी कि टोडरमल की अकिल भी इनके इंतजाम के आगे चक्कर में आती है। पुरखिन पुरनिया स्त्रियों का अपने घर का इंतजाम मोटी मोटी सल्तनत का नमूना है। सिवा इसके अभी हम लोगों में ऐसी वैसी बुद्धिमती चतुर सयानी स्त्रियों पर पड़ी हैं जो कोठी और इलाके का वरन राज का भी सब काम संभाले हैं।''[110]

स्पष्ट है कि वे भारतीय नारी के प्रदान, प्रकृति और औदार्य की प्रतिष्ठा करते हैं। परिवार के प्रति उसके त्याग और समर्पण को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं: ''वही हमारी स्त्रियाँ परकाटा पखेरु की भाँति घररूप पिंजरे में बंद रूखा सूखा भोजन और मोटा झोटा कपड़ा मात्र से सतीत्व पालन करने बैठी रहती हैं। बाहर बाबू साहब अपने सुख और आराम के लिए सैकड़ो रुपए बहाए देते हैं। नई-नई कलियों का स्वाद लेते डोलते-फिरते हैं। पति देवता हमारी गृहेश्वरियों को कभी धोखे से ही एक बार उन पर चित्त दें तो इतने ही से निहाल हो जाती हैं।

धन्य है उनके धैर्य और सबर को। देश की दुर्गति के बहुत से कारणों में स्त्रियों की ओर से मर्दों का निरपेक्ष होना भी एक कारण है।''[111] इन लेखों में भी परोक्ष रूप से अपनी परंपरा में संस्कारित, शिक्षित हुई स्त्री की महिमा करते हैं, जिसने किसी स्कूल में शिक्षा नहीं ली लेकिन अपने दायित्वका निर्वहन अच्छी तरह करती हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र भी अन्य लेखकों की तरह अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न दोषों की भर्त्सना करते हैं और देशभक्त नागरिक के स्थान पर राजभक्त बाबू बना रही है। यह शिक्षा बालकों को सच्चरित्र, स्वावलंभी और देश प्रेमी नहीं बनाती। उनके लेखों और काव्यों में यह भाव प्रकट हुआ है।बालकों के लिए उन्होंने 'सुचाल शिक्षा' (1891) नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी। इक्कीस अध्यायों वाली पुस्तक की भूमिका में इसके उद्देश्य के बारे में लिखा: ''बड़े खेद और आक्षेप का विषय है कि इन दिनों भारत में ऐसे लोग बहुत ही थोड़े देखने सुनने में आते हैं जिनके चरित्र पर विचारवानों को सचमुच की श्रद्धा उत्पन्न हो सके। साधारण लोगों का तो कहना ही क्या, जिन लोगों ने वर्षों विद्याध्ययन कर के बड़ी-बड़ी पदवियाँ प्राप्त की हैं उनके भी चाल चलन अधिकतर ऐसे नहीं है कि दूसरों के लिए उदाहरण बनने के योग्य हों। इनके यद्यपि कई कारण हैं पर उनमें से एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्हें पढ़ने लिखने के समय बहुत बातें नहीं सिखलाई जातीं जिनसे उनके हृदय में यह संस्कार दृढ़ स्थायी हो जाए कि ईश्वर ने मनुष्य को केवल कमाने खाने की चिंता में फँसे रहने के लिए नहीं बनाया।

यदि हमने यह न जाना तो अपने और दूसरों के लिए हमें किस-किस रीति से क्या-क्या कर्तव्य है तो हमारा दूसरे जीवों से उत्तम बनना वृथा है। बस यही सिखलाने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी है।''[112] देशोन्नति के लिए स्त्रियों की शिक्षा अनिवार्य मानते थे और उसकी उचित व्यवस्था न होने का उन्हें दुख भी था। फिर भी,उनके विचार भारतीय मूल्यों, नैतिक आचरण को प्राथमिकता देने वाले हैं। वे शिक्षक को भी चरित्रवान, प्रशिक्षित और मताग्रही ना होना अनिवार्य मानते हैं। शिक्षा यदि देशोन्नति में सहायक नहीं होती तो वह व्यर्थ हैं। इस काव्य में यह भाव व्यक्त हुआ है:

''पढ़ि कमाय कीन्हो कहा, हरे न देश कलेश।
जैसे कन्ता घर रहे, वैसे रहे विदेश॥''[113]

अतीत में विद्या के क्षेत्र में भारत की प्रशस्ति का स्मरण करके वर्तमान की कमी से निकलने के लिए प्रेरित करते हैं:

> ''हाय जौन भारत रह्यो, सब विद्या को गेह।
> दूर देशवासी जहाँ पढ़त रहे करि नेह॥
> हाय तहाँ अब कैसे इस, पढ़ें लिखे किन होय।
> पै बिन इंगलिशपुर गये, श्रम की सिद्धि न होय॥
> ऐसे अनगिनत दुख नित, सहित रहत दिन रात।
> तेहि भारत की दीन गति, कहीं कौन विधि जात॥[114]

हिंदी प्रदेश में अंग्रेजी स्कूलों का प्रारंभ देर से हुआ था, दूसरे,अधिकतर मिशनरियों द्वारा प्रारंभ किये संस्थानों में नई शिक्षा दी जाती थी, जिनके बारे में युक्त प्रांत में यह धारणा प्रचलित थी कि इसके माध्यम से ईसाई बनाया जाता है। हिंदी के अधिकतर साहित्यकारों ने अंग्रेजी शिक्षा नहीं ली थी उन्होंने घर में अपने-अपने ढंग से अध्ययन किया था, इसलिए उनके विचारों में भारतीय संस्कृति और परंपरा के प्रति अधिक आस्था एवं अहोभाव प्रकट होता है।

हिंदी भाषा और नागरी

19 वीं सदी के सातवें दशक में पश्चिमोत्तर प्रांत के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा हिंदी को राष्ट्रीय भावना से जोड़ने के प्रयास तेज हो गए थे, इसमें अग्रणी भूमिका हरिश्चंद्र की थी। सन् 1870 में कविवचन सुधा की संपादकीय टिप्पणी में उनके विचारों की दृढ़ता स्पष्ट प्रकट होती है: ''प्राय: लोग कहते हैं कि हिंदी कोई भाषा ही नहीं है। हमको इस बात को सुनकर बड़ा शोच होता है। यदि कोई अंग्रेज ऐसा कहता तो हम जानते कि वह अज्ञान है, इस देश का समाचार भलीभाँति नहीं जानता। पर अपने स्वदेशियों को हम क्या कहें, हम नहीं जानते कि उनकी ऐसी हत बुद्धि क्यों हो गई है कि वह अपने प्राचीन भाषा का तिरस्कार करते हैं। क्या भरत खंड निवासी विक्रमादित्य और भोज के समय में भी लखनऊ जैसी बोली बोलते थे?''[115] वसुधा डालमिया इस वक्तव्य में हिंदी आंदोलन की सारी विशेषताओं की अभिव्यक्ति मानती हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हिंदी पर प्राच्यवादियों और ईसाई मिशनरियों के विचारों को उद्धृत करते हुए, वे देसी (भारतीय) प्राच्यविद एवं पुरातत्ववेत्ता राजेंद्र लाल मित्र के लेख 'ऑन दि ओरिजिन ऑफ दि हिंदवी लैंग्वेज एंड इट्स रिलेशन टू दि उर्दू डायलेक्ट' के अंश को उद्धृत करती हैं जिसमें

इसकी व्याप्ति का संकेत है: ''बिहार की पूर्वी सीमा से लेकर सोलीमनी पर्वत शृंखला के चरणों तक और विंध्य से लेकर तराई तक यही हिंदू जाति के सबसे सुसंस्कृत तबके की भाषा है। गुरखा इसे कुमाऊं और नेपाल तक लेकर गए हैं और पेशावर के कोहिस्तान से लेकर असम और कश्मीर सेकेप कोमोरिन तक एक संपर्क भाषा के रूप में इसे सब जगह समझा जाता है। इसका इतिहास हजार साल पीछे तक ढूँढ़ा जा सकता है और इसका साहित्यिक खजाना तेलुगु को छोड़कर किसी भी दूसरी आधुनिक बोली के मुकाबले ज्यादा समृद्ध और ज्यादा विस्तृत है। निसंदेह यह हमेशा एक जैसी नहीं रही। लेकिन पृथ्वी-राय-रासो की भाषा, जो सबसे प्राचीन उपलब्ध हिंदी रचना है तथा हमारे जमाने की हिंदवी के बीच पर्याप्त समानताएँ हैं और हिंदवी की कई बोलियों, हिंदुस्तानी, ब्रजभाषा और रंगरी में भी पर्याप्त समानताएँ हैं जिनमें आधुनिक हिंदवी बँटी हुई है। इन समानताओं से यह साबित होता है कि मूल रूप से वे एक ही भाषा हैं-एक ही भाषा की अलग-अलग बोलियाँ-एक ही तने की शाखाएँ हैं; अलग-अलग तनों से निकली शाखाएँ नहीं।''[116] वसुधा जी ने इस संदर्भ में जेम्स टॉड के पृथ्वीराज रासो के महत्व प्रतिपादन की मैक्स मूलर के हिंदवी और उर्दू के एक ही व्याकरण होने की बात और शिव प्रसाद 'सितारेहिंद' द्वारा 1868 में दिए ज्ञापन को उद्धृत किया है: ''निसंदेह हिंदी की सारी बोलियाँ में हर जगह फारसी के शब्द घुस गए थे और वह घर-घर के साथ-साथ जनाना और बाजारों के भी शब्द बन गए थे। भाषा के इस नए मिश्रण को उर्दू नाम दिया गया है। मैं निवेदन करता हूँ कि फारसी अक्षरों को अदालत से बाहर निकाल दिया जाए और उनकी जगह हिंदी को बहाल किया जाए।''[117] भारतेंदु का भी इस परिवर्तित हो रहे माहौल में अदालत की भाषा के बदलाव के लिए दिए अंग्रेजी ज्ञापन में तीखा और व्यंग्यात्मक स्वर है। वसुधा डालमिया ने इसे 'गृहयुद्ध' की संज्ञा देते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र के अंग्रेजी पाठकों को संबोधित संपादकीय के अंश को उद्धृत किया है: ''लोगों का एक और स्वतंत्र वर्ग भी है जो दोनों प्रतिस्पर्धी दलों के दावों को निराधार मानता है। उसका मानना है कि दोनों समूह एक ऐसा भेद पैदा करना चाहते हैं जहाँ वास्तव में कोई भेद नहीं है; हिंदी और उर्दू भाषाएँ वास्तव में एक ही हैं और बड़े-बड़े दुरुह संस्कृत पदों से रहित हिंदी की हालत कमोबेश वही होगी जो कठिन फारसी और अरबी शब्दों से रहित उर्दू की होगी। मैं इस राह से सहमत हूँ। आप चाहे इसे हिंदी कहें या उर्दू, यह पंडिताऊ रहित सरल वर्नाक्यूलर

है जो मृत या विदेशी भाषाओं से निकली है जिसे इन प्रांतों की विशाल आबादी बोलती और समझती है। मुझे हिंदी या उर्दू की और कोई परिभाषा न तो सूझती है और न पसंद आती है। जब उर्दू की भाषा पहली बार बनी तो उसमें कोई फर्क नहीं था। हमारे उद्यम का सिद्धांत यह होना चाहिए कि हमारी वर्नाकुलर, उसे आप जो चाहे नाम दें, सबके लिए उपयोग योग्य और समझ में आने वाली हो। लेकिन विदेशी शब्दों की आमद के खिलाफ पहरेदारी का दिखावा करते हुए भाषा को बेजान संस्कृत शब्दों से मत भर डालिए। यह भी उतनी ही बोझिल है।''[118] स्पष्ट है कि भारतेंदु विदेशी शब्दों के विरोधी नहीं थे लेकिन ऐसी मानक भाषा के आग्रही थे जो सबकी समझ में आने वाली हो। धीरे-धीरे अलगाव बढ़ने लगा और व्यंग्यात्मक रचनाओं के माध्यम से आक्रमण होने लगे। बाबू तोताराम की व्यंग्य रचना 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' जिसे लंबे समय तक भारतेंदु की रचना माना गया, हरिश्चंद्र मैगजीन में 1874 में प्रकाशित हुई। इसमें स्वप्न में पाठशाला खोली जाती है जिसमें पंडित मुग्धमणि शास्त्री, तर्कवाचस्पति, पाखंडप्रिय धर्माधिकारी, प्राणामांतकप्रसाद वैद्यराज, लुप्तलोचन ज्योतिषभरण नियुक्त होते हैं। इसके नियमों से में एक था: ''हिंदी भाषा बोलो तो भीतर घर में बोलो-बाहर किसी के आगे एक शब्द भी निकालोगे तो दक्षिण भेज दिए जाओगे-क्योंकि पायनियर में हमने देखा है कि हिंदी इस देश की भाषा नहीं है-और दूसरे यह सुनते हैं कि जन्म भर के लिए इस देश का ठेका अंग्रेजों ने उर्दू के नाम लिख दिया है-तुम जानते नहीं ठेका तोड़ना एक्ट के अनुसार बड़ा भारी अपराध है।''[119] कुछ महीने बाद हरिश्चंद्र मैगजीन में एक अन्य रचना 'स्वप्न' प्रकाशित होती है,पूर्णिमा की रात में सुंदर बगीचे में सभा बुलाई जाती है लेकिन उसमें अंग्रेज और सरकारी अधिकारियों का झुंड आ जाता है। बड़े साहब भाषण देने उठते हैं और अपने हृदय की कामना व्यक्त करते हैं कि इस देश में अरबी-फारसी फले-फूले और संस्कृत व हिंदी का समूचा नाश हो जाए। उनकी कामना है कि जिनको जरा भी अंग्रेजी नहीं आती, उनको छावनी के इलाके में दाखिल होने से रोक दिया जाए-हालाँकि दुर्भाग्यवश अभी तक उन्हें ऐसा करने का कोई वैधानिक आधार नहीं मिल पाया है-तथा जिनको अरबी नहीं आती वे शहरों में नहीं घुस पाएँ और जिनको फारसी नहीं आती वे कस्बों में दाखिल न होने पावें और जो उर्दू नहीं जानते वे गाँव से बाहर रहें।'[120] इन दो ध्रुवों के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया था, एक दूसरे पर प्रहार होने लगे थे। विभाजक रेखा स्पष्ट थी।

दोनों मोर्चे पर्याप्त रूप से सख्त मुद्रा अख्तियार कर चुके थे। यह व्यंग्य अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजेट एवं बनारस अखबार और इसके संस्थापक शिवप्रसाद के खिलाफ केंद्रित था।[121] श्री वीरभारत तलवार राजा शिवप्रसाद सिंह के गंभीर अध्येता हैं, वे मानते हैं कि भारतेंदु का शिवप्रसाद सिंह से व्यक्तिगत विरोध था जिसको सैद्धांतिक जमा पहनाते हुए राजा शिवप्रसाद सिंह के खिलाफ ऐसा धुआंधार प्रचार चलाया कि उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों पर धूल डाल दी और उन्हें खलनायक के रूप में बदनाम कर दिया गया।[122] 1868 में उन्होंने सरकारी कामकाज और अदालतों की भाषा के लिए प्रचलित उर्दू (फारसी) लिपि को हटाकर उसकी जगह नागरी लिपि की माँग से संबंधित ज्ञापन दिया था जिसे वीरभारत तलवार हिंदी नवजागरण का प्रारंभ मानते हैं।[123] उन्होंने नवजागरण से संबंधित अपने ग्रंथ 'रस्साकशी' में भी भारतेंदु शिवप्रसाद सिंह विवाद पर विस्तृत विश्लेषण करके अपना मत प्रकट किया है। इस ग्रंथ के केंद्र में भारतेंदु कूटनीतिज्ञ के रूप में चित्रित हैं। इसके सभी मुद्दों की चर्चा करना यहाँ अवांतर होगा लेकिन प्रसंगोचित चर्चा अनुचित नहीं होगी। ब्रिटिश सरकार से शिकायत करने से हरिश्चंद्र की पत्रिकाओं को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बंद होने से दोनों के बीच दूरियाँ बढ़ गई थीं और भारतेंदु खुलकर विरोध करने लगे। राजा शिवप्रसाद वायसराय लॉर्ड मेयो की लेजिसलेटिव काउंसिल के मनोनीत सदस्य थे, इसलिए इल्बर्ट बिल के खिलाफ उन्होंने खुलकर भाषण दिया और हिंदुस्तानियों को अंग्रेजों के साथ समानता को अयोग्य ठहराया।[124] 19 वीं सदी के आठवें दशक में हिंदू-मुस्लिम भद्र वर्ग में, अहं के कारण एवं सरकार की नीतियों के कारण आई दूरियों का वस्तुपरक रूप से देखा जाए तो भारतेंदु और अन्य साहित्यकारों द्वारा हिंदी के हित को केंद्र में रखकर लिखे गए संपादकीय, लेख तत्कालीन विकट हिंदी विरोधी परिवेश की प्रतिक्रिया थे।

हंटर आयोग को संयुक्त प्रांत से हिंदी के पक्ष में 118 मेमोरियल भेजे गए। बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी एवं कई आर्य समाज की संस्थाएँ मेमोरियल को भिजवाने में सक्रिय थीं लेकिन इतने मेमोरियल भेजने पर भी हिंदुओं की इच्छा और हिंदी भाषा की उपेक्षा करके उर्दू को प्रतिष्ठित किया गया। इस रिपोर्ट ने हिंदी-उर्दू विवाद और जातियों के अलगाव को और बढ़ावा दिया। 1883 में सरकारी बजट में उर्दू और फारसी के ज्ञान को सरकारी नौकरी में प्राथमिकता दी गई। 10 रुपये या इससे ऊपर की नौकरी के लिए मिडिल क्लास की परीक्षा

उर्दू या फारसी में पास करना निश्चित कर दिया गया जबकि हिंदी की परीक्षा पास करने वालों को उसी कार्यालय में नियुक्त करने का आदेश हुआ, जहाँ हिंदी की आवश्यकता हो। सरकारी नौकरी की संभावनाएँ सीमित हो जाने के कारण यह वैर भाव अधिक बड़ा। हिंदी–उर्दूविवाद की उग्रता का एक कारण सैयद अहमद खाँ का उत्तरोत्तर मुस्लिमों का पक्षघर बनना था। एक समय हिंदू और मुस्लिम को दो आँख कहने वाले सैयद अहमद हिंदी को गंवार लोगों की भाषा कहते हैं। वे मुस्लिम युवकों के लिए लघुमति के आधार पर स्कॉलरशिप की माँग करते हैं, दूसरी ओर हिंदी के पक्ष में इलाहाबाद और अन्य जगहों से दिए गए सैकड़ों ज्ञापनों को निरस्त करते हुए सरकार उर्दू को ही महत्व देती है; परिवेश को विषाक्त करने का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इन परिस्थितियों में, एक सजग लेखक के रूप में भारतेंदु का हिंदी की पक्षधरता करना युक्त संगत है, जिसे उनके समकालीन लेखकों और पत्रिकाओं के संपादकों का समर्थन मिला। भारतेंदु ने 1877 में हिंदी वर्धनी सभा की स्थापना के समय जो काव्य भाषण दिया था, उसमें हिंदी की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संभावनाओं पर विस्तृत टिप्पणी है। प्रारंभ में भी निज भाषा हिंदी को संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी से अलग करते हुए हिंदी के महत्व का संकेत देते हैं:

''निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न जिय को सूल॥
पढ़ै संस्कृत जतन करि पंडित भे बिख्यात।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात॥
पढ़े फारसी बहुत विध तौहू भयै खराब।
पानी खटिया तर रहो पूत मरे बकि आब॥
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहित हीन के हीन॥''[125]

ये पंक्तियाँ और काव्य वक्तव्य तत्कालीन हिंदी विरोध का उत्तर और हिंदी के महत्व का घोषणा पत्र है, जो निज भाषा के लिए सूक्ति बन गई है।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट ने अपने आर्थिक अभावों के बावजूद हिंदी प्रदीप का लंबे समय तक प्रकाशन एवं संपादन किया। हिंदी भाषी प्रजा की स्थिति, सरकारी

अम्लों में उर्दूपरस्तों की बहुतायत और सरकार का भी उस ओर झुकाव के चलते लिए गए निर्णयों से भट्ट जी की लेखनी से सात्विक क्रोध की चिनगारियाँ निकलती रहीं। हिंदी प्रदीप को 33 साल तक निर्भीकता से निकालना उनके हिंदी प्रेम का ही नहीं, देशप्रेम का भी उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रथम वर्ष से लेकर अंतिम वर्ष तक की यात्रा पर उनकी टिप्पणियों को देखकर इस दुर्गम पथ के संकेत मिलते हैं। बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु जी की प्रेरणा से हिंदी यज्ञ में दत्तचित्त होकर शामिल हुए, उनकी टिप्पणियाँ उग्र होती थीं। हिंदी भाषी धनिक वर्गका प्रमाद, संस्कृत के पंडितों की आत्ममुग्धता, मुस्लिम समाज का सरकारी अमलदारों के साथ सामीप्य और हिंदी की उपेक्षा पर वे हिंदी प्रदीप में निरंतर लिखते रहे। उनके सुचिंतित तथ्य और तर्कपूर्ण शैली ने हिंदी को गरिमा प्रदान की। जुलाई 1878 के 'हिन्दी प्रदीप' में हिंदी की स्थिति पर दुख व्यक्त करते हुए भी उसके भविष्य के प्रति आशा प्रकट करते हैं: ''जिस हिंदी का देश में प्रमोद-निद्रा-मग्न धनिकों के यहाँ कुछ भी आदर नहीं है, दाहिने-बाएं खड़े होने का स्थान जिसे नहीं है, सामने स-पत्नी समान एक कुल्टा यवनी गाज रही है। जहाँ काँच और कांचन दोनों एक-से हैं। भ्रमर-गुंजन और मेंढक की टर्र-टर्र एक समान है। जहाँ एक श्रेणी के लोग धन के उन्माद से अंधे हो कार्य-अकार्य विवेक शून्य हो रहे हैं। दूसरी श्रेणी के लोग हाँ अन्न, हाँ अन्न चिल्लाते व्याकुल हैं। जहाँ मूर्ख मंडली रसिक समाज में गिनी जाती है और अज्ञों का नाम सर्वत्र महाआचार्य, महोपाध्याय हैं। मातृभाषा न जानना ही पांडित्य है। हाँ जी, में हाँ जी मिलाना ही जहाँ पुरुषार्थ और चोखी बात समझी जाती है। वहाँ सब भाँति निराश्रयी हिंदी भाषा का उतना भी अवलंब होने से निश्चय होता है कि इसका भविष्य काल सर्वथा अंधकार पूर्ण नहीं है।''[126] उन्होंने तर्क देते हुए बार-बार कहा कि 'देहात के बहुत से मुसलमान उर्दू-फारसी एक अक्षर नहीं जानते।' फिर भी अदालत में उर्दू-फारसी के अक्षरों को जारी कर रखा है।[127]

सन् 1888 में उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट के रघू घतिक के मुकदमे का ब्योरा प्रकाशित किया, जिसमें गवाह चौकीदार से दुभाषिया पूछता है कि तुमने उसके बदन को देखा, वह नहीं समझ पाया फिर दुभाषिए ने जिस्म शब्द का प्रयोग किया। उसके न समझने पर अपने शरीर पर हाथ फेर कर इशारा करके पूछा, वह तब समझा और उसने मना किया। भट्ट जी के उद्‌गार हैं: ''पर अफसोस के शरीर और देह का शब्द मुखारविंद से न निकला कि वह सहज में समझ

सकता। अंत को उसके मुख से नाहीं का शब्द निकला। बस इस दृष्टांत से हमारा अभीष्ट यह है कि अमलों की उर्दू भाषा अदालती कागजों के लिखने पढ़ने में चाहे चौकस हो पर देहाती गवारों से प्रश्न करने और उन्हें समझा कर उनसे साक्षी लेने में बड़ी हानिकारक है।''[128] वे इसी लेख में सरकार से हिंदी की परीक्षा अदालतों के वकीलों के लिए करने का सुझाव देते हैं, ''मैं गवर्नमेंट से और हाईकोर्ट के न्यायाशील हाकिमों से निवेदन करता हूँ कि ठेठ हिंदी भाषा की परीक्षा अदालत के कर्मचारी और वकीलों से संबंधित की जाए, क्योंकि प्रत्येक देहाती को फारसी–अरबी शब्दों में निपुण होने का उद्योग इस प्रबंध से बहुत कष्टसाध्य है जो अदालत के कर्मचारियों और वकीलों के परीक्षण अंतर्गत होते दुख के द्वारा सहज में हो सकता है।''[129] भारतेंदु के समय से प्रारंभ हुई इस स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। हिंदी को प्रतिष्ठित करने का यह संघर्ष 19 वीं सदी के अंत और उसके बाद भी चल रहा है। सर ऑकलैंड काल्विन ने सालाना रिपोर्ट में हिंदी समाचार पत्रों को लालची और दरिद्र (Greedy-Needy) कहा, इस पर बालकृष्ण भट्टने आक्रोश की भाषा में लिखा कि सरकार मानती है कि हिंदी पत्र पेट पालने के माध्यम हैं, कुछ भाटों की तरह झूठी तारीफ करते हैं। सरकार मुश्किल से एक–दो पत्रों को सहायता देती है। वे व्यंग्य करते हैं: ''इन दिनों के लौह शासन के समय लाट साहब का यह कहना मानो घाव पर नोन का छिड़कना, जले को और जलाना हुआ है। धन्य है, आपका प्रजा वात्सल्य। एक ही मुँह और एक ही जीभ ठहरी कहाँ तक तारीफ गावें। देसी पत्रों के संपादक गवर्नमेंट के प्रभाव से किंचित प्रभावित न होकर सर्वथा निरावलंब अपनी टूटी–फूटी दशा को झेलते और सुधार करते प्राणपण की बाजी लगाए हुए जो राजा–प्रजा दोनों का सच्चा हित कर रहे हैं, उसी की यह दक्षिणा जब–तब हमें मिलती रहती है।''[130] संयुक्त प्रांत में देर से बनी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में इंट्रेंस क्लास से हिंदी को निकाल दिया गया। परीक्षा में अंग्रेजी के साथ अरबी–फारसी और संस्कृत को रखा गया। वे सरकार के छद्म को उघाड़ते हैं और इसे 17–18 करोड़ हिन्दू जनता के प्रति अन्याय कहते हैं। उनकी व्यंग्य शक्ति का उत्तम रूप यहाँ दिखाई देता है: ''यह निर्लज अभागिनी सैकड़ों मानापमान सह हजारों विघ्न झेलकर दिन दूना रात चौगुनी बढ़ती जाती है। न जाने इसे कौन सी सिद्ध बूटी या रसायन हाथ लग गई है कि बड़े–बड़े विघ्नकारियों का असह्य आघात और ताड़ना सहकर प्रफुल्लित होती जाती है यह दैवी गति कुछ समझ में नहीं आती।

हमारे इस दुर्दशा दलित देश में इस समय जितनी बड़ी–चढ़ी ठाठ–बाट की अभिमानिनी भाषा यह हैं, सब की सब एक–एक किसम की सवारी पर चढ़ी, आगे ही को बड़ा चाहती है। जैसे संस्कृत का बूढ़ा हंस, अंग्रेजी का चमचमाता फिटन, फारसी की पर्देदार डोली अरबी का भलभलाता ऊँट और बीवी उर्दू का चीत्कार करता गधा जो यही चाहती है कि इस हिंदी भाषा को सबसे पीछे कर दें पर यह बिना सवारी–सिकारी धीरज का ढाल और क्षमा का खंग लिए भद्रकाली के समान अपने लक्ष्य और केंद्र स्थान की ओर चली जाती है।''[131] यह लेखक की सजगता, वस्तुस्थिति की सही पहचान, राजनीति से मोहभंग और हिंदी प्रेम के माध्यम से स्वत्व की पहचान का उत्तम उदाहरण है। अंग्रेजों की नीति का विरोध स्वत्व की रक्षा का ऐतिहासिक कदम था जिसकी लड़ाई हिंदी के साहित्यकारों के द्वारा अपने दम पर लड़ी गई। यहाँ उर्दू के बारे में कटुता है पर व्यंग्य की मार सरकार की नीति पर है जिसमें संस्कृत के प्रति प्रेम जतलाकर हिंदी के बहिष्कार की दुरभि संधि की गई।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र सरकार द्वारा हिंदी की उपेक्षा से निराश नहीं हुए, अपनी पीड़ा को दबाकर उन्होंने अपनी पक्षधरता प्रकट की। हिंदी की उन्नति और प्रचार के लिए 'रसिक समाज' की स्थापना की 'ब्राह्मण' में लिखा: ''शिक्षा कमीशन ने नागरी का अपमान कर दिया। कुछ परवाह नहीं,उसके सच्चे सेवकों का ठेंग निराय कौन नहीं जानता।'श्रेयांसिबहुविघ्नानि' फिर सही, दे मेमोरियल पर मेमोरियल, दे लेख पर लेख, दे चंदा पर चंदा, देखें सरकार कहाँ तक न सुनेगी ? और सरकार भी सुने जब देश हितेषी महाशय सेतुआ बांधकर पीछे पड़ जाएँगे। नगर–नगर, ग्राम–ग्राम, जन–जन में नागरी देवी का जस फैला देंगे। आप ही स्वभाषा की उन्नत हो रहेगी। कहीं उद्योग भी निष्फल हुआ है ?''[132] स्पष्ट है कि हिंदी आंदोलन के योद्धा अपनी पराजय से चुप नहीं बैठे। उनके आश्वासनपरक वचनों में विश्वास है कि यह कार्य देश और हिंदी भाषी समाज के लिए आवश्यक है:लोग कहते हैं कि सरकार नहीं सुनती, हमारी समझ में सरकार तो सुनेगी और चार धन नाचेगी कोई कट्टर सुनाने वाला तो हो यदि मनसा, वाचा, कर्मणा सौ–दो सौ मनुष्य भी यह संकल्प कर लें तो देवनागरी वा प्रचार से सर्वश्रेष्ठ वा स्वाहा करिए तो देखें सरकार कैसे नहीं सुनती। और सरकार ना सुने तो कोई तो सुनेगा। कोई ना सुने

तोपरमेश्वर तो अवश्य में सुनेगा, कमर बांध कर प्रयाग हिंदू समाज के सहायक बनें उसके सदुष्ठान में शीघ्रता करें।[133] 'भारत विलाप' लंबी कविता में रोष, दुख सरकार के प्रति निराशा, संपन्न वर्ग की निरक्षरता, उर्दू पर कोप और भविष्य में सफल होने का विश्वास प्रकट हुआ है:

''बहु तक हिंदू ही परे, ऐसे देश कलंक।
निज भाषा को जे नहीं, जानहिंएकहू अंक॥
दुष्टे उर्दू पापिनी करु स्वच्छंद विहार।
सब विधि सुविधा आज तोहि, कोउ न टोकनहार॥[134]

'ब्राह्मण का अंतिम उपदेश' कविता की सूक्ति 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' उस समय सर्वाधिक लोकप्रिय हो गई थी। यह बहुआयामी कविता तत्कालीन परिवेश को तो प्रकट करती ही है, देश भक्तों को भी प्रेरित करती है:

''जिन्हें नहीं निजता कौ ज्ञान, वे जन जीवित मृतक समान।
याते गहु यह मंत्र महान, हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥
भाषा भोजन भेष महान, तजै न अपनो सोइ मतिवान।
बरि समझौ सोभाग्य समान,हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥
सरबहु जान दिजिए जान, सब कछु सहिए बनि पाषान
पै गहि रहिये प्रेम पन ठान, हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥[135]

चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन के 'हिंद हिंदू और हिंदी' हमारी प्यारी हिंदी हमारे देश की भाषा और अक्षर लेख हिंदी और नागरी आंदोलन के संदर्भ को स्पष्ट करते हैं। वे हिंदी के लिए 'भारतीय भाषा' शब्द का प्रयोग करने का सुझाव रखते हैं। यह जानते हुए कि कुछ लोगों को यह खटकेगा परंतु हिंदी की व्याप्ति और भारत में सर्व सुलभता और उसे समझने के गुण का संकेत करते हैं। हिंदी किसी भाषा का बोधक भी पूर्ण रूप से नहीं हो सकता क्योंकि अनेक भाषाओं पर उसका समान अधिकार है जैसा कि बिहार हिंदी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, कन्नौजी सूर्यागिरी और भोजपुरी भाषा भी हिंदी के अभ्यांतरित मुख्य भेद व शाखा ही हैं।[136] वे मध्य देश में बोली जाने वाली बोलियाँ के युग्म को हिंदी मानते हैं। वृक्ष और उसकी शाखाओं एवं माता और उसकी अनेक पुत्रियों का रूपक देकर इसे प्रस्तापित करते हैं।[137] हिंदी उर्दू विवाद के बारे में भी अन्य साहित्यकारों की तरह वे भी सरकारी पक्षपात एवं प्रबुद्ध वर्ग की सत्ता प्रियता को कारण मानते हैं। इसीलिए उर्दू के प्रति कटु प्रतीत होते हैं। बंगवासियों की दुहरी नीति की

आलोचना करते हैं। जिस प्रकार बांग्ला भाषा से ''असंख्य उर्दू शब्द निकाल दिए संस्कृत के सुकोमल संस्कृत शब्दों को सन्निवेशित करके निज भाषा का सौंदर्य बढ़ाया, जिस उर्दू भाषा अर्थात अधिकता से अरबी फारसी शब्दों से भरी भाषा को समस्त देश एक प्रकार की विदेशी भाषा मानता है और कहता है कि इससे यहाँ के सर्व सामान्य जन नहीं समझ सकते,बंगवासी साहब उसे देश भाषा प्रमाणित किया चाहते हैं। फिर कहिए इन्हें हिन्दी का सहायक कहैं कि शत्रु ?''[138]

'नागरी भाषा' लेख में भाषा की समस्या पर विचार करते हुए हिंदी के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करते हैं। 'जो भाषा जहाँ की है वहीं बोली और बरती जाती है, समाचार पत्र और किताबों में लिखी जाती हैं।' फिर क्या कारण है कि हमारी भाषा जिसका अर्थ ही बोली है हमारी भाषा न समझी जाए और आर्य भाषा की वा हिंदी हिंदुओं की छोड़ मुसलमान की भाषा ठहराई जाय। उत्तर में हमें इतना ही कर देना काफी होगा कि भाषा तो बनाई नहीं जा सकती किंतु स्वयं बन जाती है। और यदि यह भाषा नवीन है तो क्या आगे के लोगों की बोली फारसी थी या अरबी। या अगले मनुष्य गूंगे थे या बोलने की आवश्यकता ही न थी ?''[139]

हिंदी भाषा और नागरी लिपि के लिए किए गए इस यज्ञ की चिंगारी मुस्लिम समाज के प्रमुख वर्ग पर भी पड़ी। यदि ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाए तो हिंदी के साहित्यकार अपनी पराधीन और असमर्थ स्थिति के बावजूद जिस तरह अपने शौर्य, साहस और निडरता का परिचय देते हैं वह अपने में विशिष्ट है। निज भाषा और निज देश के प्रति अपने लगाव में भी वे अपने स्वत्व कीपहचान को तलाश रहे थे।

संदर्भ

1. 1857 का महासंग्राम: वैकल्पिक इतिहास की ओर, संपादन: बद्री नारायण एवं अन्य, पृष्ठ 59
2. वही, पृष्ठ 61
3. वही, पृष्ठ 107–108
4. नामवर सिंह: संकलित निबंध, पृष्ठ 152
5. वही, पृष्ठ 152
6. वही, पृष्ठ 153
7. इतिहास पुरुषनुं इतिहास दर्शन (संपादकीय), राज्यरंग, पृष्ठ 7
8. नवजागरणकालीन गुजराती साहित्य, (संपादन) महावीरसिंह चौहान, पृष्ठ 161
9. वही, पृष्ठ 162
10. वही पृष्ठ 174
11. वही, पृष्ठ 175
12. वही, पृष्ठ 175
13. वही, पृष्ठ 177
14. वही, पृष्ठ 177–178
15. वही, पृष्ठ 178
16. वही, पृष्ठ 179
17. वही, पृष्ठ 183
18. डांडियो अंक 10,अगस्त 1866 पृष्ठ 76
19. नर्मद: अर्वाचीन गद्य पद्यनो आद्यप्रणेता से उद्धृत, पृष्ठ 111
20. वही, पृष्ठ 112
21. वही, पृष्ठ 180
22. झट उठो उठो. नर्म कविता खंड 1,पृष्ठ 39
23. वही, पृष्ठ 34
24. वही, पृष्ठ 354
25. वही, पृष्ठ 354
26. वही, पृष्ठ 356
27. वहीं, पृष्ठ 357
28. वहीं, पृष्ठ 358
29. वही, पृष्ठ 358
30. वही, पृष्ठ 359–360
31. वही, पृष्ठ 379
32. वही, पृष्ठ 384
33. वही, पृष्ठ 387–388

34. वही, पृष्ठ 389
35. वही पृष्ठ 410
36. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा से उद्धृत, पृष्ठ 332-333
37. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली- 6,पृष्ठ 75-76
38. वही, पृष्ठ 77
39. वही, पृष्ठ 73
40. वही, पृष्ठ 138
41. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा से उद्धृत, पृष्ठ 336-337
42. वही, पृष्ठ 337
43. भारतेंदु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-5,पृष्ठ 542
44. भारतेंदु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-1,पृष्ठ 131
45. ग्रंथावली-6,पृष्ठ 276
46. भारतेंदु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-3, पृष्ठ 381-382
47. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा से उद्धृत, पृष्ठ 345
48. सत्यप्रकाश मिश्र, भूमिका, बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, पृष्ठ 10
49. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 305
50. बालकृष्ण भट्ट रचनावली- दो, पृष्ठ 189
51. बालकृष्ण भट्ट रचनावली- 1,पृष्ठ 59
52. वही, पृष्ठ 65
53. बालकृष्ण भट्ट रचनावली-दो, पृष्ठ 139
54. बालकृष्ण भट्ट रचनावली- 1,पृष्ठ 118
55. बालकृष्ण भट्ट रचनावली- 1,पृष्ठ 406
56. वही, पृष्ठ 79
57. वही, पृष्ठ 86
58. वही, पृष्ठ 92-93
59. वही. पृष्ठ 87
60. वही पृष्ठ 209
61. वही, पृष्ठ 495
62. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, पृष्ठ 88
63. बालकृष्ण भट्ट रचनावली-1,पृष्ठ 48
64. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा पृष्ठ 83
65. प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली, पृष्ठ 88
66. वही, पृष्ठ 99
67. वही, पृष्ठ 84-85
68. वही, पृष्ठ 201

69. हिंदी नवजागरण: राधाचरण गोस्वामी, पृष्ठ 74
70. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा पृष्ठ 75
71. वही, पृष्ठ 305-306
72. वही, पृष्ठ 305
73. वही, पृष्ठ 194
74. वही, पृष्ठ 186
75. नवजागरण कालीन गुजराती साहित्य, पृष्ठ 166
76. वही, पृष्ठ 161
77. वही, पृष्ठ 169-170
78. वही, पृष्ठ 170
79. वही, पृष्ठ 272
80. वही, पृष्ठ 153-154
81. वही,पृष्ठ 153
82. वही, पृष्ठ 156-157
83. वही, पृष्ठ 158
84. निबन्धमाला, पृष्ठ 17-18
85. वही, पृष्ठ 112-113
86. रमेश र. शुक्ल, नवलराम, पृष्ठ 53
87. नवल ग्रंथावली-2,पृष्ठ 380
88. गुजराती साहित्यनो इतिहास, पृष्ठ 114
89. वही, पृष्ठ 370
90. वही, पृष्ठ 376
91. वही, पृष्ठ 377
92. वही पृष्ठ 410
93. धीरूभाई ठाकर, मणिलाल द्विवेदी, पृष्ठ 5
94. म.न. द्विवेदी साहित्य श्रेणी 6,पृष्ठ 23
95. वही, पृष्ठ 232
96. वही, पृष्ठ 250
97. धीरूभाई ठाकर, मणिलाल द्विवेदी, पृष्ठ 51
98. म.न. द्विवेदी श्रेणी 6, पृष्ठ 243-244
99. रस्साकशी, पृष्ठ 20
100. वही, पृष्ठ 30
101. वही, पृष्ठ 37
102. वही, पृष्ठ 37
103. उद्धृत वही, पृष्ठ 47

104. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–1, पृष्ठ 123
105. वही, पृष्ठ 222
106. वही, पृष्ठ 223–224
107. वही, पृष्ठ 225
108. वही, पृष्ठ 489–490
109. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–2,पृष्ठ 198–199
110. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–2 पृष्ठ 212
111. वही, पृष्ठ 208
112. प्रतापलारायण– ग्रंथावली, पृष्ठ 461
113. नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, से उद्धृत पृष्ठ 290
114. उद्धृत वही, पृष्ठ 293–294
115. भारतेन्दु रचनावली–6,पृष्ठ 257
116. हिंदू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण से उद्धृत, पृष्ठ 180
117. उद्धृत वही, पृष्ठ 181
118. उद्धृत, वही, पृष्ठ 181–182
119. उद्धृत, वही, पृष्ठ 184
120. उद्धृत, वही, पृष्ठ 184–185
121. वही, पृष्ठ 186
122. तलवार, बगावत और वफादारी, पृष्ठ 41
123. वही, पृष्ठ 41
124. भूमिका, राजा शिवप्रसाद सिंह 'सितारेहिंद': प्रतिनिधि संकलन, पृष्ठ 13
125. भारतेन्दु हरिश्जन्द्र ग्रंथावली–4, पृष्ठ 377
126. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–3, पृष्ठ 325
127. वही, पृष्ठ 332
128. वही, पृष्ठ 363
129. वही, पृष्ठ 363
130. वही, पृष्ठ 367
131. वही, पृष्ठ 215
132. नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र से उद्धृत, पृष्ठ 288–289
133. प्रतापनारायण मिश्र रचनावली–2 पृष्ठ 26
134. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली–1,पृष्ठ 84
135. प्रतापनारायण मिश्र रचनावली–1 पृष्ठ 100–101
136. प्रेमघन सर्वस्व द्वितीय भाग, संपादक श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय पृष्ठ 64
137. वही, पृष्ठ 65
138. वही, पृष्ठ 70
139. वही, पृष्ठ 29

अध्याय-पाँच

देश की भावना

राष्ट्रवादी चेतना के विकास में 1857 के महासंग्राम का विशेष योगदान रहा। संबंधित तथ्यों और दस्तावेजों के प्रकाश में आने से यह भी स्पष्ट हो गया है कि इसका मुख्य केंद्र उत्तर भारत था। डॉ. रामविलास शर्मा इसे जातीय संग्राम कहते हैं। 'यद्यपि इसका प्रभाव अखिल भारतीय था परंतु हिंदी भाषी प्रदेश पर सबसे अधिक था।'[1] 1857 के पहले अंग्रेजी शासकों के प्रति असंतोष और संघर्ष की घटनाएँ देश के विभिन्न प्रदेशों में हुई थी। रानी के गेनम्मा के नेतृत्व में कित्तूर (मैसूर) विद्रोह (1824), असम में गदाधर सिंह और कुमार रूपचंद के नेतृत्व में विद्रोह 1828–1830 आंध्र में नरसिंह रेड्डी का विद्रोह (1846–1847) ; किसान आंदोलनों में गोरखपुर का विद्रोह (1778–81) मैसूर की रैयत का विद्रोह (1830–31) आदिवासियों के विद्रोह में भील विद्रोह (1818–1831), गारो विद्रोह (1825–1833), खसिया विद्रोह (1829–1833), छोटा नागपुर विद्रोह (1831–1833) और संथाल विद्रोह (1855–1856)। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों का विरोध सभी भागों में हो रहा था। गुजरात के सूरत में 1844 में नमक पर कर बढ़ाने पर पहले इसका शांतिपूर्वक विरोध हुआ। तीन दिन तक हड़ताल हुई, इसमें 30000 लोगों ने भाग लिया। हड़ताल में पुलिस के दमन से प्रजा भड़क गई और किले को घेर लिया। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों साथ थे। कंपनी सरकार को सेना और तोपखाना भेजना पड़ा। अंतत: मुंबई के गवर्नर के हस्तक्षेप से बढ़ाया नमक कर वापस लिया गया। दूसरी घटना भी सूरत की है। बंगाली नापतोल को सरकार के द्वारा लागू करने पर 1848 में सभा, मोर्चा और हड़ताल इन तीनों का ऐलान किया गया। इसमें शामिल न होने वाले को जाति से बहिष्कार करने की धमकी भी दी गई थी। इंग्लैंड तक लड़ने के लिए 50000 रूपये की

राशि एकत्र कर ली गई। इसमें भी प्रजा की विजय हुई। ये घटनाएँ भविष्य के विद्रोह का संकेत थीं। [2]

इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद की चेतना के विकास में इन विद्रोहों, विरोधों और संघर्षों की भूमिका है। एक मत राष्ट्रवाद को, आधुनिक शिक्षा से जोड़कर उसे ही इसका कारण मानता है। समाजशास्त्री डॉ. ए.आर. देसाई इससे सहमत नहीं होते। वे नई सामाजिक शक्तियों को इसके जन्म का कारण मानते हैं: ''अगर भारतीय बुर्जुआजी को संस्कृत में लिखे गए वेदों की ही शिक्षा मिली रहती, दूसरी सारी विचारधाराओं से अलग, तो उन्हें वहीं अपने संघर्ष से सिद्धांत और नारे मिल जाते।''[3]

19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देशी भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेज सरकार की नीतियों, कानून, टैक्स बढ़ोतरी आदि के विरोध में कड़े शब्दों में लिखा जाने लगा था। परिणामस्वरुप लॉर्ड लिटन के प्रयत्नों से 1878 में 'वर्नाकुलर प्रेस एक्ट' पास हो गया, इसने असंतोष को और भड़का दिया। इस का तीव्र विरोध होने पर अंततः लॉर्ड रिपन ने 1882 में एक्ट रद्द कर दिया। 'इस बीच जातीय घृणा के भाव ने बहुत जोर पकड़ लिया। ब्रिटिश पदाधिकारी के कठोर व्यवहार, राजनीतिक चेतना के विकास, प्रेस कानून के संबंध में लॉर्ड लिटन द्वारा प्रदर्शित भेदभाव की भावना भारतीयों को आई.सी.एस. में भाग लेने में असमर्थ बनाने के लिए अधिकतम आयु को निरंतर कम करते जाना, लंदन के साथ-साथ भारत में भी आई.सी.एस. के परीक्षा का केंद्र बनाने की अस्वीकृति, इन सब बातों से जातीय् घृणा का भाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था।'[4] प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए अधिकतम आयु 19 कर दिए जाने के विरुद्ध जनमत बनने लगा था। श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने देश का दौरा करते हुए भारत में भी प्रतियोगी परीक्षा के केंद्र खोले जाने की माँग की। लॉर्ड डफरिन ने संकट को भाँप लिया और सर चार्ल्स एचिन्सन की अध्यक्षता में एक जाँच समिति गठन करके तनाव को कम करने का प्रयास किया। यूरोपियनों को यह विशेषाधिकार था कि उनके मुकदमे की सुनवाई कोई यूरोपियन सेशन या न्यायाधीश ही कर सकता था। इस भेदभावपूर्ण विशेषाधिकार से न्याय कार्य में बाधा आती थी। लॉर्ड रिपन के कानूनी सदस्य कोर्टनी इल्बर्ट ने इस विशेषाधिकार को समाप्त करने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसके विरुद्ध नील तथा चाय के व्यवसायी अंग्रेजों एवं अन्यों ने उग्र आंदोलन चलाया, इससे भारतीयों में उनके प्रति घृणा और भी प्रबल हो उठी।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक ओर दमन तो दूसरी ओर, प्रबुद्ध वर्ग और सामान्य जनों में बढ़ते असंतोष ने, पराधीनता के भाव को गहरा कर दिया था। परंतु 1857 की तरह अंग्रेजी हुकूमत का तख्ता पलटने जैसी सामूहिक प्रवृत्तिनहीं मिलती। अंग्रेज प्रशासन की सजगता, फूट की राजनीति के साथ कहीं-न-कहीं राज सत्ता का डर और आतंक भी कारणभूत था। दूसरी और पराधीनता का बोध और तीव्र असंतोष के बावजूद अंग्रेजी प्रशासन में रहने की परोक्ष भावना भी मौजूद थी। इन प्रतिक्रियाओं में भारतीय राष्ट्रवाद की चेतना दिखाई देती है। राजनैतिक स्वाधीनता की भावना और आकांक्षा भी बलवती होती जा रही थी। साहित्य एवं पत्रकारिता में इनकी मुखर अभिव्यक्ति हो रही थी। आर्थिक शोषण के खिलाफ लिखा जा रहा था, पुलिस तथा अफसरों के अत्याचार और अन्याय की भी शिकायत की गई पर राजसत्ता पलटने के विचार को जैसे अंतर्गुहावास दे दिया गया। निश्चय इसका एक कारण और बहुत बड़ा कारण था-राज का दमन और दमन से पैदा होने वाला आतंक।[5] साहित्य में राजभक्ति की अभिव्यक्ति भी हुई। उसके कारणों पर भी विचार विमर्श हुआ है। सभी भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य में अंग्रेजों के प्रति अपनी निष्ठा को प्रकट करने के स्पष्ट स्वर हैं, तो साथ में और उसकी आड़ में देशभक्ति को प्रकट करने की रणनीति भी अपनाई गई। इसे रचनाकार का अंतर्विरोध मानकर उसे कठघरे में खड़ा करना उचित नहीं। इसके लिए किसी प्रकार की क्षमा याचना आज आवश्यक नहीं और ना ही कोई सफाई ही जरूरी है।[6] राजभक्ति और देशभक्ति का प्रश्न इतना सरल भी नहीं था। एक ओर समर्थ सर्वशक्तिमान सत्ता और दूसरी ओर परतंत्र देश का रचनाकार, जिसके पक्ष में न प्रबुद्ध वर्ग का कोई संगठन था, न व्यापारी वर्ग और न राजे-महाराजे। ऐसे परिवेश में वह अपने देश और समाज के प्रति दायित्व निर्वहन कर रहा था। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थिति-परिस्थितियों को देखकर विकसित हो रहा था। यह तथ्य गुजराती और हिंदी साहित्यकारों की रचनाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है।

गुजराती

नर्मदाशंकर

नर्मद, सरकार की आलोचना करने वाले गुजराती के पहले कवि हैं। उन्हें सरकार के विरुद्ध लिखने और बोलने में भय का भाव नहीं था। उन्होंने 1857

के वीर सेनानी तात्यांटोपे, रानी लक्ष्मीबाई के शौर्य की कीर्ति गाई जिसमें राजद्रोह के आरोप की पूरी संभावना थी।[7] अंग्रेज राज की संकुचितता और व्यापार नीति से दुखी होकर वीरसिंह नामक आख्यानपरक काव्य में अंग्रेजों को व्यापारी वकाल (Notion of Shopkeeper) कहा। इन शासकों ने दगा ही किया है, वास्तविक युद्ध तो किया ही नहीं:तुमने रण में तो कभी युद्ध नहीं किया, दगाबाजी की है। इसे तेरी जीत कैसे कहें। हे चपल व्यापारी ! लाज शर्म छोड़कर हम पर राज कर रहा है:

''रण जुद्ध कर्युं नहीं लेश हाय तुज वेश।
दगादि लीध। जीत शी तारी।
रे वेपारी वकाल। मुकी कुल लाज।
करे मुज राज। एक चकवे शूं।''[8]

'देशाभिमान' लेख में भारत की तत्कालीन स्थिति पर विचार व्यक्त हुए हैं। परदेसी सत्ता को उखाड़ फेंकने की अभी हमारी क्षमता नहीं है। विदेशी सत्ता के अंकुश में रहकर विकास का ही विकल्प है। इसके लिए एक दूसरे से द्वेष न रख अपने धर्म में सुधार करते हुए, देश की समृद्धि के लिए कार्य करना अभीष्ट माना: ''इन चौबीस सालों में किसी भी राजपरिवार या प्रजा परिवार ने अपनी बुद्धि का प्रयोग ब्रिटिश राज का सामना करने के लिए नहीं किया है। सभी अपनी स्थिति में इस प्रकार उलझे हुए हैं कि सभी को अपने आसपास और हाल की अड़चनों को मिटाने के अलावा क्या इच्छा हो सकती है? कोई साहसी पुरुष कभी राज्य के सामने हथियार उठाए पर उसे सहारा देने की कोई राजपरिवार या प्रजापरिवार हिम्मत करे ऐसा अभी तो संभव नहीं ही है, अभी तो ब्रिटिशों का डंका बजता है।''[9] नर्मद देश की अधोगति का मूल कारण वैमनस्य को मानते हैं। उनके साहित्य में इसका बार-बार उल्लेख आता है: ''विचार करो कि हमारा पतन क्यों हुआ, अन्य कारण ढूँढ़ना यानी बेकार हाथ पैर मारना है। वैमनस्य ही सही कारण है। वैमनस्य से ही राज गये, बुद्धि गई, शरीर गये और धन गया, हर बात में समृद्ध के बदले दरिद्र हुए, इसी वैमनस्य के कारण।''[10] नर्मद में पराधीनता का भाव बहुत तीखा था, इसके कारण उनमें एक अलग तरह का जोश दिखाई देता है। विविध प्रसंगों और स्थिति-परिस्थितियों की प्रतिक्रिया करते हुए वे पराधीनता के विरुद्ध स्वयं तो खड़े होते ही हैं, इतिहास से उदाहरण देकर भारतीयों को जगाने का उद्घोष करते हैं। 'स्वतंत्रता' नामक दीर्घ काव्य का यही

भाव है। उसकी रचना प्रक्रिया के बारे में उन्होंने लिखा है। "अंग्रेजों ने 3 अक्टूबर 1859 को दीव में वाघरों (काठी जाति) को हराया और वहाँ के मंदिरों को लूटा इस बारे की हकीकत 23 अक्टूबर 1859 के 'रास्तगोफ्तार' में कुछ अपनी ओर से टिप्पणियों के साथ प्रकाशित की गई थी उसे पढ़ते ही मुझे एकदम जोश आ गया उससे मैंने यह कविता 'स्वतंत्रता' दो दिन में लिख दी। मैं उन दो दिनों में बहुत आवेश में था, घर के बाहर तो गया ही नहीं, अपने एक छोटे से कमरे में ही रहा।[11] उक्त घटना के कारण नर्मद में जोश और आवेश चाहे कितना हो, कविता संतुलित और विचार तत्व से भरपूर है। प्रथम भाग में वह परदेसी राजा का प्रजा के प्रति धर्म बताते हैं। राजा को पक्षपात छोड़कर विवेक से निर्णय लेना चाहिए, अन्य जाति, धर्म, रंग के प्रजाजनों को कभी तन, मन से दुखी नहीं करें और उन्हें समान भाव से देखें, वही धीर वीर राजा, राज्य-सिंधु को पार करता है।[12] दूसरे भाग में प्रजा का राजा के प्रति धर्म में भी राज्य के नियम, कानून का पालन करने और अपने प्रतिवाद को संकेत में समझाने के लिए कहते हैं। उसे स्वदेशाभिमान के जोश में विद्रोह न कर स्वराजभक्ति का आचरण करना चाहिए।[13] तीसरे भाग (स्वतंत्रता-सही हिम्मत) में वर्तमान स्थिति का विस्तार से वर्णन करते हुए गुलाम प्रजा की अपनी सीमाओं-बहम, आलस, स्वार्थ, एक दूसरे पर विश्वास के अभाव को त्याग कर जागृत होने का आह्वान। अमृत समान स्वतंत्रता का झरना जो आलस के कारण दब गया है, उसे शीघ्र परिश्रम करके मिट्टी-पत्थर हटाकर खोदो और उसका निर्मल जल पीकर प्रसन्न हो। उस शुद्ध और मीठे जल को पीकर रोग (पराधीनता) से छूट जाओ।"

"अमृत छुट झरो जे, आलसे छे पुरायो,
बहु बहु श्रमथी ते खोदवा झट्ट धाओ;
निरमल नीर ठंडुं, देखिने राजि थाओ,
हलकुं जल पीईने, रोगथी छूटी जाओ"[14]

स्पष्ट है कि वे रचते समय उद्वेग में भले होंगे, यह कविता उपदेशात्मक होते हुए भी काव्यत्व से समृद्ध है। उन्होंने ऐसे अनेक काव्य लिखे हैं। जिनमें जन समाज में जोश और उमंग भरने और उसमें वृद्धि के लिए आह्वान है। काव्य की ये पंक्तियां सूक्ति के रूप में गुजरात की प्रजा की स्मृति में चिर स्थायी हैं। विगुल बज रहा है, सभी जंग जीतने चलो। आगा-पीछा सोचे बिना कूद पड़ो, आगे विजय है। कुछ कार्यों के बारे में ढील नहीं चल सकती। हर दिन की शंका और

भय, हिम्मत तोड़ देता है। अभी समय नहीं आया, कहकर दिन व्यतीत करते हो। लोग बहाने करते हैं, इसका कोई अर्थ नहीं है। कूद पड़ने से सिद्धी देखकर बल आता है–

> ''सहु चलो जीतवा जंग, व्युगलो वागे,
> या होम करीने पड़ो, फतेह छे आगे।
> केटलाक कर्मो विशे ढील नव चाले,
> शंका भय तो बहु रोज, हाम ने खाळे;
> हजि समय नथी आवियो कही दिन गाळे,
> जन ब्हानुं करे नव अर्थ सरे को काळे;
> झंपलाववाथी सिद्धि जोई बल लागे।
> या होम करीने''[15]

'जय जय गरवी गुजरात' देशप्रीति का ऐसा ही काव्य है (यह वर्तमान गुजरात राज्य का भी राज्य गीत है) जिसमें प्रजा, पर्वतों, मंदिरों, स्थलों, तीर्थ स्थलों एवं सांस्कृतिक धरोहरों का उल्लेख करके देश भावना को व्यक्त किया है।[16]

नवलराम

नवलराम सरकार के शिक्षण विभाग से जुड़े होने के कारण देशभक्ति जैसे विषय पर विशेष नहीं लिख सके लेकिन प्रसंगानुकूल टिप्पणियों में उनके देशप्रेम की भावना प्रकट हुई है। वे अंग्रेज राज में धर्माभिमान की क्षति पर अफसोस करते हैं कि जो धर्माभिमान मुसलमान की तलवार से नहीं डरा, वह अंग्रेज कलम के आगे आँखें नीचे किए हैं।

पराधीनता का दुख इन काव्य पंक्तियों में प्रकट हुआ है। अंग्रेज राज्य करते हैं और देसी (भारतीय) दबकर रहते हैं। पराधीनता का काला टीका माथे पर हजार साल से लगा है, उसे कौन मिटाए–

> ''अंग्रेज राज करे, देशी रहे दबाई
> पराधीनपणाना कालो चांदलो कपाले
> हजार वर्ष थया चोंट्यो ते कुण टाले।''[17]

करसनदास मुलजी ने धार्मिक और सामाजिक सुधारों–बालविवाह, विधवा विवाह निषेध जैसी कुरीतियों को दूर करने में अपनी शक्ति लगा दी। इसी तरह मणिलाल द्विवेदी प्रारंभ में राजनीतिक विषयों में विशेष रुचि नहीं लेते थे। लेकिन

'सुदर्शन' (1890) पत्रिका के संपादन करते समय वे राजनीति में रुचि लेने लगे। उन्होंने स्वराज, राज्य और धर्म, राजद्रोह का नया कानून जैसे निबंध लिखे। तिलक के मुकदमे में जब उन्हें सजा दी गई तो मणिलाल द्विवेदी ने इसके विरोध में लिखा।[18] स्पष्ट है कि नर्मद जैसी देश भावना उस युग के अन्य रचनाकारों में देखने नहीं मिलती।

हिंदी

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु राजकुमार का शुभागमन (प्रिंस ऑफ वेल,) ड्यूक ऑव एडिनवरा, प्रिंस ऑफ वेल के पीड़ित होने पर कविता लिखते हैं, रिपनाष्टक जैसी कविताओं में राजभक्ति भी प्रकट हुई है। वे शाही परिवार के सदस्यों के आगमन पर उनका स्वागत करते थे और उनकी प्रशस्ति में काव्य रचना करते हैं। ड्यूक ऑफ एडेनवरा के 1859 में आगमन पर उनके मुखचंद्र को देखने के लिए सागर मन अकुलाता है:

''करत मनोरथ की लहर सागर-मन समुदाय।
राजकुंवर मुख चन्द लखि, उमगिचल्यो अकुलाय॥''[19]

यह भावना ब्रिटिश राज घराने की प्रति थी लेकिन इसके पीछे कोई स्वार्थ नहीं था। इसी तरह प्रिंस ऑफ वेल्स सम्राट एडवर्ड सप्तम के आगमन पर विनम्र हो उद्गार प्रकट करते हैं, उसके माध्यम से देशहित की कामना करते हैं:

''कुंअर कहा आदर करैं देहि कहा उपहार।
तुम मुख ससि आगे लखत तृन सम सब संसार॥
पहरू कोउ न लखि परै होय अदालत बन्द।
ऐसो निरुपद्रव करौ राज कुंवर सुख कन्द॥
जाति एक सब नरन की जदपि बिबिध व्योहार।
तुमरे राजत लखि परै नेही सब संसार॥''[20]

अंग्रेज राजघराने के सदस्यों के प्रति का यह भाव अंग्रेजी जाति के प्रति नहीं है, इसे भारतेंदु भी अच्छी तरह जानते हैं। 'लेवी प्राण लेवी' और 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' जैसे निबंधों के पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है। लॉर्ड म्यो के सामने कवायत करते सेठ, साहूकार और राजे महाराजो पर व्यंग्य है। बलिया मेले में अंग्रेज अफसर के प्रति प्रारंभ में प्रशंसा प्रकट करने

के बाद बीच में व्यंग्य करते हैं। यह भारतेंदु की साहस वृत्ति के साथ देशप्रेम का प्रमाण है। 'मुकरियों' में अंग्रेज जाति, तत्कालीन कानून और पुलिस की प्रकृति पर व्यंग्य हैं, और वहाँ कहीं द्वंद्व या झिझक नहीं दिखाई देती।

''भीतर भीतर सब रस चूसै। हंसि हंसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेज॥
नई-नई नित तान सुनावै। आपने जाल में जगत फंसावै॥
नित नित हमें करे बल सून। क्यों सखि सज्जन, नहिं कानून॥
रूप दिखावत सरबस लूटै। फंदे मैं जो पड़े न छूटे॥
कपट कटारी जिय में हूलिस। क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पूलिस।''[21]

भारतेन्दु के अंग्रेज जाति के प्रति ये भाव भारतीयों की दृष्टि में अंग्रेज, ब्रिटिश कानून और पुलिस की शोषक छवि के ही सूचक है। भारत दुर्दशा नाटक में जहाँ योगी अंग्रेजी राज को सर्व सुखकारी कहता है परंतु नीतियों के कारण धन के विदेश चले जाने पर दुख व्यक्त करता है:

''अंग्रेज राज सुख राज सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मंहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूनो ईस देत हा हा री॥
सबसे ऊपर टिक्कस की आबत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥''[22]

सत्य हरिश्चंद्र नाटक में राजा हरिश्चंद्र के शत्रु इंद्र-जो वर्तमान दुरित वृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है-के कुचक्रों से और ईर्ष्यावश संताप पहुँचाने में सफल होता है। सूत्रधार का कथन तत्कालीन परिवेश को ही व्यंजित करता है:

''सोच की बात है कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है, वे अंध परंपरा में फँसे हैं और ऐसे वेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूंछ नहीं है।''[23] 'अंधेरनगरी' नाटक अंग्रेज व्यवस्था पद्धति और उसकी स्वार्थपरता, दृष्टिहीनता पर कटु व्यंग है। आत्ममुग्ध गोवर्धनदास भविष्य के संकट से अनभिज्ञ तत्कालीन विसंगतियों का वर्णन करता है और मिठाई खाता है:

''सांचे मारे मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी। सोई राजसभा बलभारी॥

भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे॥
अन्धा धुन्ध मच्यौ सब देसा। मानहुं राजा रहत विदेसा॥''[24]

शाही परिवार के प्रति अहोभाव रखने वाले भारतेंदु निर्दिष्ट करते हैं कि उस विदेशी राजा के राज्य में अंधाधुंध मचा हुआ है। सत्य का पक्षधर मारा-मारा फिर रहा है। छली, दुष्ट सिर चढ़े हुए हैं। छल-छद्मधारी को राज्यसभा में स्थान मिला है। झूठ को पदवी मिली है और सच जूते खाता है। अंधेर नगरी (1881) बाद का नाटक है। ऐसे मोहभंग के उदाहरण भारतेंदु साहित्य में बिखरे पड़े हैं।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट ने अंग्रेज शासन की नीतियों, कानूनों, हिंदी-उर्दू विवाद के कारण जो प्रतिक्रिया की, उसमें देशप्रेम और देशहित के स्वर प्रखर थे। अंग्रेजों की नीतियों के पीछे के भितरघात को तथ्यों और तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते थे। वे अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी शासन के कुछ सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करते हैं लेकिन उसके शुक्ल पक्ष और भारतीय प्रजा के शोषण की शृंखला को भी निरंतर उघाड़ते जाते हैं। पराधीनता की तीव्र पीड़ा में ही स्वाधीनता की लालसा अंतर्निहित है। 'अंग्रेज और हिंदुस्तानी' (1887) लेख के प्रारंभ में महारानी की अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों प्रजा हैं, इसका उल्लेख है। लेकिन दोनों की दशा में आकाश-पाताल, स्वर्ग-नरक का अंतर पाया जाता है। यह सूचित करने के बाद अपनी प्रजा की चिरकाल की पराधीनता के कारण 'गर्मी और जोश' के कर्म होने का कारण बताते है: ''यद्यपि महारानी की प्रतिज्ञा है कि हमारी दृष्टि में जित और जेता दोनों बराबर हैं किंतु बर्ताव में इन दोनों के बीच जो बड़ी खाई पड़ गई है उसका मुँह नित-नित चौड़ा होता जाता है ज्यों-ज्यों देर होती है त्यो-त्यों इंडिया गवर्नमेंट महारानी की उस प्रतिज्ञा को विफल करने में सफलोदाम होती जाती है। थोड़ा सोचने ही से मालूम हो सकता है कि वह गदर का समय था। हिंदुस्तान की अन-मन प्रजा का मनोरंजन और लड़कों की बात बहलाने की सब तदबीर थी। राजनीतिक मर्म को जानने में नितांत मूर्ख हम लोगों की सिधाई का दोष है कि जो बात निरे फुसलाने की थी, उसे वास्तविक मान बैठे।''[25] भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के बाद महारानी के घोषणा पत्र को छलावा कहने और राजनीतिक मर्म को न जानने वाली 'मूर्ख प्रजा' जैसे शब्दों में पीड़ा है। इसमें देश भावना के संकेत हैं जो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित होती

जा रही थी। आगे के विश्लेषण में निराशा के साथ शिष्ट भाषा में चेतावनी भी है: हिंदुस्तान की हुकूमत हिंदुस्तानियों ही के हाथ रहे, यह जो प्रस्ताव महारानी ने किया था, जब तक इसका पूरा–पूरा बर्ताव न किया जाएगा, तब तक हिंदुस्तान के दिन फिरने की कोई संभावना नहीं है। सृष्टि में थोड़े से अंग्रेजों की खातिरदारी के लिए 24 करोड़ प्रजा का मन दुखी किया जाए, इसी का नाम ब्रिटिश जाति का औदार्य है? यह हिंदुस्तानी के जलवायु में सहिष्णुता इस चरम सीमा में समाई हुई है कि घाव पर घाव सहकर भी दास भाव से विमुख नहीं होते कोई दूसरा देश होता तो अब तक कभी इस बंधन को तोड़ भरपूर इसका प्रतिकार कर गुजरता। अंग्रेजों का यह अहोभाग्य कहना चाहिए कि उनका सरोकार ऐसी जाति के लोगों से आ पड़ा जिनमें राजभक्ति और सिधाई का अंत है।''[26] उन्होंने अंग्रेज प्रशासकों की कूटनीति से परिचित कराने और प्रबुद्ध वर्ग को चेताने का कार्य किया। वे 'खिताब' की राजनीति को प्रकट करते हुए धिक्कारते हैं: 'किसी न किसी बहाने से रुपया इनसे खींचते रहो और देने का काम पड़े तो 'खिताब' और पुचाड़ा दे फुसला रखो, सरकार कर्जी है कहाँ से पावै जो दें, धिक् ऐसी सरकार को!'[27] बालकृष्ण भट्ट के निबंधों की शैली तर्कपूर्ण और स्थित के सही संदर्भों को सामने रखती है। चिंतन सभर दृष्टिकोण वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर देता है। छल–छद्म को उघाड़ते हुए वे सरकार के प्रति आक्रोश प्रकट करते हैं, उसमें पाठक की चेतना भी जुड़ जाती है। उस दौर में 'स्वप्न' के माध्यम से अपनी भावनाओं को प्रकट करने की एक परंपरा दिखाई देती है। 'स्वर्ग में विचार सभा का आयोजन', 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' जैसे निबंधों की परंपरा में बालकृष्ण भट्ट ने भी निबंध लिखे। 'विचित्र स्वप्न' और 'एक अनोखा स्वप्न' इसी श्रेणी में आते हैं। स्वप्न के माध्यम से भारत भूमि की अवनति की चिंता एक अलग तरह का प्रयोग है। अधिष्ठात्री चंद्रमुखी देवी को बूढ़ी स्त्री फूट अपनी सखी स्वार्थपरता और अंध परंपरा के साथ चारों ओर से घेरे हैं। मूढ़ता चंद्रमुखी देवी से कहती है: ''मुझे शरण दो मैं अब कहाँ जाऊँ। ये यवन जो मेरी उत्पत्ति के कारण थे उनका अब कहीं पता तक ही नहीं है। जो बचे–खुचे हैं भी वे भी अति तुच्छ हो रहे हैं। ये गौर वर्ण मेरा आदर नहीं करते,अब मुझे तेरा सहारा है। मैं देश–देशांतर घूम आई पर मुझे वास योग्य स्थान कहीं न मिला। अंत में मैंने यह प्रण किया कि मरने तक तेरे पुत्रों में रहकर अपने तुच्छ जीवन को किसी भाँति बिताऊँ।[28] 'एक अनोखा स्वप्न' में भारत के समाज के विभाजन जिसमें एक

और राजे–महाराजे, सेठ–साहूकार हैं, दूसरी और गरीब कंगाल और किसान हैं। यहाँ भी अविद्या और उसके अनुरागी हैं। अविद्या व्यापारी और सामंतों की वास्तविकता को सूचित करती है: ''जब तक मैं अपना अधिकार इनके बीच जमाए हूँ, तब तक किसी तरह उनकी कुछ भलाई की आशा ही आप न करें और इन्हें बड़ा सुखी जो आपने मान रखा है इस सिद्धांत को जलांजलि दीजिए। उनकी यह सब रौनक और चमक–दमक केवल ऊपर से देखते ही को है। भीतर–भीतर पोले और जर्जरित हो रहे हैं। स्वच्छंदता का सुख इन्हें अणु–मात्र भी नहीं है। यह कहने को राजा है राजस्व और क्षत्रित्व का आभास मात्र बच रहा है।.... कोई ऊँची–से–ऊँची पदवी और दरबार में प्रथम श्रेणी की कुर्सी पाने की फिक्र में व्यग्र हैं। बहुत ऐसे भी हैं कि केवल अपना आराम और सुख चाहते हैं लाखों अपने आश्रितों की कुछ भलाई का ख्याल कभी एक मिनट के लिए नहीं होता। लोग कर्मचारियों के अत्याचार से पीड़ित चित्कार मचाए हुए हैं पर उन्हें शरण देने वाला कोई नहीं देख पड़ता।[29] 'विशाल वाटिका' भारतवर्ष का रूपक है। इस बाग का बागवान बूढ़ा है उसका नया मेहमान (पाहुना) अंग्रेज है जिसने यहाँ अधिकार जमा लिया है। बागवान यह समझता था कि अन्य आगन्तुकों की तरह यह भी यहाँ ही रह जाएगा। परंतु यह पाहुना ऐसा चालाक निकला उसने समस्त वाटिका को तिल–तिल नाप–जोख कर बात–बात में अपना अधिकार उस पर जमा लिया। पहले वालों का सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन शक्ति को भी खूब टटोल लिया था। इसने अपनी जन्मभूमि का संबंध न छोड़ा बरन जहां जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया अपनी मातृभूमि को भेजना आरंभ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को नि:सत्व कर डाला।[30]

बालकृष्ण भट्ट ने राजनैतिक विषयों पर भी निडरता से लिखा। अंग्रेजों की कूटनीति के साथ शोषण सहते सहते भारत भी अनुभव से चतुर होने लगा है, इसका संकेत 'लॉर्ड डफरिन और इंडिया', 'गुरु और चेला', 'इंग्लैंड और भारत' जैसे संवादपरक निबंधों में मिलता हैं। 'इंग्लैंड और भारत' में इंग्लैंड कहता है, हमने आकर तुम्हारे क्लेश मिटाए उसका तुम एहसान मानते हो या नहीं। भारत उत्तर देता है कि तुम्हारी संतानें यहाँ आकर स्वर्ग–सुख का अनुभव करती हैं। जब तक रहती हैं हमारी नस–नस का लहू चुसती रहती हैं और जाते समय रंक से राजा बन जहाजों में रुपया भरकर ले जाती हैं। तब एहसान किस बात का? इंग्लैंड के कहने पर कि वह भारत का शिक्षा गुरु है, भारत हँसता है और कहता

है कि 'चालाकी की बोलचाल इसी का नाम है।' सब ओर से हमें पंजे में कसे हुए हो। जरा भी हिलने नहीं देते। ऊपर से तुर्रा यह है कि हम तुम पर एहसान करते हैं। वाह रे चालाकी।''[31] लॉर्ड डफरिन और इंडिया में डफरिन इंडिया से विदा लेते हुए कहता है कि हमने तुम्हें और तुम्हारे बाल बच्चों को सुधारने और सरफराज करने का काम किया। इंडिया उससे कहती है कि ऐसे कौन से काम है, जरा मैं भी सुनूँ और व्यंग्य में डफरिन के बने कानून से हुए शोषण के संकेत दिए जाते हैं: ''मेरी नस-नस से रुपया तो भले ही निकाल निकाल इंग्लैंड के बनियों को तथा और अपने देसी भाइयों को बराबर 3 साल तक निहाल करते रहे पर मेरी और मेरे लड़कों की वास्तविक भलाई आपने क्या की ? आप समझते हैं यहाँ आपकी गूढ़ पालिसी के मर्म को कोई समझता ही नहीं, न आपकी वचन रचना चातुरी को कोई पहचान सकता है।''[32]

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र के समय तक सरकार की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों की विसंगतियों पर खुले रूप से टीका टिप्पणी होने लगी थीं। सरकार की दोहरी नीतियों का विरोध करते हुए देशहित और देशप्रेम को प्रकट किया जा रहा था। प्रतापनारायण मिश्र भी अपना लक्ष्य देशोन्नति और देश विकास को लेकर चलते हैं। यह लक्ष्य अपने धर्म की गरिमा का अनुभव करते हुए, एकता और प्रेम से सिद्ध हो सकता था। वे इसके लिए कटिबद्ध थे, यद्यपि उनकी शैली अलग थी। 'दांत' निबंध का अंत इन शब्दों में करते हैं: 'आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं अंत: हमें योग्य है कि जैसे बत्तीस दांतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दांतों में तिनका दबाने तक में लज्जित ना हों और यह भी ध्यान रखें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास योग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।[33] भारत का सर्वोत्तम गुण निबंध में भारत में जन्म लेने का गौरव और भारतमाता की भक्ति तो उचित है पर आपसी झगड़ों को छोड़कर आपस में सच्चा प्रेम दृढ़तर प्रेम बढ़े इसके लिए कटिबद्ध होने वालों को देशोनन्ति का सही इच्छुक बताते हैं।[34] कुछ घटनाओं को देखकर उनका सात्विक क्रोध प्रकट हुआ जैसे उन्होंने सुरेंद्रनाथ बनर्जी की गिरफ्तारी का विरोध किया। बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कोर्ट में शालिग्राम के लाने का विरोध अपने पत्र में किया था। उन्होंने जज पर आक्षेप

किया था, इसे कोर्ट की अवमानना का दोषी बताकर उन्हें दो मास की जेल की सजा हुई। इस घटना से क्रुद्ध होकर मिश्र जी ने लिखा: ''विचार का स्थान है कि अपने धर्म की निंदा का हाल सुनके कि हृदय से हृदय का जी नहीं दुखता, ऐसे अवसर पर मनुष्य जो न कर उठावै सो थोड़ा है। फिर बाबू साहब ने कौन हत्या की थी, जो ऐसे कठोर दंड के भागी हों। सुरेंद्रनाथ कोई साधारण पुरुष नहीं हैं, आनरेरी मजिस्ट्रेट और सिविल सर्विस के मेंबर रह चुके हैं। विद्या, बुद्धि और प्रतिष्ठा भी उनकी ऐसी देशभर में बहुत कम लोगों की है। ऐसे देशानुरागी सुयोग्य व्यक्ति को ऐसी ऐसी बातों के लिए ऐसा दंड देने में केवल एक ही नहीं बरंच आर्यमात्र की विडंबना है।''[35] सुरेंद्रनाथ बनर्जी के जेल के आदेश की सर्वत्र आलोचना हुई। पत्रों में विरोध हुआ था। उन्होंने इसे काले रंग की दुर्दशा और नेटिव का भी मुद्दा बनाया। एक अन्य घटना डॉक्टर बैंकर्स के आदमियों द्वारा हिरण के शिकार की है। गाँव वालों ने इस कार्य का विरोध किया, परिणामस्वरूप अंग्रेज अफसर ने उन्हें कोड़ों से पिटवाया और 20 रुपये का जुर्माना लगाया। वे व्यंग्य शैली में अंग्रेजों के न्याय का मखौल उड़ाते हैं ''न्याय-अन्याय विचारना निरा व्यर्थ है। वे हमारे राजा हैं और राजा करे सो न्याय, पासा परे सो दाँव।' वे सिंह हैं। सिंह को कौन कानून ? वे गोरे हैं ,चाहे जिसे मारें चाहे जिसे जिलाएँ। शोक का विषय है कि डॉक्टर साहब उन पर (गाँव वालों पर) दावा नहीं करते, नहीं तो उन्हें डकैती के अपराध में अवश्य दंड दिया जाता।''[36]

इन घटनाओं पर उन्होंने 1882-83 में लिखा था। ऐसे ही आक्रोश और क्षुब्धता को बढ़ाने वाली दो घटनाएँ 1884 में हुईं। असम में गोरंडाधम बेब साहब ने एक कुली की युवा स्त्री को बलपूर्वक रात भर अपने शयनालय में रखा, उसके पति ने अपनी धर्मपत्नी के सतीत्व का रक्षण करना चाहा उसे भी पीटा। वह बेचारी लज्जा और दुख के मारे मर भी गई, पर किसी ऐसे तैसे ने यथोचित न्याय न किया।[37] दूसरी घटना अजमेर रेलवे स्टेशन की है। पुरुषोत्तम दास नामक व्यक्ति के डिब्बे में असिस्टेंट स्टेशन मास्टर ए.एच. ब्राबर दो अतिरिक्त व्यक्ति और घुसाता है। पुरुषोत्तमदास द्वारा विनयपूर्वक इसे नियम विरुद्ध कहकर विरोध किया जाता है। ''इतना सुनते ही चांडाल ने उनको गालियाँ भी दीं, पवित्र शिखा भी नोंची, लातें भी मारी और पुलिस को सुपर्द कर दिया।[38] इन घटनाओं के वर्णन में किसी भी तरह के लालित्य के बिना सीधी टिप्पणी करते हैं। ''जब तक हम अपनी निर्बलता का निराकरण न करेंगे, हम निरे पशु समझे जाएँगे। हम एक

महा दुर्बल पशु समझे जाएँगे। यदि हम अपना पशुत्व दूर किया चाहें तो केवल सभाओं में लेक्चर देना या अखबारों में लंबे-लंबे लेख लिख देना, सरकार से दुख रोना, मात्र लाभजनक ना होगा। इसके लिए तो आँखें मींच कर, आगे पीछे कुछ न सोचकर जैसे को तैसे भातृस्नेह बंधन में जुट जाना चाहिए। नहीं तो कोरी बातों से कुछ न होगा। हमारे नैर्बल्य का महत्तम कारण केवल देशभक्ति का अभाव है।''[39] प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में राष्ट्रभक्ति और हिंदुत्व की दिशा का प्रबल स्वर है। राजभक्ति की कविताओं में भी वे देश की दुर्दशा को ही व्यक्त करते हैं। 'तृप्यंताम' कविता में विस्तार से देश की जनता की करुण स्थिति का चित्र है:

मंहगी और टिकस की मार हमें छुड़ा पीड़ित तन छाम।
सागपान लौं मिले न जिय भरि, लेबो वृथा दूध को नाम।
तुम्हें कहा प्यावैं जब हमरो, करत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अलक उपमा लहि, नाग देवता तृप्यन्ताम॥[40]

इल्बर्ट बिल के विरोध और समर्थन में एंग्लो इंडियन शक्ति और भारती की दो अलग-अलग लावणी की रचना की है एंग्लो इंडियन शक्ति इल्बर्ट पर कोप करती है

दासी की उन्नति हमसे नहीं सही जाति
यह बिल भई सवति हमारि जरावत छाती।
इल्बर्ट भरै जिहि यह सब अनरथ कीन्ह।
'जस्टिस उजरै अधिकार चहति मोर छीना॥'[41]

भारती रोती हुई लार्ड रिपन से मनुहार करती है। अपनी दुर्गति और विवशता को व्यक्त करते हुए बिल को पास करवाकर गोरे-काले का भेद मिटाने को कहती है:

आलस्य वीर एक तें एक कंत हमारे
अपनौ सर्वसु परदेशिन के कर हारे।
धन बल विद्या वैभव, सब भूलि बिसारे।
मन दुर्गति देखत बैठि रहे मन मारे।
बिल पास बेगि कर नाश भेद सब कीजै।
निज दीन हीन परजन को दुख हरि लीजै।
दुखिया हिंदुन की बेर करौ जनि देरी।
अब बेगि रिपन महाराज खबरि लेहु मेरी॥[42]

‘हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान’ सूत्र नवजागरण के संदर्भ में विशेष प्रसिद्ध हुआ। यह काव्य देशप्रेम और स्वपहचान को गौरवान्वित करने को लिखा गया था:

“चाहुजु साँचहु निज कल्याण, तो सब मिलि भारत संतान,
जपौ निरंतर एक जबान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।
रीझे अथवा खिझै जबान मान होय चाहै अपमान।
पै न तजौ रटिबे की बान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।
जिन्हें नहीं निजता को ज्ञान, वे जन जीवित मृतक समान।
याते गहु यह मंत्र महान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।[43]

‘हिंदी हिंदू हिंदुस्तान’ एक सूक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो गया। यह काव्य देश प्रेम और स्वत्व की पहचान को गौरवान्वित करने वाला है।

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी ने लोकगीतों के माध्यम से राष्ट्रप्रेम को व्यक्त किया, कजरी, लावनी आदि के प्रयोग लोकप्रिय हुए।

राधाचरण गोस्वामी हंसी और उल्लास के पर्व होली को पराधीनता का उपादान बना लेते हैं:

“होली

है दुर्दशा न थोरी, कहा खेलें हम होरी?
रह्यो न राज हमारो तिल भर करत चिकरी कोरी।
पराधीनता में सुख मानत तानत लंबी चोरी।
बात पुरखन की बोरी।
छोड़ द ई विद्या निज घर की हवे अंग्रेजी ओरी।
ताही की ले गति मति लै बरतत धरम धीर की छोरी।
मान मरजादा तोरी।
इत अकाल उत टिकस लगायो कर सब पे बरजोरी।
तेज अनाज ठीक कहुं नाही परत प्रजा सब डोरी
भीख मंगत लै झोरी।
अब विद्या रंगोचित में गुण गुलाल प्रघटोरी।
अकल अवीर कुरीति कुंकंमा देहु भूमि में फोरी निडरता डफ धुधकोरी।
कर उत्साह राह में आओ में भ्रम सब बिसरोरी।

स्वाधीनता करो संपादन भारत जय उचरोरी।

राधिका चरन गहो री।''[44]

इस गीत में दुर्दशा पर दुख, पराधीनता को भाग्य मानने वाली प्रजा की विवशता, अपनी ज्ञान परंपरा को भुलाकर अंग्रेजी को ओढ़ना। धर्म का त्याग अकाल की स्थिति में सरकार द्वारा अतिरिक्त टैक्स लगाने पर दुख प्रकट करते हैं। 'विद्या रंग' 'अकाल अवीर' और निडरता की डफली बजाते हुए स्वाधीनता का भाव और स्वत्व की पहचान का तीव्र अहसास कराया। इस तरह के सशक्त देशभक्ति के गीत और लोकगीतों में निहित स्वाधीनता का भाव 19 वीं सदी की हिन्दी कविता का प्रबल स्वर बना।

संदर्भ

1. भूमिका, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण–पृष्ठ 14
2. डॉ. शिवप्रसाद राजगोर, अर्वाचीन गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 22–23
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृष्ठ 155 156
4. डॉक्टर ईश्वरी प्रसाद, अर्वाचीन भारत का इतिहास पृष्ठ 338
5. नामवर सिंह : संकलित निबंध, पृ.151
6. वही, पृष्ठ 151
7. रा.वि. पाठक, नर्मद अर्वाचीन गद्यनो आद्यप्रणेता, पृष्ठ 56
8. नर्म कविता खंड 5 पृष्ठ 139
9. नवजागरणकालीन गुजराती साहित्य, पृष्ठ 265–266
10. वही, पृष्ठ 192
11. नर्म कविता खंड 1, पाद टिप्पणी पृष्ठ 13
12. वही, पृष्ठ 13
13. वही, पृष्ठ 16
14. वही, पृष्ठ 22–23
15. वही, पृष्ठ 42
16. वही, पृष्ठ
17. नवलराम, रमेश म. शुक्ल से उद्धृत, पृष्ठ 43–44
18. मणिलाल द्विवेदी, धीरूभाई ठाकर, पृष्ठ 53
19. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–4, पृष्ठ 274
20. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–4, पृष्ठ 271
21. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–4, पृष्ठ 374
22. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–1 पृष्ठ 114
23. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–1, पृष्ठ 215
24. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली–1, पृष्ठ 297
25. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–1, पृष्ठ, 187–188
26. वही, पृष्ठ 188
27. वही, पृष्ठ 226
28. बालकृष्ण भट्ट रचनावली–4, पृष्ठ 285

29. वही, पृष्ठ 364
30. वही, पृष्ठ 434
31. वही, पृष्ठ 456
32. वही, पृष्ठ 488–489
33. प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली, पृष्ठ 183
34. वही, पृष्ठ 63
35. वही, पृष्ठ 12
36. वही, पृष्ठ 42 43
37. वही, पृष्ठ 48
38. वही, पृष्ठ 48
39. वही, पृष्ठ 48
40. प्रतापनारायण मिश्र रचनावली–1, पृष्ठ 66
41. वही, पृष्ठ 99
42. वही, पृष्ठ 100
43. वही, पृष्ठ 100
44. हिंदी नवजागरण : राधाचरण गोस्वामी, पृष्ठ 156–157

उपसंहार

गुजरात 1818 ई में मराठाओं के शासन से मुक्त होकर मुंबई प्रेसिडेंसी का हिस्सा बनता है। मुंबई के तत्कालीन गवर्नर माउंट स्टुअर्ट एल्फिंस्टन मुंबई नेटिव समिति का गठन कर देशी भाषाओं में शिक्षा देने को प्रोत्साहित करते हैं। इसके कारण गुजरात में 1826 से गुजराती की सरकारी स्कूलों से शिक्षण प्रारंभ हुआ। परंपरित पाठशालाओं और मदरसों से अलग इस शिक्षा ने नए ज्ञान विज्ञान के बारे समाज में सजगता फैलाई। सूरत में मानवधर्म सभा का प्रारंभ दुर्गाराम मेहता और दादोबा जैसे शिक्षकों द्वारा किया जाता है। इसकी साप्ताहिक बैठकों में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं पर प्रश्नोत्तरी होना, वहम और जादू-टोनों, भूत प्रेत के विरोध में चेतना जागृत करने में मानवधर्म सभा का महत्त्वपूर्ण प्रदान है। दुर्गाराम मेहता विधुर हुए तब उन्होंने विधवा जीवन की करुणता को भी पहचाना। विधवा विवाह के पक्ष में उनके भाषणों से गुजरात के समाज जीवन में हलचल तेज हो गई थी। सुधारवादियों और परंपरावादियों के बीच संघर्ष का प्रारंभ यहां दिखाई देता है। यह कार्य ब्रह्म समाज के परोक्ष प्रभाव से प्रेरित लगता है क्योंकि दुर्गाराम मेहता कुछ समय मुंबई अवश्य रहे थे,परंतु उनके अंग्रेजी शिक्षा लेने के प्रमाण नहीं मिलते। दादोबा के संपर्क में तो वह बाद में आए। उल्लेखनीय यह भी है कि नर्मद में धार्मिक पाखंड एवं सामाजिक कुरीतियों पर उग्र प्रहार और विरोध में इस परिवेश का प्रदान रहा है। नर्मद सूरत के थे और मुंबई में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी।

पश्चिमोत्तर प्रांत की स्थिति इससे भिन्न रही। एक तो अवध प्रांत 1856 में अंग्रेजों के अधीन आया हुआ परंतु अंग्रेजों ने कोर्ट की भाषा फारसी ही रखी। प्रबुद्ध वर्ग को फारसी में निपुण होने में सफलता की संभावना लगी थी। 1857 के स्वाधीनता संग्राम के कारण भी अंग्रेजों द्वारा यह प्रांत उपेक्षित रखा गया। कुछ मिशनरी स्कूल थे लेकिन उनके बारे में लोक धारणा थी कि वे ईसाई धर्म को

प्रचारित-प्रसारित करने के केंद्र हैं। इतने बड़े प्रांत की उपेक्षा और अंग्रेजों के पूर्वाग्रह के कारण इसका विकास सीमित रहा। सातवें दशक में राजा शिवप्रसाद सिंह, सैयद अहमद खाँ एवं भारतेंदु के कार्यों से स्थिति स्पष्ट होती है। इसी के साथ हिंदी-उर्दू विवाद ने प्रबुद्ध वर्ग के बीच विभाजन की संभावनाओं को बढ़ा दिया। इसी समय स्वामी दयानंद सरस्वती ने धार्मिक क्षेत्र में अपने विचारों से गहरी खलबली पैदा कर दी थी। जिसके विरोध में परंपरावादी संगठन और संस्थाएँ सक्रिय हुईं। इन संस्थाओं का अंग्रेज शासकों के प्रति व्यवहार उदार था। प्रथम स्वाधीनता संग्राम के 10 वर्ष बाद का यह परिवेश बदला हुआ था।

18 वीं सदी में हिंदू धर्म विविध पंथों-संप्रदायों में विभाजित हो गया था और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अलग साधना पद्धतियों के द्वारा श्रद्धावान भारतीयों को आकर्षित किया जा रहा था। जादू-टोने अंधविश्वास, बहुदेववाद, छल-छद्म और दुराचार धर्म में घुल मिल गए थे। यद्यपि आंतरिक रूप से इससे निकलने के अल्प प्रयास हुए। लेकिन 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ईसाई मिशनरियों के द्वारा सैद्धांतिक और तार्किक रूप से भारतीय धर्म साधना की सीमाओं को रेखांकित किया गया। प्राच्यवादियों द्वारा अतीत के भारत को गौरवान्वित करना और वर्तमान के धार्मिक पतन और विश्रृंखलताओं को उभारकर हीन भावना को बढ़ाने से हिंदू समाज हतप्रभ था। ऐसे में बंगाल के राजा राममोहन राय ने हिंदू धर्म साधनाओं की विशिष्टता को रेखांकित किया, साथ ही साधना पद्धतियों और मूर्ति पूजा के बारे में लोक धारणा की सीमाओं से निकलने का मार्ग दिखलाया। ब्रह्म समाज का परोक्ष प्रभाव गुजरात पर पड़ा, तब तक महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना नहीं हुई थी। मानव धर्म समाज के नियमों में एक ईश्वर, मनुष्य की एक जाति (उच्च नीच नहीं) एक धर्म कुल के स्थान पर गुण से मनुष्य की पहचान, विवेक से कार्य करना, सद्मार्ग की शिक्षा एवं ईश्वर का अनुग्रह के लिए भक्ति के मार्ग का निर्देश आदि थे। ये परंपरित धार्मिक आचारों एवं विश्वासों से आगे का विकास था। यह विरासत नर्मद को मिली। इसलिए नर्मद में धर्म क्षेत्र में व्याप्त अतिरेकों एवं पाखंडों का तीव्र विरोध मिलता है। वे संध्या पूजन, यज्ञ, आहुति आदि को ब्रह्म को रिझाने के बाह्य उपकरण मानते हैं। एकेश्वरवाद के समर्थक हैं लेकिन जगत को मिथ्या नहीं मानते बल्कि उसकी सुंदरता का आस्वादन करने को प्रेरित करते हैं।

वैष्णव संप्रदाय के तत्कालीन महाराजाओं (गोस्वामियों) के धर्म की आड़

में किए जा रहे पापाचार का तीव्र विरोध नर्मद और करसनदास मुलजी जैसे पत्रकारों, साहित्यकारों द्वारा किया जाता है। यह विशिष्ट घटना थी। गोसाईयों के अनाचार के कारण व नवधा भक्ति में सख्य भक्ति के प्रति उनका पूर्वाग्रह प्रकट होता है। परकीय प्रेम की रसज्ञता और आकर्षण को समझते हुए भी ईश्वर को कामी मानकर भजने को अविवेकपूर्ण, उद्धत और छिछला कहते हैं। तत्कालीन परिवेश में वैष्णव गुसाईयों ने स्वयं को कृष्णरूप मानकर श्रद्धाभीरू भक्तों और स्त्रियों का शोषण किया था। 'महाराज लायबल केस' के ऐतिहासिक मुकदमे में करसनदास मूलजी की विजय ने गुजराती भद्र समाज में खलबली मचा दी। नर्मद और करसनदास मूलजी के धर्म संबंधी लेखों में लोक जिज्ञासा को सरल सहज भाषा में संतुष्ट करने का कार्य किया। इनका लेखन आघात देने के स्थान पर समझाते हुए धार्मिक पाखंडों के प्रति सचेत करता था। मणिलाल नभूभाई द्विवेदी के धार्मिक विचारों में संयम, तार्किकता और गहनता अधिक है। उनके समय तक नई शिक्षा का प्रभाव समाज के बड़े भाग तक प्रसारित हो गया था। उसके आलोक में भारतीय धर्म साधना की विशेषताओं और उसकी अद्वितीयता को स्थापित किया गया। उन्होंने संवाद शैली में तार्किक ढंग से संकीर्णता, रूढ़ियों, सत्य, धर्म पर अपने विचार प्रकट किए 'धर्मबोध' निबंध में भारतीय धर्म साधनाओं के विविध पंथ-संप्रदायों का नामोल्लेख न करते हुए उनकी साधना पद्धतियों की एकांगिता रेखांकित की। उन्होंने धर्म को ग्रंथों, परंपराओं सूक्तियों और कर्मकांडों से निकलकर उसे जीवित मनुष्य के हित से जोड़ा। प्राचीन को नवीन बनाकर उसकी उपयोगिता भारतीय समाज के लिए आवश्यक है यह प्रमाणित किया। नीतिशास्त्र का पाठ करने वाले स्वार्थ, परमार्थ, पुरुषार्थ पर व्याख्यान देने वाले को नहीं, बल्कि जो यथार्थ जीवन के संघर्ष में, प्रलोभन में नहीं फँसे व्यक्ति को नीतिवान कहा। समुद्र में उतरे बिना नाव अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँचती, इसके रूपक के द्वारा जीवन संघर्ष में उतरने और नीतिवान बने रहने के उच्चादर्श की भारतीय धर्म साधना का सत्व माना। मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म साधना में मूर्तिपूजा पर घृणास्पद टिप्पणीयाँ की गई थीं। नर्मद, करसनदास मूलजी, नवलराम और मणीलाल द्विवेदी ने मूर्तिपूजा का समर्थन किया। सभी ने मूर्ति को ईश्वर की आराधना का माध्यम माना। मिशनरियों द्वारा मूर्तिपूजा को अज्ञान और पिछड़ेपन से जोड़ा था। द्विवेदी ने इसका तार्किक उत्तर देते हुए कहा कि ईश्वर को पहचानने का मान्य मार्ग ध्यान है। परंतु किसका ध्यान किया जाए, जिसे

जो उचित लगे उसका ध्यान करे। इसके लिए कोई भी रूप गुण युक्त कल्पना मूर्ति मन में या प्रत्यक्ष खड़ी करके ली जाती है। सभी धर्मों में यह किसी न किसी रूप में विद्यमान होती है, जो ईश्वर को देखने का मार्ग है। मणीलाल द्विवेदी का शिकागो की धर्म सभा में भी लेख पढ़ा गया था।

दलपतराम के 'मिथ्याभिमान' (1869) नाटक में धर्म पर जातिगत और वर्णगत श्रेष्ठता के अंहकार करने वाले प्रमादी और आलसी ब्राह्मणों पर व्यंग्य है, जिन्हें भारतीय विद्या और शास्त्रों के अध्ययन-अनुशीलन में रूचि नहीं है। गोवर्धन त्रिपाठी 'सरस्वती चंद्र' में पूर्व-पश्चिम का समन्वय करते हैं। सरस्वतीचंद्र नई शिक्षा प्राप्त युवक है जिसके माध्यम से नए-पुराने के द्वंद्व को प्रस्तुत किया गया है। माता-पिता और पत्नी के अधिकारों का चर्चा करके वह परंपरित मान्यता को नहीं स्वीकारता। प्रारंभ से ही वैराग्य के अंकुर व्यक्तित्व में होने के कारण वह नए समाज से अपने को मिसफिट पाता है, उसकी खोज आत्म तत्व को पाने की है।

भारतेन्दु के समग्र साहित्य में धर्म की केन्द्रीयता है। उनकी अधिकतर रचनाओं के प्रकाश में आने से यह प्रमाणित होता है। उन्होंने अनेक धार्मिक ग्रंथों के भाष्य, पवित्र मास, स्नान और व्रतों के महात्म्य पर लिखकर अपनी धार्मिक आस्था को प्रकट किया, उसे छिपाया नहीं। बलिया मेले में दिए भाषण में 'धर्म एक उन्नति का मूल है' कहना उनके 'दुचित्तेपन' का नहीं, धर्म में उनकी दृढ़ आस्था का प्रभाव है। वे धार्मिक संकीर्णता पर दुःख व्यक्त करते हैं, जिसका कारण मानते हैं कि मूल धर्म को छोड़कर उपधर्मों के आग्रह ने वास्तविक धर्म का लोप कर दिया है। परमेश्वर का पाने का पथ केवल प्रेम को मानकर वे सारे बाह्य आडम्बरों की अवहेलना करते है। 'बिना प्रेम के ना लोक है, न परलोक'। यह स्थापना करके अनासक्त प्रेम और भक्ति का मार्ग निर्दिष्ट करते हैं। वस्तुतः वे धार्मिक नेता नहीं, साहित्यकार थे जो अपनी परंपरा से रस ग्रहण करते हैं। उनकी नाट्यकृतियों- वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, प्रेमजोगिनी में धार्मिक पाखंड के रचनात्मक विरोध का साहस करते हैं। काशी की धर्मसभा से जुड़े होने पर काशी में मंदिरों के परिवेश का वर्णन और भारत दुर्देव के सत्यानाश फौजदार का पहला सैनिक धर्म बताते हैं। समाज में धर्म के नाम पर चल रही मान्यताओं और अंधविश्वासों के बारे में उनकी स्पष्ट समझ का प्रमाण है। बालकृष्ण भट्ट भारतीय धर्म के उदात्त पक्ष पर लिखते हैं और उसमें घुसा दिए गए भ्रष्ट विधि विधानों,

आचारों और लोभवृत्ति पर तीखी टिप्पणी करते हैं। वे किसी धर्म की प्रतिष्ठा के स्थान पर धर्म की उत्तम बातों को ग्रहण करने का सुझाव देते हैं। धर्म को आस्था विश्वास से जोड़ते हुए उसे बड़े बड़े बुद्धिमानों के बुद्धितत्व का निचोड़ कह कर भारतीय चिंतन परंपरा की उदात्तता और उत्कृष्टता को गौरवान्वित करते हैं। उनका धर्म का गंभीर अनुशीलन यह निर्दिष्ट करने के लिए प्रेरित करता है कि समाज के विकास के साथ धार्मिक नियमों में भी परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय धर्म साधना में चिंतन परंपरा का विकास होता रहा है। रामायण और महाभारत के समय समाज जीवन के मूल्यों में परिवर्तन ने धर्म में नए मूल्यों की संभावनाओं का समावेश कर दिया था। भारतीय धर्म, संस्कृति के गंभीर अनुशीलन के साथ वे वर्तमान के प्रति भी सजग थे। परंपरित धर्म की उदात्तता के साथ उन्होंने पाखंडों पर अपने समकालीनों से अधिक तीव्र प्रहार किये। भारत में प्राकृतिक परिवेश के कारण भारतीयों में मननशीलता का गुण विशेष रूप से विकसित हुआ। उनकी धर्म साधनाओं के बारे में गूढ़ चिंतन और सूक्ष्मताओं ने पश्चिम को भी प्रभावित किया है। लेकिन वे मानते हैं कि इस एकांतवास से भौतिक जीवन की आवश्यकताओं और विकास पर ध्यान नहीं दिया गया। प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के लेखन में भी धार्मिक पाखंडों पर तीखी टिप्पणियाँ मिलती है। इन्होंने भी प्रमादी, आलसी, दक्षिणा पर निर्भर शास्त्र ज्ञान के प्रति अरूचि रखने वाले ब्राह्मणों की कटु आलोचना की। यह भी प्रकट सत्य है कि धार्मिक पाखंड पर तीखी टिप्पणी करते हुए भी धर्म में आस्था रखते हुए ये साहित्यकार उससे ऊर्जा ग्रहण करते हैं। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और अन्यों का दयानन्द के कार्यों की प्रशंसा उनके द्वारा पाखंडं पर तीव्र हमले के कारण भी है। प्रकट में स्वामी दयानंद के कार्यों की सीमाओं को बताने के बावजूद पश्चिमोत्तर प्रांत के लेखकों पर दयानंद स्वामी का प्रभाव परिलक्षित होता है।

गुजराती लेखकों ने यद्यपि सभी सामाजिक कुरीतियों से समाज के उच्चवर्ग को निकालने का बीड़ा उठाया। लेकिन इनका सबसे बड़ा योगदान विधवाविवाह समर्थन के क्षेत्र में है। दुर्गाराम मेहता के विधवा विवाह के समर्थन में भाषणों का प्रभाव इस तरह हुआ कि एक डुंगरपुरी विधवा उनसे विवाह करने के लिए तत्पर हो गई। नर्मद ने विधवाविवाह को एक मिशन के रूप में किया। इतना ही नहीं उन्होंने विधवा से विवाह भी किया। पराशर स्मृति, वीर मित्रोदय के मयूख श्लोक आदि अनेक शास्त्रों के श्लोकों को उद्धृत करके तर्क दिया। जब हिन्दू

धर्म के ग्रंथों में अपराध या धर्मविरुद्ध कृत्य के लिए प्रायश्चित का विधान है। यदि विधवाविवाह दोष होता तो शास्त्रों में इसके लिए प्रायश्चित का विधान होना चाहिए। उसके अतिरिक्त करसनदास मूलजी, नवलराम के काव्यों एवं नाट्य संवादों में वैधव्य पीड़ा एवं करूणता को चित्रित किया गया है। नर्मद और करसनदास मूलजी ने रूढ़िचुस्त समाज में विधवा विवाह करवाने का साहस इस संदर्भ में दिखाया और वे सफल भी हुए। मणीलाल नभूभाई द्विवेदी इस संदर्भ में परंपरावादी लगते है। वे सुधारकों का पूर्ण समर्थन नहीं करते, लेकिन बालविवाह के विरोध में निरंतर लिखते रहे। उनकी मान्यता थी कि बालविवाह के रुकने से विधवाओं की समस्या का समाधान हो जाएगा। गुजराती और हिन्दी सुधारकों एवं साहित्यकारों के उद्‌गारों से स्पष्ट होता है कि धर्म के संरक्षण में इन सामाजिक कुरीतियों की जड़ें इतनी गहरी थीं कि सुधारकों एवं साहित्यकारों के समझाने, निर्देशन देने का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। गुजराती साहित्यकारों ने सामाजिक बंधनों को स्वयं नहीं स्वीकारा। पर सुधार के इन ठोस प्रयासों के बावजूद जातिगत बंधन गुजराती उच्च समाज में चुस्त थे। इन सभी सुधारकों–नर्मद, करसनदास मूलजी, महीपतराम, नीलकंठ आदि का जाति से बहिष्कार हुआ था। जाति–बिरादरी के नियमों के आधार पर दंड भरकर ही उनका जाति में स्वीकार हुआ था।

हिन्दी लेखकों में भारतेन्दु ने किसी सामाजिक समस्या पर मुख्य रूप से नहीं लिखा। बालविवाह, विधवाविवाह, विदेश यात्रा का महत्व, नशा एवं जाति–पांत पर उन्होंने लिखा अवश्य, परंतु उनके लेखन में वैसी धार नहीं दिखती जैसी बालकृष्ण भट्ट में दिखाई देती है। उनके बालविवाह, अनमेल विवाह और भारतीय परिवार में स्त्री–पुरुष के बीच असमानता पर अनेक निबंध है। हिन्दू घरों में अशिक्षा के परिवेश में गृहणियों की करूण स्थिति और इसके बावजूद परिवार के प्रति उनके समर्पण की प्रशंसा की। बालविवाह के विरोध में उन्होंने अनेक तरह से समाज को सचेत किया लेकिन विधवा समस्या पर अपेक्षाकृत कम लिखा है। गुजराती के मणीलाल द्विवेदी की तरह वे भी मानते थे कि बालविवाह पर अंकुश लगने से विधवा समस्या हल हो जाएगी। हिन्दी में भी कन्या विधवा और युवा विधवा के विवाह के लिए धारणाओं में अंतर था, जो तत्कालीन समाज की मानसिकता का परिचायक है। प्रतापनारायण मिश्र भी बालविवाह के विरोधी थे, लेकिन विधवा विवाह के संबंध में उनके विचार परंपरावादियों से निकटता

दर्शाते हैं। राधाचरण गोस्वामी विधवा विवाह के प्रखर समर्थक के रूप में उभरते हैं। उन्होंने विधवा विवाह विवरण पुस्तिका में इस समस्या पर गंभीर चिंतन किया और विधवा समस्या के लिए रूढ़िचुस्त समाज एवं परिवारों, माता–पिता को दोषी माना। अवध में विधवा विवाह अधिनियम उस समय लागू नहीं हुआ था। अवध और आगरा को मिलाकर संयुक्त प्रांत बनने पर 1902 के बाद लागू हुआ।

गुजराती साहित्य में 1857 की अनुगूंज आंशिक है। लेकिन देशाभिमान और स्वत्व की रक्षा के लिए इन साहित्यकारों में व्यग्रता दिखाई देती है। गुजरात का सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश मुगलों के निरंतर आक्रमणों एवं सत्ता हस्तांतरण से प्रभावित रहा, इसी तरह मराठाओं के आधिपत्य में गुजराती प्रजा का अतिरिक्त शोषण हुआ था। अंग्रेजों के शासन में यहाँ परोक्ष रूप से शांति का अनुभव हुआ। अंग्रेज शासकों के प्रति अहोभाव का यह भी एक प्रबल कारण था। नर्मद आदि लेखक वैमनस्य, प्रमाद और आलस के त्याग पर अधिक बल देते प्रतीत होते हैं। अंग्रेज अमलदारों के सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहने के कारण उनमें अतिरिक्त राजभक्ति और चाटुकारिता नहीं दिखाई देती, जो पश्चिमोत्तर प्रांत में थी। जैसा कि पहले उल्लेख किया था कि सरकारी स्कूल की शिक्षा से भी गुजरात के प्रांतों (अंग्रेजों के आधिपत्य, कच्छ, सौराष्ट्र एवं गायकवाड़ राज्य) में विकास परिलक्षित होता है। नर्मद, नवलराम, करसनदास मूलजी, मणीलाल द्विवेदी, महीपतराम नीलकंठ, गोवर्धनराम त्रिपाठी स्त्री शिक्षा के प्रति अतिरिक्त सजग दिखाई देते है। नर्मद शिक्षा रहित स्त्री के समाज को भयानक जंगल की उपमा देते हैं। वहीं शिक्षित स्त्री के संसार को रमणीय उद्यान मानते हैं। नवलराम ने अंग्रेजी शिक्षा को लोकतांत्रिक व्यवस्था और बदलाव को केन्द्रीय तत्व माना। जनसमान्य भाव (Equality of men) और समान अधिकार को भारतीय समाज के लिए उपलब्धि माना, लेकिन साथ ही भारतीय गौरवशाली परंपरा पर अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की।

भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों में स्वत्व की पहचान के लिए व्यग्रता अधिक दिखाई देती है। स्वाधीनता संग्राम की चेतना एवं पिछड़े समाज में शोषण के विरुद्ध उभरते क्षोभ ने इसे विकसित करने में सहायता दी। बालकृष्ण भट्ट में पराधीनता बोध गहरा है। इसलिए अंग्रेजों और अंग्रेज सरकारी नीतियों के प्रति आक्रोश भी तीखा है। प्रतापनारायण मिश्र ने देशप्रीति के काव्य लिखे। भारतेन्दु के नाटकों, काव्यों में देशप्रेम और भारतीय मूल्यों की उदात्तता के चित्र मिलते है। 19 वीं सदी के उतरार्द्ध में हिन्दी प्रदेश में निजभाषा के लिए प्रारंभ आंदोलन जहाँ स्वत्व की पहचान विकसित करने का माध्यम बना, एक ओर

अंग्रेजों की कूटनीति, उर्दू को अतिशय संरक्षण, हिन्दी और नागरी लिपि की उपेक्षा ने समग्र उत्तर भारत को आंदोलित किया। परिणामस्वरूप अंग्रेजों को पहले बिहार प्रांत और फिर संयुक्त प्रांत की अदालतों में हिन्दी और देवनागरी में कार्य करने की अनुमति देनी पड़ी। उत्तरभारत में नामवरसिंह की राष्ट्रवाद, संप्रदायवाद साथ-साथ अवतरित होने की धारणा अतिरेकपूर्ण नहीं है। उन्नीसवीं के उतरार्द्ध के हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी आंदोलन ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि दी थी। हिन्दी राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक बनी। उन्नीसवीं सदी के गुजराती और हिन्दी साहित्य के अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है भारतीय मूल्यों को विवेकपूर्ण स्वीकार करते हुए इन साहित्यकारों ने अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वहन किया। 19 वीं सदी के गर्भ में समस्याओं का समाधान भी है और नई उदभवित हुई समस्याओं के कारण भी दृष्टिगोचर होते हैं।

ये साहित्यकार एक बंधे-बंधाए ढर्रे पर नहीं चले, उनमें भारतीय धर्म साधना एवं मूल्यों के प्रति पूर्ण आस्था थी। इसके साथ अपने समय की आवश्यकताओं को पहचानते हुए संघर्ष कर रहे थे। धर्म और धार्मिकता में अंतर करते हुए वे आचार-विचारों में सदाचार के पथ का वरण करते हैं। किसी भी साहित्यकार ने पाखंड का समर्थन नहीं किया। उनके समय बालविवाह एवं विधवाविवाह निषेध को धार्मिक आवरण और संरक्षण मिला था, लेकिन गुजराती-हिंदी के इन साहित्यकारों ने इस आवरण और संरक्षण का समर्थन न करते हुए, इसके विरोध में शास्त्रगत प्रमाण दिए। उनका समाज और साहित्य के प्रति दायित्व का यह प्रमाण है कि समाज, राज्य, धनिक वर्ग आदि के विरुद्ध विपरीत प्रवाह में तैरते हुए उन्होंने अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह किया। 19वीं सदी के गुजराती-हिंदी साहित्य में धर्म, समाज सुधार, देशहित एवं देशप्रेम में द्वैत नहीं है। यह कहने में किसी तरह का असमंजस नहीं होना चाहिए। यद्यपि इन साहित्यकारों के व्यक्तित्व, व्यवहार, परिवेश और परिस्थितियों में अंतर है, इस कारण उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता मिलती है। नर्मद, नवलराम, मणिलाल द्विवेदी के विचारों में भिन्नता दिखती है, भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र में भी अंतर देखा और खोजा गया है, लेकिन इसे स्वहित और स्वार्थ की परिधि में खींच लाना उनके और उनकी समाजनिष्ठा एवं देशप्रेम के साथ अन्याय होगा। भारतीय चेतना से ऊर्जा लेते हुए 19वीं सदी के ये रचनाकार भारतीय चेतना से ऊर्जित थे और अपने अध्ययन-मनन, लेखन में समाज, राजनीति का विवेक सम्मत विश्लेषण करते हुए रचनात्मक संघर्ष कर रहे थे।

परिशिष्ट

ग्रंथसूची (Bibliography)

- आजादी के दस्तावेज–1, स्वर्ण जयंती, दिल्ली 1997
- आनंद शंकर ध्रुव, साहित्य विचार: यशवंत शुक्ल, (संपा.),अन्य, गुजरात साहित्य अकादमी, गांधीनगर 2001
- आदित्य नारायण सिंह, (अनु.), सुमित सरकार, बंगला में स्वदेशी आंदोलन, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2002
- आदित्य नारायण सिंह (अनु.), पी एन पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, ग्रंथ शिल्पी 2009
- इरफान हबीब (संपा.), मध्यकालीन भारत, खंड 1–3, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1991
- डॉ. ईश्वरी प्रसाद, अर्वाचीन भारत का इतिहास, इंडियन प्रेस इलाहाबाद 1975
- ओमप्रकाश सिंह (संपा.) भारतेन्दु ग्रंथावली भाग 1– 6, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008
- के. दामोदरन भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1979
- कर्मेंदु शिशिर,नवजागरण और संस्कृति, अनन्य प्रकाशन 2022
- कर्मेंदु शिशिर, नवजागरण की निर्मिति, अनन्य प्रकाशन 2022
- कर्मेंदु शिशिर, भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ, नई किताब, दिल्ली 2017
- डॉ. कमला कनोडिया, भारतेंदुकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि,,
- कर्मेंदु शिशिर, नवजागरण के शिल्पी, अनन्य प्रकाशन 2022

- कांता नागोरी, भारत का राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास, आर बी एस ए पब्लिशर्स,जयपुर 2006
- गोवर्धनराम त्रिपाठी, (अनुवाद आलोक गुप्त एवं अन्य) सरस्वतीचंद्र खंड 1-4, साहित्य अकादमी, दिल्ली 2015
- गणेश देवी, स्मृतिभ्रंशना पगले पगले, साहित्य अकादमी, दिल्ली 2006
- चिमनलाल त्रिवेदी (संपा.), दलपत ग्रंथावली भाग 2,3,5, गुजरात साहित्य अकादमी, गांधीनगर
- जयना परम पाठक गुजराती शालापत्रः अभ्यासात्मक पर्यटन, गुरु डिजाइन शॉप विद्यानगर 2012
- जयंत हरि कृष्ण दवे, गुजराती साहित्य का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ 2010
- ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास खंड 2, प्रकाशन विभाग
- दीपक मेहता, 19 वी सदीना गुजराती ग्रंथने ग्रंथकार, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद 2015
- दीपक मेहता (संपा.), 19वी सदीनो अल्पख्यात गुजराती साहित्य, साहित्य अकादमी, दिल्ली 2021
- दीपक मेहता, कालचक्रनी फेरीओ, गुजरात साहित्य अकादमी गांधीनगर 2020
- धीरुभाई ठाकर, अर्वाचीन गुजराती साहित्यनी विकास रेखा-भाग 1, 2, 3, 4, गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद 1994
- धर्मपाल, भारत का स्वधर्म, वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर 1994
- धीरेंद्र मेहता, नंदशंकर थी उमाशंकर, आर आर सेठनी कंपनी, मुंबई 1984
- धीरूभाई ठाकर (संपा.), मणिलाल द्विवेदी संचय, साहित्य अकादमी प्रादेशिक कार्यालय, मुंबई
- डॉ नीरा देसाई, गुजरातमा 19 वीं सदीमा सामाजिक परिवर्तन, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य अमदाबाद
- नवीनचंद्र आचार्य, गुजरातनो संस्कृतिक इतिहास, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद 2021
- नंदशंकर, पिनाकिन दवे, कुमकुम प्रकाशन, अहमदाबाद 1979
- नर्मदाशंकर, नर्मगद्य, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस,मुंबई 1912

- नागेश्वर सिंह, (अनु.) मुगलों की धार्मिक नीतियाँ, राजपूत समुदाय और दक्खिन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2004 अकादमी, गांधीनगर 2012
- पंडित युगीन गुजराती साहित्य, मदन मोहन शर्मा (संपा), स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, वल्लभ विद्यानगर,
- प्रतापनारायण मिश्र, चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा (संपा.), रचलावली खंड 1–4,
- प्रतापनारायण मिश्र, ग्रंथावली, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली 2008
- प्रभाकरेश्वरप्रसाद, उपाध्याय (संपा.), प्रेमघन सर्वस्व भाग 1–2 हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1961
- परमेश आचार्य, अनिल राजिम वाले (अनु.), देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2000
- प्रवीणचंद्र परीख, सेठ भोला भाई के सिंह अध्ययन संशोधन, विद्या भवन अहमदाबाद 1984
- प्रवीनचंद्र परीख, भारतनो सांस्कृतिक इतिहास, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अमदाबाद
- डॉ भारती शेलत, भारतीय संस्कारों–यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य अमदाबाद
- भगवती प्रसाद शर्मा, नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली 1994
- प्रोफेसर मनुभाई, भारतनो इतिहास (मराठा युग)–यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अमदाबाद 2018
- मुशीरुल हसन, भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2008
- मणीलाल न. द्विवेदी, धीरुभाई ठाकर भाग (संपा.) साहित्य श्रेणी, 3–8, गुजरात साहित्य अकादमी,गांधीनगर 2002
- महावीर सिंह (संपा) भारतीय नवजागरण और भारतेंदु तथा नर्मद का साहित्य, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, विद्यानगर 1995
- यदुनाथ सरकार, फॉल ऑफ मुग़ल एंपायर वॉल्यूम 1–3, सरकार एंड सोना, कलकत्ता 1964
- रमेश शुक्ल (संपा.), महीपतराम ग्रंथावली खंड 1, 2 गुजरात साहित्य अकादमी, गांधीनगर

- रमेश म शुक्ल (संपा.), नर्म नाट्यो अने संवादो, कवि नर्मद युगाव्रत ट्रस्ट, सूरत 1999
- रमेश म. शुक्ल (संपा.), नवलराम ग्रंथावली खंड 1–2, चुनीलाल गांधी विद्याभवन, सूरत 2006
- रमेश शुक्ल (संपा.), नवलराम संचय, साहित्य अकादमी प्रादेशिक कार्यालय, मुंबई, 2003
- रमण भाई नीलकंठ, भद्रंभद्र, गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद 1998
- रवि पाठक, नर्मद : अर्वाचीन गद्य पद्यना आद्य प्रणेता, गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद 1965
- राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग–1 राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली,1989
- राधाचरण गोस्वामी, कर्मेंद्र शिशिर (सं.) हिंदी नवजागरण, स्वराज्य प्रकाशन, नई दिल्ली 2013
- राज प्रभात कुमार शुक्ल, रामकिशन गुप्ता, (अनु.) नील की खेती और अंग्रेजी, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली 2017
- रामबाबू शर्मा, 12 वीं सदी से काम राजकाज में हिंदी, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा 2009
- रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1963
- रूपा गुप्ता, हिंदी और बांग्ला नवजागरण, स्वराज्य प्रकाशन, नई दिल्ली 2013
- वीरभारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली 2006
- विश्वनाथ भट्ट, वीर नर्मद, गुजरात साहित्य सभा, अहमदाबाद 1933
- वीर भारत तलवार, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2004
- शैलेंद्रनाथ सेन, अ टेक्स्टबुक ऑफ मीडिएवल इंडिया हिस्ट्री, प्रीमस बुक, देहली 2013
- डॉ. शाहिद अहमद, पेशवाओं का इतिहास, ग्रंथ विकास, जयपुर 2010
- शंभूनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन,कोलकाता 2004
- शंभूनाथ अशोक जोशी (संपा.), भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, आने वाला कल प्रकाशन, कोलकाता 1986

- सुशोभन सरकार, बंगला नवजागरण, अनु. एस एन कानूनगो ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली
- समीर कुमार पाठक (संपा.) बालकृष्ण भट्ट रचनावली भाग 1– 4, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर प्रा. लि., दिल्ली 2015
- हरप्रसाद शास्त्री (संपा.),गुजरातनो राजकीय अन्य सांस्कृतिक इतिहास– ग्रंथ (ब्रिटिशकाल),
- हेमंत शर्मा, (संपा.) भारतेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी 1989
- हृदय कांत दीवान एवं अन्य, (संपा) मैकाले, एलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2017